प्रकाशकीय

राज्य की साहित्यिक प्रतिभाओ को प्रोत्साहित और सम्मानित करने के उद्देश्य से शासन द्वारा वर्ष १९५४ मे म. प्र शासन साहित्य परिषद् की स्थापना की गई थी। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये साहित्यिक विषयो पर लिखित रचनाओ को पुरस्कृत करना, लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानो के व्याख्यानो का आयोजन कर उन्हे पुस्तकाकार प्रकाशित करना तथा अन्य अनुपलब्ध कृतियो को प्रकाशित करना आदि परिषद् के अपने नियमित कार्यकलाप है। साहित्यिक रचनाओ के प्रकाशन कार्यक्रम के अन्तर्गत परिषद् अब तक बाईस महत्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन कर चुकी है, जिसमे, 'भारतीय सस्कृति जैनधर्म मे का योगदान' (स्व० डा० हीरालाल जैन) 'सहज साधना' (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी) 'पाणिनि परिचय' (डा० वासुदेवशरण उपाध्याय), 'कलचुरी नरेश और उसका काल' (डा० वा० वि० मिराशी), 'भारत मे आर्य और अनार्य' (डा० सुनीति-

कुमार चाटुर्ज्या), 'कला के प्राण बुद्ध' (श्री जगदीश चन्द्र) 'नाट्य कला मीमासा' (डा० सेठ गोविन्ददास), 'भारतीय दर्शनो का समन्वय' (डा० आदित्यनाथ झा), 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और तुलसीदास' (डा० भागीरथ मिश्र), 'अनुष्टुप' (प० सूर्यनारायण व्यास की प्रतिनिधि रचनाए), 'श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव की प्रतिनिधि रचनाओ का सकलन'(सपादन, श्री हरिशकर परसाई) 'रीवां राज्य का इतिहास' (श्री राम प्यारे अग्निहोत्री), 'निरजनी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि' (डा० सावित्री शुक्ल), 'म प्र के सगीतज्ञ' (श्री प्यारेलाल श्रीमाल), आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

"भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान" परिषद् के प्रकाशन कार्य-क्रम की ९ वी भेंट थी। इसमे सस्कृत पाली व प्राकृत साहित्य के अधिकारी विद्वान् स्व० डा० हीरालाल जैन के शोधपूर्ण चार भाषण सकलित है, जिनमे जैन धर्म से सम्बन्धित सस्कृति, इतिहास, दर्शन तथा वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्व० डा० हीरालाल जैन के इन व्याख्यानो का आयोजन परिषद् द्वारा मार्च १९६० मे भोपाल मे आयोजित किया गया था। डा० जैन ने ही पुस्तक के रूप मे प्रकाशित करने के उद्देश्य मे अपने मूल भाषण मे आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन किये थे और ग्रन्थ को क्रम-बद्ध कर इसे उपयोगी तथा रोचक बनाया था ताकि पुस्तक सामान्य पाठकों के अतिरिक्त विषय के शोधकर्ता विद्वानो को नयी सामग्री उपलब्ध करा सके।

अब इस ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण प्रस्तुत है। पुस्तक का पहला सस्करण बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था लेकिन इसकी माग निरतर बनी हुई थी। कई कारणो से इसके पुर्नप्रकाशन मे विलम्ब हो रहा था। विगत दिनो राज्य स्तरीय भगवान महावीर की २५०० वी परिनिर्वाण महोत्सव समिति ने इसके पुनर्मुद्रण के लिये परिषद् को अनुदान स्वीकृत किया है। फलस्वरूप परिषद् इसका पुर्न-प्रकाशन इसी पुण्य वर्ष मे कर रही है।

आशा है पहले की तरह पाठको और विद्वानो द्वारा इस पुस्तक का समुचित आदर किया जावेगा।

दिनांक २८-२-७५

सचिव,
म० प्र० शासन साहित्य परिषद्,
भोपाल

आमुख

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के आमन्त्रण को स्वीकार कर मैंने भोपाल मे दिनाक ७, ८, ९ और १० मार्च १९६० को क्रमशः चार व्याख्यान 'भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान' विषय पर दिये। चारो व्याख्यानो के उपविषय थे जैन इतिहास, जैन साहित्य, जैन दर्शन, और जैन कला इन व्याख्यानो की अध्यक्षता क्रमशः मध्यप्रदेश के मुख्यमत्री डा० कैलाशनाथ काटजू, म० प्र० विधान सभा के अध्यक्ष प कुंजीलाल दुबे, म० प्र० के वित्त मन्त्री श्री मिश्रीलाल गगवाल और म०प्र० के शिक्षा मन्त्री डा० शकरदयाल शर्मा द्वारा की गई थी। ये चार व्याख्यान प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रकाशित हो रहे है।

पाठक देखेगे कि उक्त चारो विषयो के व्याख्यान अपने उस रूप मे नही है, जिनमे वे औसतन एक-एक घटे मे मच पर पढे या वोले जा सके हो। विषय की रोचकता और उसके महत्व को देखते हुए उक्त परिषद् के अधिकारियो, और विशेषतः मध्यप्रदेश के शिक्षामत्री डा० शकरदयाल शर्मा, जिन्होने अन्तिम व्याख्यान की अध्यक्षता की थी, का अनुरोध हुआ कि विषय को और अधिक पल्लवित करके ऐसे एक ग्रन्थ के प्रकाशन योग्य बना दिया जाय, जो विद्यार्थियो व जनसाधारण एव विद्वानो को यथोचित मात्रा मे पर्याप्त जानकारी दे सके। तदनुसार यह ग्रन्थ उन व्याख्यानों का विस्तृत रूप है। जैन इतिहास और दर्शन पर अनेक ग्रन्थ व लेख निकल चुके हैं। किन्तु जैन साहित्य और कला पर अभी भी वहुत कुछ कहे जाने का अवकाश है। इसलिये इन दो विषयो का अपेक्षाकृत विशेष विस्तार किया गया है। ग्रन्थ-सूची और शब्द-सूची विशेष अध्येताओ के लिये लाभदायक होगी। आशा है, यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त मे मै मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् का वहुत कृतज्ञ हूँ, जिसकी प्रेरणा से मै यह साहित्य-सेवा करने के लिये उद्यत हुआ।

हीरालाल जैन

विषय सूची

१. जैन धर्म का उद्गम और विकास — पृष्ठ १-४६

२. जैन साहित्य — पृष्ठ ४९-२११

३. जैन दर्शन

४. जैन कला

व्याख्यान—१

जैन धर्म का उद्गम और विकास

जैन धर्म की राष्ट्रीय भूमिका —

इस शासन साहित्य परिषद् की ओर से जब मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रण मिला और तत्संबंधी विषय के चुनाव का भार भी मुझ ही पर डाला गया तब मैं कुछ असमंजस में पड़ा। इसका विशेष कारण था कि अभी कुछ वर्ष पूर्व बिहार राज्य शासन की ओर से एक विद्यापीठ की स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य है प्राकृत जैन तत्वज्ञान तथा अहिंसा विषयक स्नातकोत्तर अध्ययन व अनुसंधान। इस विद्यापीठ के संचालक का पद मुझे प्रदान किया गया है। इस बात पर मुझ से अनेक ओर से प्रश्न किया गया है कि बिहार सरकार ने यह कार्य क्यों और कैसे किया? उनके इस प्रश्न की पृष्ठभूमि यह है कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय नीति सर्वथा धर्म-निरपेक्ष निश्चित हो चुकी है, और तदनुसार संविधान में सब प्रकार के धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातीय आदि पक्षपातों का निषेध किया गया है। अतएव इस पृष्ठभूमि पर उक्त प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का सरल उत्तर मेरी ओर से यही दिया जाता है कि बिहार सरकार ने केवल इस जैन विद्यापीठ की ही स्थापना नहीं की है, किंतु उसके द्वारा संस्कृत व वैदिक संस्कृति के अध्ययन व अनुसंधान के लिये मिथिला विद्यापीठ, एवं पालि व बौद्ध तत्वज्ञान के लिये नव नालंदा महाविहार की भी स्थापना की गई है। इस प्रकार का एक संस्थान पटना में अरबी-फारसी भाषा साहित्य व संस्कृति के लिये भी स्थापित किया गया है। भारत की प्राचीन संस्कृतियों के उच्च अध्ययन, अध्यापन व अनुसंधान हेतु इन चार विद्यापीठों की स्थापना द्वारा शासन ने अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि शासन द्वारा किसी भी धर्म, तत्वज्ञान व तत्संबंधी साहित्य के अध्ययन आदि का निषेध किया जाय

किंतु उसका उद्देश्य मात्र इतना ही है कि किसी धर्म- विशेष के लिये सब सुविधायें देना और दूसरे धर्मों की उपेक्षा करना, ऐसी राष्ट्र-नीति कदापि नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत शासन का कर्तव्य होगा कि वह देश के प्राचीन इतिहास साहित्य, सिद्धान्त व दर्शन आदि सबंधी सभी विषयों के अध्ययन व अनुसंधान के लिये जितनी हो सके उतनी सुविधायें समान दृष्टि से, निष्पक्षता के साथ, उपस्थित करे। इस उदात्त व श्रेयस्कर दृष्टिकोण से कभी किसी को कोई विरोध नहीं हो सकता। मैं समझता हूँ उसी धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इस शासन परिषद् ने मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रित किया है, और उसी दृष्टि से मुझे जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को योगदान विषयक यहां विवेचन करने में कोई संकोच नहीं। ध्यान मुझे केवल यह रखना है कि इस विषय की यहां जो समीक्षा की जाय, उसमें आत्म-प्रशंसा व परनिंदा की भावना न हो, किंतु प्रयत्न यह रहे कि प्रस्तुत संस्कृति की धारा ने भारतीय जीवन व विचार एवं व्यवस्थाओं को कब कैसा पुष्ट और परिष्कृत किया, इसका यथार्थ मूल्यांकन होकर उसकी वास्तविक रूपरेखा उपस्थित हो जाय। मुझे इस विषय में विशेष सतर्क रहने की इसलिये भी आवश्यकता है क्योंकि मैं स्वयं अपने जन्म व संस्कारों से जैन होने के कारण सरलता से उक्त दोष का भागी ठहराया जा सकता हूँ। किन्तु इस विषय में मेरा उक्त उत्तर-दायित्व इस कारण विशेष रूप से हलका हो जाता है, कि जैनधर्म अपनी विचार व जीवन सम्बन्धी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नहीं बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी कहीं अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिये। जैनियों ने अपने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। यदि उनके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (उत्तर विहार) में उत्पन्न हुए थे, तो उनका उपदेश व निर्वाण हुआ मगध (दक्षिण विहार) में। उनसे पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ उत्तरप्रदेश की बनारस नगरी में, तो वे तपस्या करने गये मगध के सम्मेदशिखर पर्वत पर। उनसे भी पूर्व के तीर्थंकर नेमिनाथ ने अपने तपश्चरण, उपदेश व निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठिया-वाड को। सब से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म हुआ अयोध्या में और वे तपस्या करने गये कैलाश पर्वत पर। इस प्रकार जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध, और पश्चिम में काठियावाड तक हो गया इन सीमाओं के भीतर अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के

जन्म, तपश्चरण, निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। चाहे धर्मप्रचार के लिये हो और चाहे आत्मरक्षा के लिये, जैनी कभी देश के बाहर नही भागे। यदि दुर्भिक्ष आदि विपत्तियो के समय वे कही गये तो देश के भीतर ही, जैसे पूर्व से पश्चिम को या उत्तर से दक्षिण को। और इस प्रकार उन्होने दक्षिण भारत को भी अपनी इस श्रद्धाजली से भी वञ्चित नही रखा। वहा तामिल के सुदूरवर्ती प्रदेश मे भी उनके अनेक बडे बडे आचार्य व ग्रन्थकार हुए है, और उनके स्थान उनके प्राचीन मदिरो आदि के ध्वसो से आज भी अलकृत है। कर्नाटक प्रात मे श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानो पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्तियाँ आज भी इस देश की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही है। तात्पर्य यह कि समस्त भारत देश, आज की राजनैतिक दृष्टिमात्र से ही नही, किंतु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियो के लिये एक इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना है। जैनी इस बात का भी कोई दावा नही करते कि ऐतिहासिक काल के भीतर उनका कोई साधुओ या गृहस्थो का समुदाय बडे पैमाने पर कही देश के बाहर गया हो और वहा उसने कोई ऐसे मदिर आदि अपनी धार्मिक सस्थाये स्थापित की हो, जिनकी भक्ति के कारण उन के देशप्रेम मे लेशमात्र भी शिथिलता या विभाजन उत्पन्न हो सके। इस प्रकार प्रान्तीयता की सकुचित भावना एव देशबाह्य अनुचित अनुराग के दोषो से निष्कलक रहते हुए जैनियो की देशभक्ति सदैव विशुद्ध, अचल और स्थिर कही जा सकती है।

देशभक्ति केवल भूमिगत ही हो सो बात नही है। जैनियो ने लोक-भावनाओ के सबध मे भी अपनी वही उदार नीति रखी है। भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा मे सस्कृत भाषा का बडा आदर रहा है, और उसे ही 'दैवी वाक्' मानकर सदैव उसी मे साहित्य-रचना की है। इस मान्यता का यह परिणाम तो अच्छा हुआ कि उसके द्वारा प्राचीनतम साहित्य वेदो आदि की भले प्रकार रक्षा हो गई तथा भाषा भी उत्तरोत्तर खूब मजती गई। किन्तु इससे एक बडी हानि यह हुई कि उस परम्परा के कोई दो तीन हजार वर्षों मे उत्पन्न विशाल साहित्य के भीतर तात्कालिक भिन्न प्रदेशीय लोक-भाषाओ का कोई प्रतिनिधित्व नही हो पाया। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय की एक लोक-भाषा मागधी को बनाया और अपने शिष्यो को यह आदेश भी दिया कि धर्म उपदेश के लिये लोकभाषाओ का ही उपयोग किया जाय। किन्तु बौद्ध परम्परा के साहित्यक उस आदेश का पूर्णतया पालन न कर सके। उन्हे एक पालि भाषा से ही मोह हो गया और वह इतना कि लका, स्याम,

किंतु उसका उद्देश्य मात्र इतना ही है कि किसी धर्म- विषशे के लिये सब सुविधाये देना और दूसरे धर्मों की उपेक्षा करना, ऐसी राष्ट्र-नीति कदापि नही होना चाहिये । इसके विपरीत शासन का कर्तव्य होगा कि वह देश के प्राचीन इतिहास साहित्य, सिद्धान्त व दर्शन आदि सबधी सभी विषयों के अध्ययन व अनुसधान के लिये जितनी हो सके उतनी सुविधायें समान दृष्टि से, निष्पक्षता के साथ, उपस्थित करे । इस उदात्त व श्रेयस्कर दृष्टिकोण से कभी किसी को कोई विरोध नही हो सकता । मैं समझता हूँ इसी धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इस शासन परिषद् ने मुझे इन व्याख्यानो के लिये आमत्रित किया है, और उसी दृष्टि मे मुझे जैनधर्म का भारतीय सस्कृति को योगदान विषयक यहाँ विवेचन करने मे कोई सकोच नही । ध्यान मुझे केवल यह रखना है कि इस विषय की यहाँ जो समीक्षा की जाय, उसमे आत्म-प्रशसा व परनिंदा की भावना न हो, किंतु प्रयत्न यह रहे कि प्रस्तुत सस्कृति की धारा ने भारतीय जीवन व विचार एव व्यवस्थाओ को कब कैसा पुष्ट और परिष्कृत किया, इसका यथार्थ मूल्याकन होकर उसकी वास्तविक रूपरेखा उपस्थित हो जाय । मुझे इस विषय मे विशेष सतर्क रहने की इसलिये भी आवश्यकता है क्योंकि मैं स्वय अपने जन्म व सस्कारो से जैन होने के कारण सरलता से उक्त दोष का भागी ठहराया जा सकता हूँ । किन्तु इस विषय मे मेरा उक्त उत्तर-दायित्व इस कारण विशेष रूप से हलका हो जाता है, कि जैनधर्म अपनी विचार व जीवन सम्बन्धी व्यवस्थाओ के विकास मे कभी किसी सकुचित दृष्टि का शिकार नही बना । उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है । उसका यदि कभी कही अन्य धर्मो से विरोध व सघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिये । जैनियो ने अपने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नही बनने दिया । यदि उनके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (उत्तर विहार) मे उत्पन्न हुए थे, तो उनका उपदेश व निर्वाण हुआ मगध (दक्षिण विहार) मे । उनसे पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ उत्तरप्रदेश की बनारस नगरी मे, तो वे तपस्या करने गये मगध के सम्मेदशिखर पर्वत पर । उनसे भी पूर्व के तीर्थंकर नेमिनाथ ने अपने तपश्चरण, उपदेश व निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठिया-वाड को । सब से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म हुआ अयोध्या मे और वे तपस्या करने गये कैलाश पर्वत पर । इस प्रकार जैनियो की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर मे हिमालय, पूर्व मे मगध, और पश्चिम मे काठियावाड तक हो गया इन सीमाओ के भीतर अनेक मुनियो व आचार्यो आदि महापुरुषो के

जन्म, तपश्चरण, निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। चाहे धर्मप्रचार के लिये हो और चाहे आत्मरक्षा के लिये, जैनी कभी देश के बाहर नही भागे। यदि दुर्भिक्ष आदि विपत्तियो के समय वे कही गये तो देश के भीतर ही, जैसे पूर्व से पश्चिम को या उत्तर से दक्षिण को। और इस प्रकार उन्होने दक्षिण भारत को भी अपनी इस श्रद्धाजली से भी वचित नही रखा। वहा तामिल के सुदूरवर्ती प्रदेश मे भी उनके अनेक बडे बडे आचार्य व ग्रन्थकार हुए है, और उनके स्थान उनके प्राचीन मदिरो आदि के ध्वसो से आज भी अलकृत हैं। कर्नाटक प्रात मे श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानो पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्तियाँ आज भी इस देश की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही है। तात्पर्य यह कि समस्त भारत देश, आज की राजनैतिक दृष्टिमात्र से ही नही, किंतु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियो के लिये एक इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना है। जैनी इस बात का भी कोई दावा नही करते कि ऐतिहासिक काल के भीतर उनका कोई साधुओ या गृहस्थो का समुदाय बडे पैमाने पर कही देश के बाहर गया हो और वहा उसने कोई ऐसे मदिर आदि अपनी धार्मिक सस्थाये स्थापित की हो, जिनकी भक्ति के कारण उन के देशप्रेम मे लेशमात्र भी शिथिलता या विभाजन उत्पन्न हो सके। इस प्रकार प्रान्तीयता की सकुचित भावना एव देशबाह्य अनुचित अनुराग के दोषो से निष्कलक रहते हुए जैनियो की देशभक्ति सदैव विशुद्ध, अचल और स्थिर कही जा सकती है।

देशभक्ति केवल भूमिगत ही हो सो बात नही है। जैनियो ने लोक-भावनाओ के सबध मे भी अपनी वही उदार नीति रखी है। भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा मे सस्कृत भाषा का बडा आदर रहा है, और उसे ही 'दैवी वाक्' मानकर सदैव उसी मे साहित्य-रचना की है। इस मान्यता का यह परिणाम तो अच्छा हुआ कि उसके द्वारा प्राचीनतम साहित्य वेदो आदि की भले प्रकार रक्षा हो गई तथा भाषा भी उत्तरोत्तर खूब मजती गई। किन्तु इसमे एक बडी हानि यह हुई कि उस परम्परा के कोई दो तीन हजार वर्षो मे उत्पन्न विशाल साहित्य के भीतर तात्कालिक भिन्न प्रदेशीय लोक-भाषाओ का कोई प्रतिनिधित्व नही हो पाया। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय की एक लोक-भाषा मागधी को बनाया और अपने शिष्यो को यह आदेश भी दिया कि धर्म उपदेश के लिये लोकभाषाओ का ही उपयोग किया जाय। किन्तु बौद्ध परम्परा के साहित्यक उस आदेश का पूर्णतया पालन न कर सके। उन्हे एक पालि भाषा से ही मोह हो गया और वह इतना कि लका, स्याम,

बर्मा आदि दूर देशो मे जाकर भी उनके साहित्य का माध्यम वही पालि भाषा बनी रही, और वहा की लोक भाषायें जीती मरती हुई उस साहित्य मे कोई स्थान प्राप्त न कर सकी। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुबोध वाणी अर्द्धमागधी का उपयोग किया, तथा उनके गणधरो ने उसी भाषा मे उनके उपदेशो का सकलन किया। उस भाषा और उस साहित्य की ओर जैनियो का सदैव आदर भाव रहा है, तथापि उनकी वह भावना कभी भी लोक भाषाओ के साथ न्याय करने मे बाधक नही हुई। जैनाचार्य जब जब धर्म प्रचारार्थ जहा जहा गये, तब तब उन्होंने उन्ही प्रदेशो मे प्रचलित लोक-भाषाओ को अपनी साहित्य रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य मे ही भिन्न भिन्न प्रदेशो की भिन्न भिन्न कालीन शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रश आदि प्राकृत भाषाओं का पूरा पूरा प्रतिनिधित्व पाया जाता है। हिंदी, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य जैनियो का ही मिलता है। यही नही, किंतु दक्षिण की सुदूरवर्ती तामिल व कन्नड भाषाओ को प्राचीनकाल मे साहित्य मे उतारने का श्रेय सभवत जैनियो को ही दिया जा सकता है। इस प्रकार जैनियो ने कभी भी किसी एक प्रातीय भाषा का पक्षपात नही किया, किंतु सदैव देश भर की भाषाओ को समान आदरभाव से अपनाया है, और इस बात के लिये उनका विशाल साहित्य साक्षी है।

धार्मिक लोक मान्यताओ की भी जैनधर्म मे उपेक्षा नही की गई, किंतु उनका सम्मान करते हुए उन्हे विधिवत् अपनी परम्परा मे यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्य भाव रहा है व उन्हे अवतार-पुरुष माना गया है। जैनियो ने तीर्थंकरो के साथ साथ इन्हे भी त्रेसठ शलाका पुरुषो मे आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणो मे विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। जो लोग जैनपुराणो को हलकी और उथली दृष्टि से देखते हैं, वे इस बात पर हसते हैं कि इन पुराणो मे महापुरुषो को जैनमतावलम्बी, माना गया है, व कथाओ मे व्यर्थ हेर फेर किये गये हैं। उनकी दृष्टि इस बात पर नही जाती कि कितनी आत्मीयता से जैनियो ने उन्हे अपने भी पूज्य बना लिया है, और इस प्रकार अपने तथा अन्यधर्मी देश भाइयो की भावना की रक्षा की है। इतना ही नही, किंतु रावण व जरासघ जैसे जिन अनार्य राजाओ को वैदिक परपरा के पुराणो मे कुछ घृणित भाव से चित्रित किया गया है, उनको भी जैन पुराणो मे उच्चता और सम्मान का स्थान देकर अनार्य जातियो की भावनाओ को भी ठेस नही पहुँचने दी। इन नारायण केशत्रुओ को भी उन्होने प्रतिनारायण का उच्चपद प्रदान

किया है। रावण को दशमुखी राक्षस न मान कर उसे विद्याधर वंशी माना है, जिसके स्वाभाविक एक मुख के अतिरिक्त गले के हार के नौ मणियों मे मुख का प्रतिबिम्ब पडने से लोग उसे दशानन भी कहते थे। अग्निपरीक्षा हो जाने पर भी जिस सीता के सतीत्व के संबंध मे लोग निःशंक नही हो सके, उस प्रसंग को जैन रामायण मे बडी चतुराई से निबाहा गया है। सीता किसीप्रकार भी रावण से प्रेम करने के लिये राजी नही है इस कारण रावण के दुःख को दूर करने के लिये उसे यह सलाह दी जाती है कि वह सीता के साथ बलात्कार करे। किंतु रावण इसके लिये कदापि तैयार नही होता। वह कहता है कि मैने व्रत लिया है कि किसी स्त्री को राजी किये बिना मैं कभी उसे अपने भोग का साधन नही बनाऊगा। इस प्रकार जैन पुराणो मे रावण को राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाया गया है, और साथ ही सीता के अक्षुण्ण सतीत्व का ऐसा प्रमाण उपस्थित कर दिया गया है, जो शका से परे और अकाट्य हो। इन पुराणो मे हनुमान, सुग्रीव आदि को बंदर नही, किंतु विद्याधर वंशी राजा माना गया है, जिनका ध्वज चिह्न वानर था। इस प्रकार जैनपुराणो मे जो कथाओ का वैशिष्ट्य पाया जाता है, वह निरर्थक अथवा धार्मिक पक्षपात की संकुचित भावना से प्रेरित नही है। उसका एक महान् प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा लोक मे औचित्य की हानि न हो, और साथ ही आर्य अनार्य किसी भी वर्ग की जनता को उससे किसी प्रकार की ठेस न पहुंचकर उनकी भावनाओ की भले प्रकार रक्षा हो।

देश मे कभी यक्षो और नागो की भी पूजा होती थी, और इसके लिये उनकी मूर्तिया व मन्दिर भी बनाये जाते थे। प्राचीन ग्रन्थो मे इस बात के प्रमाण हैं। इनके उपासको को इतिहासवेत्ता मूलत अनार्य मानते है। जैनियो ने उनकी हिंसात्मक पूजा विधियो का तो निषेध किया, किन्तु प्रमुख यक्ष नागादि देवी देवताओ को अपने तीर्थंकरो के रक्षक रूप से स्वीकार कर, उन्हे अपने देवालयो मे भी स्थान दिया है। राक्षस, भूत, पिशाच आदि चाहे मनुष्य रहे हो, अथवा और किसी प्रकार के प्राणी किन्तु देश के किन्ही वर्गो मे इनकी कुछ न कुछ मान्यता थी, जिसका आदर करते हुए जैनियो ने इन्हे एक जाति के देव स्वीकार किया है।

उदार नीति का सैद्धान्तिक आधार–

जैनियो की उक्त संग्राहक प्रवृत्तियो पर से सम्भवत यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म अवसरवादी रहा है, जिसके कारण उनमे अनेक विरोधी बातो का समावेश कर लिया गया है। किन्तु गम्भीर विचार करने से यह अनुमान

निर्मूल सिद्ध हो जायगा, क्योकि उक्त सभी बाते किसी व्यावहारिक सुविधा मात्र के विचार से नही लाई गई हैं, किन्तु वे जैनधर्म के आधारभूत दार्शनिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से स्वभावतः ही उत्पन्न हुई हैं। इस बात को स्पष्टत समझने के लिये जैनदर्शन पर यहा एक विहगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

वेदान्त दर्शन मे केवल एक चिदात्मक तत्व ही स्वीकार किया गया है, जिसे ब्रह्म कहा है और शेष दृश्यमान जगत के पदार्थो को असत् व मायाजाल रूप से वतलाया गया है। एक अन्य दर्शन मे केवल भौतिक तत्वो की ही सत्ता स्वीकार की गई है, और उन्ही से मेल-जोल से चैतन्य गुण की उत्पत्ती मानी गई है। इस मत को चार्वाक् दर्शन कहा गया है। जैनदर्शन जीव और अजीव रूप से दोनो तत्वो को स्वीकार करता है। उसमे मौलिक तत्व एक नही, किन्तु छह द्रव्यो को माना है। द्रव्य वह है जिसमे सत्ता गुण हो, और सत्ता स्वय त्रिगुणात्मक है। इसके ये तीन गुण है— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। तात्पर्य यह है कि न तो वेदान्त मे द्रव्यो की पूरी सत्ता का निरूपण पाया जाता है, और न चार्वाक दर्शन मे। द्रव्यो मे वेदान्त-सम्मत कूटस्थ नित्यता भी सिद्ध नही होती, और न बौद्ध सिद्धान्त की क्षण-ध्वसता मात्र। ससार मे चैतन्य-गुण-युक्त आत्म-तत्व भी है, और चैतन्यहीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा, अमूर्तिक काल, आकाश आदि तत्व भी। ये सभी द्रव्य गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमे ध्रुवता है, तथा पर्यायात्मकता के कारण उनमे उत्पत्ति - विनाशरूप अवस्थाए भी विद्यमान हैं। जैनधर्म के इस दार्शनिक तत्वज्ञान मे ही उसकी व्यापक दृष्टि पाई जाती है, और इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु-विचार के लिये उसने अपना स्याद्वाद व अनेकान्त रूप न्याय स्थापित किया है। इस न्याय को समझने के लिए हम अपने सामने रखी हुई इस टेबिल को ही ले लेते हैं। इसे हम चैतन्यहीन पाते हैं, इसीलिए इसे मात्र जड तत्व ही कह सकते है। जड तत्वो मे यह अमूर्त नही, किन्तु मूर्तिमान है, इसीलिए इसे पुद्गल कह सकते है। पुद्गलो के नाना भेदो मे से यह केवल काष्ठ की बनी है, इसीलिये इसे काठ कह सकते है, और काठ के बने आलमारी, कुर्सी बेंच, दरवाजे आदि नाना रूपो मे से इसके अपने विशेष रूप के कारण हम इसे टेबिल कहते हैं। इस टेबिल मे ऊचाई, लम्बाई, चौडाई तथा रग आदि की दृष्टि से अनेक ही नही, अनन्त गुण है। आपेक्षिक दृष्टि से देखने पर यही टेबिल हमे कभी छोटी और कभी बडी, कभी ऊची और कभी नीची दिखाई देने लगती है। इस प्रकार जब कोई इसे उक्त द्रव्यात्मक, गुणात्मक या पर्यायात्मक नाम से कहता है, तब उसमे वास्तविकता की दृष्टि से हमे एकाश सत्य की झलक

मिलती है, और उससे हमारा तात्कालिक कार्य भी चल जाता है। किन्तु यदि हम उसी आशिक तथ्य को परिपूर्ण सत्य मान लें, तो यह हमारी भूल होगी। नाना कालो मे, नाना देशो मे, नाना मनुष्यो मे वस्तुओ को नाना प्रकार से देखा, समझा व वर्णन किया जाता है। अतएव हमे उन सब कथनो व वर्णनो का ठीक-ठीक दृष्टिकोण समझकर, उन्हे अपने ज्ञान मे यथास्थान समाविष्ट करना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं कर पाते, तो पद पद पर हमे विरोध दिखाई देता है। किन्तु यदि हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो को समझकर उनको सामजस्य रूप से स्थापित कर सकें, तो हमे उस विशाल सत्य के दर्शन होने लगते हैं जो इस जगत् की वास्तविकता है इसी उद्देश्य से जैन आचार्यो ने देश और काल, तथा द्रव्य और भाव के अनुमार भी वस्तु-वैचित्य का विचार करने पर जोर दिया है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने समस्त एकान्तरूप मिथ्या दृष्टियो के समन्वय से सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति मानी है।

जैनधर्म मे जो अहिंसा पर जोर दिया गया है, वह भी उक्त तत्व-चिन्तन का ही परिणाम है। ससार मे एक नही, अनेक, अनन्त प्राणी हैं, और उनमे से प्रत्येक मे जीवात्मा विद्यमान है। ये आत्माए अपने अपने कर्मबन्ध के बल से जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियो, नाना प्रकार के शरीरो तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओ मे दिखाई देती हैं। किन्तु उन सभी मे ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्मा समान हैं। अतएव उनमे परस्पर सम्मान सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिये। यही जैनधर्म की जनतत्रात्मकता है। यदि आज की जनतत्रात्मक विचारधारा से उसे पृथग् निर्दिष्ट करना चाहे, तो उसे प्राणि-तन्त्रात्मक कहना उचित होगा, क्योकि जनतत्रात्मक जो दृष्टिकोण मनुष्य समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैनधर्म प्राणिमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है। इस वस्तु-विचार से यह स्वभावत ही फलित होता है कि समस्त प्राणियो मे परस्पर अपनी व पराई दोनो की रक्षा की भावना होनी चाहिये। जब सभी को एक उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचना है, और वे एक ही पथ के पथिक है, तब उनमे परस्पर साहाय्य की भावना होनी ही चाहिये। इस विवेक का मनुष्य पर सबसे अधिक भार है, क्योकि मनुष्य मे अन्य सब प्राणियो की अपेक्षा अधिक बुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है। यदि एक के पास मोटरकार है, और दूसरा पैदल चल रहा है, तो होना तो यह चाहिये कि मोटरवाला पैदल चलने वाले को भी अपनी गाडी मे बिठा ले। किन्तु यदि किसी कारणवश यह सम्भव न हो, तो यह तो कदापि होना ही न चाहिये कि मोटरवाला अपने उन्माद मे उस पैदल चलने वाले को

लोगो को हिंस्र पशुओ से अपनी रक्षा करने के उपाय बताये। भूमि व वृक्षो के वैयाक्तिक स्वामित्व की सीमाए निर्धारित की। हाथी आदि वन्य पशुओं का पालन कर, उन्हे वाहन के उपयोग मे लाना सिखाया। बाल-बच्चो के लालन-पालन व उनके नामकरण आदि का उपदेश दिया। शीत तुषार आदि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियो को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाडो पर सीढियाँ बनाकर चढना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना आदि सिखाया और अन्त मे कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने की कला सिखाई, जिसके पश्चात् वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाए व उद्योग धन्धे उत्पन्न हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी)।

चौदह कुलकरो के पश्चात् जिन महापुरुषो ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग मे धर्मोपदेश व अपने चारित्र द्वारा अच्छे बुरे का भेद सिखाया, ऐसे त्रेसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गये हैं, और उन्ही का चरित्र जैन पुराणो मे विशेष रूप से वर्णित पाया जाता है। इन त्रेसठ शलाका पुरुषो मे चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रति-नारायण सम्मिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

२४ तीर्थंकर — १–ऋषभ, २–अजित, ३–सभव, ४–अभिनदन, ५–सुमति, ६–पद्मप्रभ, ७–सुपार्श्व, ८–चन्द्रप्रभ, ९–पुष्पदत, १०–शीतल, ११–श्रेयास, १२–वासुपूज्य, १३–विमल, १४–अनन्त, १५–धर्म, १६–शान्ति, १७–कुन्थु, १८–अरह १९–मल्लि, २०–मुनिसुव्रत, २१–नमि, २२–नेमि, २३–पार्श्वनाथ, २४–वर्धमान अथवा महावीर।

१२ चक्रवर्ती — २५–भरत, २६–सगर, २७–मघवा, २८–सनत्कुमार, २९–शान्ति, ३०–कुन्थु, ३१–अरह, ३२–सुभौम, ३३–पद्म, ३४–हरिषेण ३५–जयसेन, ३६–ब्रह्मदत्त।

९ बलभद्र — ३७–अचल, ३८–विजय, ३९–भद्र, ४०–सुप्रभ, ४१–सुदर्शन, ४२–आनन्द, ४३–नन्दन, ४४–पद्म, ४५–राम।

९ वासुदेव—४६–त्रिपृष्ठ, ४७–द्विपृष्ठ, ४८–स्वयम्भू, ४९–पुरुषोत्तम, ५०–पुरुषसिंह, ५१–पुरुषपुण्डरीक, ५२–दत्त, ५३–नारायण, ५४–कृष्ण।

९ प्रति–वासुदेव — ५५–अश्वग्रीव, ५६–तारक, ५७–मेरक, ५८–मधु, ५९–निशुम्भ, ६०–बलि, ६१–प्रहलाद, ६२–रावण, ६३–जरासध।

आदि तीर्थंकर और वातरशना मुनि—

इन त्रेसठ शलाका पुरुषो मे सबसे प्रथम जैनियो के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ है, जिनसे जैनधर्म का प्रारम्भ माना जाता है। उनका जन्म उक्त चौदह कुलकरो मे से अन्तिम कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे राजसिंहासन पर बैठे और उन्होने कृषि, असि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह आजीविका के साधनो की विशेष रूप से व्यवस्था की, तथा देश व नगरो एव वर्ण व जातियो आदि का सुविभाजन किया। इनके दो पुत्र भरत और बाहुबलि, तथा दो पुत्रिया ब्राह्मी और सुन्दरी थो, जिन्हे उन्होने समस्त कलाए व विद्याए सिखलाई। एक दिन राज्य सभा मे नीलाजना नाम की नर्तकी की नृत्य करते करते ही मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से ऋषभदेव को ससार से वैराग्य हो गया, और वे राज्य का परित्याग कर तपस्या करने वन को चले गये। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत राजा हुए, और उन्होने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया उनके लघु भ्राता बाहुबलि भी विरक्त होकर तपस्या मे प्रवृत्त हो गये।

जैन पुराणो मे ऋषभदेव के जीवन व तपस्या का तथा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जैनी इसी काल से अपने धर्म की उत्पत्ती मानते है। ऋषभदेव के काल का अनुमान लगाना कठिन है। उनके काल की दूरी का वर्णन जैन पुराण सागरो के प्रमाण से करते है। सौभाग्य से ऋषभ-देव का जीवन चरित्र जैन साहित्य मे ही नही, किन्तु वैदिक साहित्य मे भी पाया जाता है। भागवत पुराण के पाचवे स्कध के प्रथम छह अध्यायो मे ऋषभदेव के वश, जीवन व तपश्चरण का वृतान्त वर्णित है, जो सभी मुख्य मुख्य बातो मे जैन पुराणो से मिलता है। उनके माता पिता के नाम नाभि और मरुदेवी पाये जाते हैं, तथा उन्हे स्वयभू मनु से पाचवी पीढी मे इस क्रम से हुए कहा गया है—स्वयभू मनु, प्रियव्रत, अग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर सन्यास ग्रहण किया। वे नग्न रहने लगे और केवल शरीर मात्र ही उनके पास था। लोगो द्वारा तिरस्कार किये जाने, गाली-गलौच किये जाने व मारे जाने पर भी वे मौन ही रहते थे। अपने कठोर तपश्चरण द्वारा उन्होने कैवल्य की प्राप्ति की, तथा दक्षिण कर्नाटक तक नाना प्रदेशो मे परिभ्रमण किया। वे कुटकाचल पर्वत के वन मे उन्मत्त की नाई नग्नरूप मे विचरने लगे। वासो की रगड से वन मे आग लग गई और उसी मे उन्होने अपने को भस्म कर डाला।

भागवत पुराण मे यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कोक, वैंक व कुटक का राजा अर्हन् कलयुग मे अपनी इच्छा से उसी धर्म का सप्रवर्तन करेगा, इत्यादि । इस वर्णन से इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि भागवत पुराण का तात्पर्य जैन पुराणो के ऋषभ तीर्थंकर से ही है, और अर्हन् राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैनधर्म से । अत यह आवश्यक हो जाता है कि भागवत पुराण तथा वैदिक परम्परा के अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे ऋषभदेव के सबध की बातो की कुछ गहराई से जाँच पडताल की जाय ।

भागवतपुराण मे कहा गया है कि—

"बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि प्रसादितो नाभ प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणानाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार ।" (भा पु ५, ३,२०)

("यज्ञ मे परम ऋषियो द्वारा प्रसन्न किये जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वय श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास मे महारानी मेरुदेवी के गर्भ मे आए । उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मो को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया ।")

भागवत पुराण के इस कथन मे दो बाते विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योकि उनका भगवान् ऋषभदेव के भारतीय सस्कृति मे स्थान तथा उनकी प्राचीनता और साहित्यिक परपरा से बडा घनिष्ठ और महत्वपूर्ण सबध है । एक तो यह की ऋषभ देव की मान्यता और पूज्यता के सबध मे जैन और हिन्दूओ के बीच कोई मतभेद नही है । जैसे वे जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओ के लिये साक्षात् भगवान विष्णु के अवतार है । उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल मे इतनी बद्धमूल हो गयी थी कि शिवमहापुराण मे भी उन्हे शिव के अट्ठाइस योगावतारो मे गिनाया गया है (शिवमहापुराण, ७,२,९)। दूसरी बात यह है कि प्राचीनता मे यह अवतार राम और कृष्ण के अवतारो से भी पूर्व का माना गया है । इस अवतार का जो हेतु भागवत पुराण मे बतलाया गया है उससे श्रमण धर्म की परम्परा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से नि सन्देह रूप से जुड जाती है । ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रकट करना बतलाया गया है । भागवत पुराण मे यह भी कहा गया है कि—

'अयमवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थ' (भा पु. ५, ६, १२)

(अर्थात भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगो को कैवल्य

की शिक्षा देने के लिए हुआ। किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण (मल धारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था'। जैन मुनियो के आचार मे अस्नान, अदन्तधावन, मल परीषह आदि द्वारा रजोधारण सयम का आवश्यक अग माना गया है। बुद्ध के समय मे भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे। बुद्ध भगवान ने श्रमणो की आचार-प्रणाली मे व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था—

"नाह भिक्खवे सघाटिकस्य सघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञ वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्य रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि।" (मज्झिमनिकाय ४०)

अर्थात्- हे भिक्षुओ मैं सघाटिक के सघाटी धारणमात्र से श्रामण्य नही कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व मात्र से और जटिलक के जटाधारण-मात्र से भी श्रामण्य नही कहता।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरशना मुनियो के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखलाने के लिये भगवान् ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य मे उल्लिखित पाये जाते है। इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदो को देखते है, तो हमे वहाँ भी वातरशना मुनियो का उल्लेख अनेक स्थलो मे दिखाई देता है।

ऋग्वेद की वातरशना मुनियो के सबध की ऋचाओ मे उन मुनियो की साधनायें ध्यान देने योग्य हैं। एक सूक्त की कुछ ऋचाये देखिये—

मुनयो वातरशना: पिशगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयेन वातॉं आतस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माक यूय मर्तासो अभि पश्यथ ॥

(ऋग्वेद १०,१३६,२-३)

विद्वानो के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदो का निस्सदेह रूप से अर्थ बैठाना सभव नही हो सका है। तथापि सायण भाष्य की सहायता से मैं उक्त ऋचाओ का अर्थ इसप्रकार करता हू-अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरुप को प्राप्त हो जाते है। सर्व लौकिक

व्यवहार को छोडकर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उत्कृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते है, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यतर स्वरूप को नही (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं))।

ऋग्वेद मे उक्त ऋचाओ के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है—

केश्यग्नि केशी विष केशी बिर्भात रोदसी ।
केशी विश्व स्वर्दृशे केशीद ज्योतिरूच्यते ॥

(ऋग्वेद १०,१३६,१)

केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वो का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान-) ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियो के वर्णन आदि मे की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियो के वर्णन के प्रधान थे।

ऋग्वेद के इन केशी व वातरशना मुनियो की साधनाओ का भागवत पुराण मे उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओ की तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के 'वातरशना श्रमण ऋषि' एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं, इसमे तो किसी को किसी प्रकार के सन्देह होने का अवकाश नही दिखाई देता। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियो को धारण करनेवाले' किया है, और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व सगति वातरशना मुनियो के साथ नही बैठती, जिनकी साधनाओ का उस सूक्त मे वर्णन है। केशी स्पष्टत वातरशना मुनियो के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना मे मलधारणा, मौन वृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त मे आगे उन्हे ही 'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हित' (ऋ १०, १३६, ४) अर्थात् देव देवो के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशना शब्द मे और मल रूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी सकेत हैं। इसकी भागवत पुराण मे ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिये।

"उर्वरित-शरीर-मात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन-परिधान. प्रकीर्णकेश: आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज। जडान्ध-मूक-बधिर पिशाचोन्मादकवद् अवधूतवेषो अभिभाष्यमाणोऽपि जनाना गृहितमौनव्रत तूष्णीं बभूव। .. परागवलम्बमानकुटिल-जटिल-कपिश-केशभूरि-भार अवधूत-मलिन-निजशरीरेण गृहगृहीत इवादृश्यत। (भा पु ५, ६, २८-३१)

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशो सहित आहवनीय अग्नि को अपने मे धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड, अन्ध, मूक, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष मे लोगो के बुलाने पर भी मौन वृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे। ' सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशो के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानो उन्हे भूत लगा हो।

यथार्थत यदि ऋग्वेद के उक्त केशी सबधी सूक्त को, तथा भागवत-पुराण मे वर्णित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढा जाय, तो पुराण वेद के सूक्त का विस्तृत भाष्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशना या गगनपरिधान वृत्ति केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, और उन्माद-भाव समान रूप से दोनो मे वर्णित है। ऋषभ भगवान के कुटिल केशो की परम्परा जैन मूर्तिकला मे प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थत समस्त तीर्थंकरो मे केवल ऋषभ की ही मूर्तियो के सिर पर कुटिल केशो का रूप दिखलाया जाता है, और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस सबध मे मुझे केशरिया नाथ का स्मरण आता है, जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटा केसरयो'। सिंह भी अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है। इसप्रकार केशी और केसरी एक ही केशरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते है। केशरियानाथ पर जो केशर चढाने की विशेष मान्यता प्रचलित है, वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं। जैन पुराणो मे भी ऋषभ की जटाओ का सदैव उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण (३,२८८) मे वर्णन है, 'वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तय' और हरिवशपुराण (९,२०४) मे उन्हे कहा है—'स प्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णु'। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवत पुराण के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एव केसरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् हठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड गई जिसमे वृषभ और केशी का साथ साथ उल्लेख आया है। वह ऋचा इसप्रकार है—

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी

ऋषि-मुनि कहने से दोनो सम्प्रदायो का ग्रहण समझना चाहिये पीछे परस्पर इन सम्प्रदायो का खूब आदान-प्रदान हुआ और दोनो शब्दो को प्राय एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाने लगा।

वैदिक साहित्य के यति और व्रात्य–

ऋग्वेद मे मुनियो के अतिरिक्त' यतियो का भी उल्लेख बहुतायत से आया है। ये यति भी ब्राह्मण परम्परा के न होकर श्रमण - परम्परा के ही साधु सिद्ध होते हैं, जिनके लिये यह सज्ञा समस्त जैन साहित्य मे उपयुक्त होते हुए आजतक भी प्रचलित है। यद्यपि आदि मे ऋषियो, मुनियो और यतियो के बीच ढारमेल पाया जाता है, और वे समान रूप से पूज्य माने जाते थे। किन्तु कुछ ही पश्चात् यतियो के प्रति वैदिक परम्परा मे महान् रोष उत्पन्न होने के प्रमाण हमे ब्राह्मण गथो मे मिलते है, जहाँ इन्द्र द्वारा यतियो को शालावृको (शृगालो व कुत्तो) द्वारा नुचवाये जाने का उल्लेख मिलता है (तैतरीय सहिता २, ४, ६, २, ६, २, ७, ५, ताण्डय ब्राह्मण १४, २, २८,१८, १, ६) किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवो ने उचित नही समझा और उन्होने इसके लिये इन्द्र का बहिष्कार भी किया (ऐतरेय ब्राह्मण ७, २८,)। ताण्डय ब्राह्मण के टीका कारो ने यतियो का अर्थ किया है 'वेदविरुद्धनियमोपेत, कर्मविरोधिजन, ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमान' आदि, इन विशेषणो से उनकी श्रमण-परम्परा स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। भगवत्गीता मे ऋषियो मुनियो और यतियो का स्वरूप भी बतलाया है, और उन्हे समान रूप से योग प्रवृत माना है। यहाँ मुनि को इन्द्रिय और मन का सयम करने वाला इच्छा, भय व क्रोध रहित मोक्षपरायण व सदा मुक्त के समान माना है (भ० गी० ५, १८) और यति को काम-क्रोध-रहित, सयत-चित्त व वीतराग कहा है (भ० गी० ५, २६, ८, ११ आदि) अथर्ववेद के १५ वे अध्याय मे व्रात्यो का वर्णन आया है। सामवेद के ताण्डय ब्राह्मण व लाट्यायन, कात्यायन व आपस्तबीय श्रौतसूत्रो मे व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हे शुद्ध कर वैदिक परम्परा मे सम्मिलित करने का भी वर्णन है। ये व्रात्य वैदिक विधि से 'अदीक्षित व सस्कारहीन' थे, वे अदुरुक्त वाक्य को दुरुक्त रीति से, (वैदिक व सस्कृत नहीं, किन्तु अपने समय की प्राकृत भाषा) बोलते थे,' वे 'ज्याहृद' (प्रत्यचा रहित धनुष) धारण करते थे। मनुस्मृति (१० अध्याय) मे लिच्छवि, नाथ, मल आदि क्षत्रिय जातियो को व्रात्यो मे गिनाया है। इन सब उल्लेखो पर सूक्ष्मता से विचार करने से इसमे सन्देह नही रहता कि ये व्रात्य भी श्रमण परम्परा के साधु व गृहस्थ थे, जो वेद-विरोधी होने से वैदिक अनुयायियो के

कोप-भाजन हुए हैं)। जैन धर्म के मुख्य पाच अहिंसादि नियमो को व्रत कहा है। उन्हे ग्रहण करने वाले श्रावक देश विरत या अणुव्रती और मुनी महाव्रती कहलाते हैं। जो विधिवत् व्रत ग्रहण नही करते, तथापि धर्म मे श्रद्धा रखते है, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहे जाते है। इसी प्रकार के व्रतधारी व्रात्य कहे गये प्रतीत होते हैं, क्योकि वे हिंसात्मक यज्ञ विधियो के नियम से त्यागी होते हैं। इसीलिये उपनिषदो मे कही कही उनकी बडी-प्रशसा भी पाई जाती है, जैसे प्रश्नोपनिषद् मे कहा गया है— व्रात्यस्त्व प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पति' (२, ११)। शाकर भाष्य मे व्रात्य का अर्थ 'स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्राय' किया गया है। इस प्रकार श्रमण साधनाओ की परम्परा हमे नाना प्रकार के स्पष्ट व अस्पष्ट उल्लेखो द्वारा ऋग्वेद आदि समस्त वैदिक साहित्य मे दृष्टिगोचर होती है।

तीर्थंकर नमि—

वेदकालीन आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के पश्चात् जैन पुराण परम्परा मे जो अन्य तेईस तीर्थंकरो के नाम या जीवन-वृत्त मिलते है उनमे बहुतो के तुलनात्मक अध्ययन के साधनो का अभाव है। तथापि अन्तिम चार तीर्थंकरो की ऐतिहासिक सत्ता के थोडे बहुत प्रमाण यहा उल्लेखनीय हैं। इक्कीसवे तीर्थंकर नमिनाथ थे। (नमि मिथिला के राजा थे, और उन्हे हिन्दू पुराण मे भी जनक के पूर्वज माना गया है)। नमि की प्रव्रज्या का एक सुन्दर वर्णन हमे उत्तराध्ययन सूत्र के नौवे अध्याय मे मिलता है, और यहा उन्ही के द्वारा वे वाक्य कहे गये हैं, जो वैदिक व बौद्ध परपरा के सस्कृत व पालि साहित्य मे गूंजते हुए पाये जाते हैं, तथा जो भारतीय अध्यात्म सबधी निष्काम कर्म व अनासक्ति भावना के प्रकाशन के लिये सर्वोत्कृष्ट वचन रूप से जहा तहा उद्धृत किये जाते हैं। वे वचन हैं—

सुह वसामो जीवामो जेसि मो णत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए ण मे डज्झई किंचण॥

(उत्त ९-१४)

सुसुख वत जीवाम येस नो नत्थि किंचन।
मिथिलाये दहमानय न मे किंचि अदय्हथ॥

(पालि—महाजनक जातक)

मिथिलाया प्रदीप्ताया न मे किञ्चन दह्यते॥

(म भा शान्तिपर्व)

नमि की यही अनासक्त वृत्ति मिथिला राजवंश में जनक तक पाई जाती है। प्रतीत होता है कि जनक के कुल की इसी आध्यात्मिक परम्परा के कारण वह वंश तथा उनका समस्त प्रदेश ही विदेह (देह से निर्मोह, जीवन्मुक्त) कहलाया और उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचा-हीन रूप में उनके क्षत्रियत्व का प्रतीकमात्र सुरक्षित रहा। सम्भवत यही वह जीर्ण धनुष था, जिसे राम ने चढाया और तोड डाला। इस प्रसंग में जो व्रात्यों के 'ज्याहृद' शस्त्र के संबंध में ऊपर कह आये है, वह बात भी ध्यान देने योग्य है।

तीर्थंकर नेमिनाथ—

तत्पश्चात् महाभारत काल मे बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ हुए। इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—शौरीपुर के यादव वंशी राजा अंधकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र हुए समुद्र विजय, जिनसे नेमिनाथ उत्पन्न हुए। तथा सबसे छोटे पुत्र थे वसुदेव, जिनसे उत्पन्न हुए वासुदेव कृष्ण। इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे। जरासंध के आतंक से त्रस्त होकर यादव शौरीपुर को छोडकर द्वारका मे जा बसे। नेमिनाथ का विवाह-संबंध गिरिनगर (जूनागढ) के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से निश्चित हुआ। किन्तु जब नेमिनाथ की बारात कन्या के घर पहुंची और वहा उन्होने उन पशुओ को घिरे देखा, जो अतिथियो के भोजन के लिए मारे जाने वाले थे, तब उनका हृदय करुणा से व्याकुल हो उठा और वे इस हिंसामयी गार्हस्थ प्रवृत्ति मे विरक्त होकर, विवाह का विचार छोड, गिरनार पर्वत पर जा चढे और तपस्या मे प्रवृत्त हो गये। उन्होने केवल-ज्ञान प्राप्त कर उसी श्रमण परम्परा को पुष्ट किया। नेमिनाथ की इस परम्परा की विशेष देन प्रतीत होती है—'अहिंसा को धार्मिक वृत्ति का मूल मानकर उसे सैद्धातिक रूप देना।' महाभारत का काल ई पूर्व १००० के लगभग माना जाता है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यही काल नेमिनाथ तीर्थंकर का मानना उचित प्रतीत होता है। यहा प्रसंगवश यह भी ध्यान देने योग्य है कि महाभारत के शांतिपर्व मे जो भगवान् तीर्थवित् और उनके द्वारा दिये गये उपदेश का वृत्तान्त मिलता है, वह जैन तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म के समरूप है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ—

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस के राजा अश्वसेन और उनकी रानी वर्मला (वामा) देवी से हुआ था। उन्होने तीस वर्ष की अवस्था मे गृह त्याग कर सम्मेदशिखर पर्वत पर तपस्या की। यह पर्वत आजतक भी पारस-

नाथ पर्वत नाम से सुविख्यात है। उन्होने केवलज्ञान प्राप्त कर सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश और प्रचार किया। (जैन पुराणानुसार उनका निर्वाण भगवान महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व और तदनुसार ई० पूर्व ५२७ + २५० = ७७७ वर्ष मे हुआ था)। पार्श्वनाथ का श्रमण-परम्परा पर बडा गहरा प्रभाव पडा जिसके परिणाम स्वरूप आज तक भी जैन समाज प्राय पारसनाथ के अनुनाइयो की मानी जाती है। ऋषभनाथ की सर्वस्व-त्याग रूप आकिञ्चन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होने अपने चातुर्याम रूप सामयिक धर्म मे व्यवस्थित किया। (चातुर्याम का उल्लेख निर्ग्रन्थो के सम्बन्ध मे पालि ग्रन्थो मे भी मिलता है और जैन आगमो मे भी। किन्तु इनमे चार याम क्या थे, इसके सवध मे मतभेद पाया जाता है। जैन आगमानुसार पार्श्वनाथ के चार याम इस प्रकार थे- (१) सर्वप्राणातिक्रम से विरमण, (२) सर्व मृपावाद से विरमण, (३) सर्व अदत्तादान से विरमण, (४) सर्व वहिस्थादान से विरमण। पार्श्वनाथ का चातुर्यामरूप सामायिक धर्म महावीर से पूर्व ही सुप्रचलित था, यह दिग०, श्वे० परम्परा के अतिरिक्त वौद्ध पालि साहित्य- गत उल्लेखो से भलीभाति सिद्ध हो जाता है। मूलाचार (७,३६-३८) मे स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर से पूर्व के तीर्थंकरो ने सामायिक सयम का उपदेश दिया था, तथा केवल अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना आवश्यक वतलाया था। किन्तु महावीर ने सामायिक धर्म के स्थान पर छेदोपस्थापना सयम निर्धारित किया और प्रतिक्रमण नियम से करने का उपदेश दिया (मू० १२६-१३३)। ठीक यही वात भगवती (२०, ८, ६७५, २५, ७, ७८५), उत्तराध्ययन आदि आगमो मे तथा तत्वार्थ सूत्र (६, १८) की सिद्धसेनीय की टीका मे पाई जाती है। वौद्ध ग्रथ अगु० निकाय चतुक्कनिपात (वग्ग ५) और उसकी अटठकथा मे उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा 'वप्प शाक्य' निर्ग्रन्थ श्रावक था। पार्श्वापत्यो तथा निर्ग्रन्थ श्रावको के इसी प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भलीभाति सिद्ध हो जाती है।)

एक समय था जव पार्श्वनाथ तथा उनसे पूर्व के जैन तीर्थंकरो व जैनधर्म की उस काल मे सत्ता को पाश्चात्य विद्वान स्वीकार नही करते थे। (किन्तु जव जर्मन विद्वान् हर्मन याकोवी ने जैन व बौद्ध प्राचीन साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर से पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया, तब से विद्वान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं, और उनके महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्ति की जैन परम्परा को भी मान देने लगे है। वौद्ध ग्रन्थों मे जो निर्ग्रन्थो के चातुर्याम का उल्लेख मिलता है

और उसे निर्ग्रन्थ नातपुत्र (महावीर) का धर्म कहा है, उसका सम्बन्ध अवश्य ही पार्श्वनाथ की परम्परा से होना चाहिये, क्योकि जैन सम्प्रदाय मे उनके साथ ही चातुर्याम का उल्लेख पाया है, महावीर के साथ कदापि नही। महावीर, पाच व्रतो के सस्थापक कहे गये हैं। बौद्ध धर्म मे जो कुछ व्यवस्थाए निर्ग्रन्थो से लेकर स्वीकार की गई हैं, जैसे उपोसथ, (महावग्ग २, १, १), वर्षावास (म० ३, १, १) वे भी पार्श्वनाथ की ही परम्परा की होनी चाहिये, तथा बुद्ध को जिन श्रमण साधुओ का समकालीन पालि ग्रन्थो मे बतलाया गया है, वे भी पार्श्वनाथ परम्परा के ही माने जा सकते हैं।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर—

(अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के माता-पिता तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सम्प्रदाय के अनुयायी थे-ऐसा जैन आगम (आचाराग ३, भाव-चूलिका ३, सूत्र ४०१) मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह भी कहा गया है कि उन्होने प्रवृजित होने पर सामायिक धर्म ग्रहण किया था और पश्चात् केवल ज्ञानी होने पर छेदोपस्थापना सयम का विधान किया (आचराग २, १५, १० १३))। उनके पिता सिद्धार्थ कुडपुर के राजा थे, और उनकी माता त्रिशला देवी लिच्छवि वशी राजा चेटक की पुत्री, अथवा एक अन्य परम्परानुसार बहन, थी। उनका पैतृक गोत्र नाय, नाघ, नात (सस्कृत ज्ञात्) था। इसी से वे बौद्ध पालि ग्रन्थो मे नातपुत्त के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। भगवान् का जन्म स्थान कुडपुर कहा था, इसके सबध मे पश्चात्कालीन जैन परम्परा मे भ्राति उत्पन्न हुई पाई जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय ने उनका जन्म स्थान नालदा के समीप कुन्डलपुर को माना है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने मु गेर जिले के लछु-आड के समीप क्षत्रियकुड को उनकी जन्मभूमि होने का सम्मान दिया है। किन्तु जैन आगमो व पुराणो मे उनकी जन्मभूमि के सम्बन्ध मे जो बातें कही गई हे, वे उक्त दोनो स्थानो मे घटित होती नही पाई जाती। (दोनो परम्पराओ के अनुसार भगवान की जन्मभूमि कुडपुर विदेह देश मे स्थित माना गया है, (ह पु २. ४ उ पु ७४, २५१) और इसी से महावीर भगवान को विदेह-पुत्र, विदेह सुकुमार आदि उपनाम दिये गये है और यह भी स्पष्ट कहा गया है कि उनके कुमारकाल के तीस वर्ष विदेह मे ही व्यतीत हुए थे। विदेह की सीमा प्राचीनतम काल से प्राय निश्चित रही पाई जाती है। अर्थात् उत्तर मे हिमालय, दक्षिण मे गगा, पूर्व मे कोशिकी और पश्चिम मे गडकी। किंतु उपर्युक्त वर्तमान मे जन्मभूमि माने जाने वाले दोनो ही स्थान कुडलपुर व. क्षत्रिय

कुड, गगा के उत्तर मे नही, किन्तु दक्षिण मे पडते है, और वे विदेह मे नही किन्तु मगधदेश की सीमा के भीतर आते है। महावीर की जन्मभूमि के समीप गडकी नदी प्रवाहित होने का भी उल्लेख है। गडकी, उत्तर बिहार की ही नदी है, जो हिमालय से निकल कर गगा मे सोनपुर के समीप मिली है। उसकी गगा से दक्षिण मे होने की सभावना ही नही। महावीर को आगमो मे अनेक स्थलो पर बेसालिय (वैशालीय) की उपाधि सहित उल्लिखित किया गया है, (सू कृ १, २, उत्तरा ६) जिसमे स्पष्ट होता कि वे वैशाली के नागरिक थे। जिसप्रकार कि कौशल देश के होने के कारण भगवान ऋषभदेव को अनेक स्थलो पर कोसलीय (कौशलीय) कहा गया है। इन्ही कारणो से डा० हार्नले, जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानो को उपर्युक्त परम्परा-मनाय दोनो स्थानो मे से किसी को भी महावीर की यथार्थ जन्मभूमि स्वीकार करने मे सदेह हुआ है, और वे वैशाली को ही भगवान् की सच्ची जन्मभूमि मानने की और झुके है। पुरातत्व की शोधो से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन वैशाली आधुनिक तिरहुत मडल के मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ नामक ग्राम के आसपास ही बसी हुई थी, जहा राजा विशाल का गढ कहलानेवाला स्थल अब भी विद्यमान है। इस स्थान के आसपास के क्षेत्र मे वे सब बातें उचितरूप से घटित हो जाती है, जिनका उल्लेख महावीर जन्मभूमि से सवद्ध पाया जाता है। यहा से समीप ही अब भी गडक नदी बहती है, और वह प्राचीन काल मे बसाढ के अधिक समीप बहती रही हो, यह भी सभव प्रतीत होता है। भगवान् ने प्रव्रजित होने के पश्चात् जो प्रथमरात्रि कर्मार ग्राम मे व्यतीत की थी, वह ग्राम अब कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् ने प्रथम पारणा कोल्लाग सनिवेश मे की थी, वही स्थान आज का कोल्हुआ ग्राम हो तो आश्चर्य नही। जिस वाणिज्य ग्राम मे भगवान ने अपना प्रथम व आगे भी अनेक वर्षावास व्यतीत किये थे, वही अब बनिया ग्राम कहलाता है)। इतिहास इस बात को स्वीकार कर चुका है कि लिच्छिविगण के अधिनायक, राजा चेटक, इसी वैशाली मे अपनी राजधानी रखते थे। भगवान् का पैत्रिकगोत्र काश्यप और उनकी माता का गोत्र वशिष्ठ था। ये दोनो गोत्र यहा बसनेवाली जथरिया नामक जाति मे अब भी पाये जाते है। इस पर से कुछ विद्वानो का यह भी अनुमान है कि यही जाति ज्ञातृ-वश की आधुनिक प्रतिनिधि हो तो आश्चर्य नही। प्राचीन वैशाली के समीप ही एक वासुकुड नामक ग्राम है, जहा के निवासी परपरा से एक स्थल को भगवान् की जन्मभूमि मानते आए है, और उसी पूज्य भाव से उस पर कभी हल नही चलाया गया। समीप ही एक विशालकुन्ड है जो अब भर गया है और जोता-बोया जाता है। वैशाली की खुदाई मे एक ऐसी प्राचीन मुद्रा भी मिली

है, जिसमे 'वैशाली नाम कुडे' ऐसा उल्लेख है। इन सब प्रमाणो के आधार पर बहुसख्यक विद्वानो ने इसी वासु-कुन्ड को प्राचीन कुन्डपुर व महावीर की सच्ची जन्मभूमि स्वीकार कर लिया है, व इसी आधार पर वहा के उक्त क्षेत्र को अपने अधिकार मे लेकर, बिहार राज्य ने वहाँ महावीर स्मारक स्थापित कर दिया है, और वहाँ एक अर्द्धमागधी पद्यो मे रचित शिलालेख मे यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि यही वह स्थल है, जहा भगवान महावीर का जन्म हुआ था। इसी स्थल के समीप बिहार राज्य ने प्राकृत जैन विद्यापीठ को स्थापित करने का भी निश्चय किया है)।

महावीर के जीवन सबधी कुछ घटनाओ के विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्वर परम्पराओ मे थोडा मतभेद है। दिगम्बर परम्परानुसार वे तीस वर्ष की अवस्था तक कुमार व अविवाहित रहे और फिर प्रव्रजित हुए। किन्तु श्वेताम्वर परम्परानुसार उनका विवाह भी हुआ था और उनके एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी, तथा इनका जामाता जामाली भी कुछ काल तक उनका शिष्य रहा था। प्रव्रजित होते समय दिगम्बर परम्परानुसार उन्होने समस्त वस्त्रो का परित्याग कर अचेल दिगम्बर रूप धारण किया था किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उन्होने प्रव्रजित होने से डेढ वर्ष तक वस्त्रसर्वथा नही छोडा था। डेढ वर्ष के पश्चात् ही वे अचेलक हुए। बारह वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात् उन्हे ऋजुकुला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फिर तीस वर्ष तक नाना प्रदेशो मे विहार करते हुए, व उपदेश देते हुए, उन्होने अपने तीर्थ की स्थापना की, यह दोनो सम्प्रदायो को मान्य है। किंतु (उनका प्रथम उपदेश दिगम्बर मान्यतानुसार राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ था तथा श्वेताम्बर मान्यतानुसार पावा के समीप एक स्थल पर, जहा हाल ही मे एक विशालमदिर बनवाया गया है। दोनो परम्पराओ के अनुसार भगवान् का निर्वाण बहत्तर वर्ष की आयु मे पावापुरी मे हुआ। यह स्थान पटना जिले मे बिहारशरीफ के समीप लगभग सात मील की दूरी पर माना जाता है, जहाँ सरोवर के बीच एक भव्य मदिर बना हुआ है)।

महावीर की सघ-व्यवस्था और उपदेश—

महावीर भगवान् ने अपने अनुयायियो को चार भागो मे विभाजित किया—मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका। प्रथम दो वर्ग गृहत्यागी परिव्राजको के थे और अतिम दो गृहस्थो के। यही उनका चतुर्विध-सघ कहलाया। उन्होने मुनि और गृहस्थ धर्म की अलग अलग व्यवस्थाए बाधी। उन्होने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बनाया और उसी के विस्तार रूप पाच व्रतो को स्थापित किया-अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन और अपरिग्रह। इन व्रतो या यमो का

पालन मुनियो के लिये पूर्णरूप से महाव्रतरूप बतलाया तथा गृहस्थो के लिए स्थूलरूप-अणुव्रत रूप । गृहस्थो के भी उन्होने श्रद्धान् मात्र से लेकर, कोपीनमात्र धारी होने तक के ग्यारह दर्जे नियत किये । दोषो और अपराधो के निवारणार्थ उन्होने नियमित प्रतिक्रमण पर जोर दिया ।

भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्वज्ञान को सक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है —जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड, ये दो विश्व के मूल तत्व हैं, जो आदित परस्पर सबद्ध पाये जाते है, और चेतन की मन-वचन व कायात्मक क्रियाओ द्वारा इस जड-चेतन सबन्ध की परम्परा प्रचलित रहती है । इसे ही कर्माश्रव व कर्मबध कहते हैं । यमों, नियमो के पालन द्वारा इस कर्माश्रव की परम्परा को रोका जा सकता है, एव सयम व तप द्वारा प्राचीन कर्मबध को नष्ट किया जा सकता है । इस प्रकार चेतन का जड से सर्वथा मुक्त होकर, अपना अनन्तज्ञान-दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये, जिससे इस जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके।

महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय उनके प्रचार क्षेत्र मे सुप्रचलित लोकभाषा अर्द्धमागधी को बनाया । इसी भाषा मे उनके शिष्यो ने उनके उपदेशो को आचारागादि बारह अगो मे सकलित किया जो द्वादशाग आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

महावीर निर्वाण काल

जैन परम्परानुसार महावीर का निर्वाण विक्रम काल से ४७० वर्ष पूर्व तथा शक काल से ६०५ वर्ष पाच मास पूर्व हुआ था, जो सन् ईसवी से ५२७ वर्ष पूर्व पडता है । यह महावीर निर्वाण सवत् आज भी प्रचलित है और उसके ग्रन्थो व शिलालेखो मे उपयोग की परम्परा, कोई पाचवी छठवी शताब्दी से लगातार पाई जाती है । इसमे सन्देह उत्पन्न करने वाला केवल एक हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व का उल्लेख है जिसके अनुसार महावीर निर्वाण मे १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त (मौर्य) राजा हुआ । और चू कि चन्द्रगुप्त से विक्रमादित्य का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अत महावीर निर्वाण का समय विक्रम से २२५ + १५५ = ४१० वर्ष पूर्व (ई० पू० ४६७) ठहरा । याकोबी, चार्पेंटियर आदि पाश्चात्य विद्वानो का यही मत है । इसके विपरीत डा० जायसवाल का मत है कि चू कि निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम का जन्म हुआ और १८ वर्ष के होने पर उनके राज्याभिषेक से उनका सवत् चला, अतएव विक्रम सवत् के ४७० + १८ = ४८८ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण काल मानना चाहिये । वस्तुत

ये दोनो ही मत प्राप्त हैं। अधिकांश जैन उल्लेखो से सिद्ध होता है कि विक्रम जन्म से १८ वर्ष पश्चात् अभिषिक्त हुए और ६० वर्ष तक राज्यारूढ रहे, एव उनका सवत् उनकी मृत्यु से प्रारम्भ हुआ और उसी से ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण का काल है।

वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् जो शक स० का प्रारम्भ कहा गया है, उसका कारण यह है कि महावीर का निर्वाण कार्तिक की अमावस्या को हुआ और इसीलिये प्रचलित वीर निर्वाण का सवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से बदलता है। इससे ठीक ५ माह पश्चात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शक सवत् प्रारम्भ होता है। शक सवत् ७०५ मे रचित जिनसेन कृत स० हरिवश पुराण मे वर्णन है कि महावीर के निर्वाण होने पर उनकी निर्वाण भूमि पावानगरी मे दीपमालिका उत्सव मनाया गया और उसी समय से भारत मे उक्त तिथि पर प्रतिवर्ष इस उत्सव के मनाने की प्रथा चली। इस दिन जैन लोग निर्वाणोत्सव दीपमालिका द्वारा मनाते हैं और महावीर की पूजा का विशेष आयोजन करते हैं। जहाँ तक पता चलता है दीपमालिका उत्सव जो भारतवर्ष का सर्वव्यापी महोत्सव बन गया है, उसका इससे प्राचीन अन्य कोई साहित्यिक उल्लेख नही है।

गौतम-केशी-संवाद—

(महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन सघ के नायकत्व का भार क्रमश उनके तीन शिष्यो -गौतम, सुधर्म और जबू ने सभाला। इनका काल क्रमश १२, १२ व ३८ वर्ष = ६२ वर्ष पाया जाता है। यहा तक आचार्य परपरा मे कोई भेद नही पाया जाता इससे भी इन तीनो गणधरो की केवली सज्ञा सार्थक सिद्ध होती है। किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य परपराएँ, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायो मे पृथक् पृथक् पाई जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय भेद के बीज यही से प्रारम्भ हो गये। इस सम्प्रदाय-भेद के कारणो की एक झलक हमे उत्तराध्ययन सूत्र के 'केसी-गोयम सवाद' नामक २३ वे अध्ययन मे मिलती है। इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया, उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था। हम ऊपर कह आए हैं कि स्वय भगवान महावीर के माता-पिता उसी पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायी माने गये है, और उसी से स्वय भगवान् महावीर भी प्रभावित हुए थे। उत्तराध्ययन के उक्त प्रकरण के अनुसार, जब महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम थे, उस समय पार्श्व सम्प्रदाय के नायक थे केशीकुमार श्रमण। इन दोनो गण-

धरों की भेंट श्रावस्तीपुर मे हुई और उन दोनों मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि सम्प्रदाय एक होते हुए भी क्या कारण है कि पार्श्व-सम्प्रदाय चाउज्जाम धर्म तथा वर्द्धमान का सम्प्रदाय 'पचसिक्खिय' कहा गया है। उसीप्रकार पार्श्व का धर्म 'सतरोत्तर' तथा वर्द्धमान का 'अचेलक' धर्म है इसप्रकार एक-कार्य-प्रवृत्त होने पर भी दोनो मे विशेषता का कारण क्या है ? केशी कुमार के इस सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर, गौतम गणधर ने बतलाया कि पूर्वकाल मे मनुष्य सरल किन्तु जड (ऋजु जड) होते थे और पश्चिमकाल मे वक्र और जड, किन्तु मध्यकाल के लोग सरल और समझदार (ऋजु प्राज्ञ) थे। अतएव पुरातन लोगो के लिए धर्म की शोध कठिन थी और पश्चात्कालीन लोगो को उसका अनुपालन कठिन था। किन्तु मध्यकाल के लोगो के लिए धर्म शोधने और पालने मे सरल प्रतीत हुआ इसीकारण एक ओर आदि व अन्तिम तीर्थंकरो ने पचव्रत रूप तथा मध्य के तीर्थंकरो ने उसे चातुर्याम रूप से स्थापित किया। उसीप्रकार उन्होंने बतलाया कि अचेलक या सस्तर युक्त वेष तो केवल लोगो मे पहचान आदि के लिए नियत किये जाते हैं, किन्तु यथार्थत मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं। गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप का परिणाम यह बतलाया गया है कि केशी ने महावीर का पचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके बीच वेष के सम्बन्ध मे क्या निर्णय हुआ, यह स्पष्ट नही बतलाया गया। अनुमानत इस सम्बन्ध मे अचेलकत्व और अल्पवस्त्रत्व का कल्प अर्थात् इच्छानुसार ग्रहण की बात स्वीकार कर ली गई, जिसके अनुसार हमें स्थविर कल्प और जिनकल्प के उल्लेख मिलते हैं। स्थविर कल्प पार्श्व-परम्परा का अल्प वस्त्र-धारण रूप मान लिया गया और जिनकल्प सर्वथा अचेलक रूप महावीर की परम्परा का। किन्तु स्वभावत एक सम्प्रदाय मे ऐसा द्विविध कल्प बहुत समय तक चल सकना सभव नही था। बहुत काल तक इस प्रश्न का उठना नही रुक सकता था कि यदि वस्त्र धारण करके भी महाव्रती बना जा सकता है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है, तब अचेलकता की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? इसी सघर्ष के फलस्वरूप महावीर निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् जबू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही सघभेद हुआ प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा मे महावीर निर्वाण के पश्चात् पूर्वोक्त तीन केवली, विष्णु आदि पाच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पाच एकादश अगधारी, तथा सुभद्र आदि लोहार्य पर्यन्त चार एकागधारी आचार्यों की वशावली मिलती है। इन समस्त अट्ठाइस आचार्यों का काल ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गणभेद—

(जैन सघ सम्बन्धी श्वेताम्बर परपरा का प्राचीनतम उल्लेख कल्पसूत्र अन्तर्गत स्थविरावली मे पाया जाता है। इसके अनुसार श्रमण भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहो गणधारो द्वारा पढाए गये श्रमणो की सख्या का भी उल्लेख है। ये ग्यारहो गणधर१२ अग और १४ पूर्व इस समस्त गणिपिटक के धारक थे, जिसके अनुसार उनके कुल श्रमण शिष्यो की सख्या ४२०० पाई जाती है। इन ग्यारहो गणधरो मे से नौ का निर्वाण महावीर के जीवन काल मे ही हो गया था केवल दो अर्थात् इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्म ही महावीर के पश्चात् जीवित रहे। यह भी कहा गया है कि 'आज जो भी श्रमण निर्ग्रन्थ विहार करते हुए पाए जाते हैं, वे सब आर्य सुधर्म मुनि के ही अपत्य हैं। शेष गणधरो की कोई सन्तान नही चली।' आगे स्थविरावली मे आर्य सुधर्म से लगाकर आर्य शाण्डिल्य तक तेतीस आचार्यो की गुरु-शिष्य परम्परा दी गई है। छठे आचार्य आर्य यशोभद्र के दो शिष्य सभूतिविजय भद्रबाहु द्वारा दो भिन्न-भिन्न शिष्य परम्पराए चल पडी। आर्य सम्भूत विजय की शाखा मे नौवे स्थविर आर्य वज्रसेन के चार शिष्यो द्वारा चार भिन्नभिन्न शाखाएँ स्थापित हुई, जिनके नाम उनके स्थापको के नामानुसार नाइल, पोमिल, जयन्त और तावस पडे। उसी प्रकार आर्य भद्रबाहु के चार शिष्यो द्वारा ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षिका, पौन्ड्रवर्द्धनिका और दासीखवडिका, ये चार शाखाएँ स्थापित हुई। उसीप्रकार सातवें स्थविर आर्य स्थूलभद्र के रोहगुप्त नामक शिष्य द्वारा 'तेरासिय' शाखा एव उत्तरबलिस्सह द्वारा उत्तर बलिस्सह नामक गण निकले, जिसकी पुन कौशाम्बिक, सौवर्तिका, कोडबाणी और चन्द्रनागरी, ये चार शाखाए फूटी। स्थूलभद्र के दूसरे शिष्य आर्य सुहस्ति के शिष्य रोहण द्वारा उद्देह गण की स्थापना हुई, जिससे पुन उदु बरिज्जिका आदि चार-उपशाखाए और नागभूत आदि छह कुल निकले। आर्य सुहस्ति के श्रीगुप्त नामक शिष्य द्वारा चारण गण और उसकी हार्यमालाकारी आदि चार शाखाए एव वर्यलीय आदि सात कुल उत्पन्न हुए। आर्य सुहस्ति के यशोभद्र नामक शिष्य द्वारा उडुवाडिय गण की स्थापना हुई, जिसकी पुन चपिज्जिया आदि चार शाखाए और भद्रयशीय आदि तीन कुल उत्पन्न हुए। उसी प्रकार आर्य सुहस्ति के कामर्द्धि नामक शिष्य द्वारा वेसवाडिया गण उत्पन्न हुआ, जिसकी श्रावस्तिका आदि चार शाखाए और गणिक आदि चार कुल स्थापित हुए। उन्ही के अन्य शिष्य ऋषिगुप्त द्वारा माणव गण स्थापित हुआ, जिसकी कासवार्यिका गौतमार्यिका, वसिष्ठिका और सौराष्ट्रिका, ये चार शाखाए तथा ऋषिगुप्ति आदि चार कुल स्थापित हुए।

शाखाओ के नामो पर ध्यान देने से अनुमान होता है कि कही-कही स्थान भेद के अतिरिक्त गोत्र-भेदानुसार भी शाखाओ के भेद प्रभेद हुए। स्थविर सुस्थित द्वारा कोटिकगण की स्थापना हुई, जिससे उच्चानागरी विद्याधरी, वज्री एवम् माध्यमिका ये चार शाखाए तथा ब्रम्हलीय, वत्सालीय वाणिज्य और पण्हवाहणक, ये चार कुल उत्पन्न हुए। इस प्रकार आर्य सुहस्ति के शिष्यो द्वारा बहुत अधिक शाखाओ और कुलो के भेद प्रभेद उत्पन्न हुए। आर्य सुस्थित के अर्हद्दत्त द्वारा मध्यमा शाखा स्थापित हुई और विद्याधर गोपाल द्वारा विद्याधरी शाखा। आर्यदत्त के शिष्य शातिसेन ने एक अन्य उच्चानागरी शाखा की स्थापना की। आर्यदत्त शातिसेन के श्रेणिक तापस कुवेर और ऋषिपालिका ये चार शिष्य हुए, जिनके द्वारा क्रमश आर्य सेनिका, तापसी कुवेर और ऋषिपालिका ये चार शाखाए निकली। आर्य-सिहगिरि के शिष्य आर्य-शमित द्वारा ब्रह्मदीपिका तथा आर्य वज्र द्वारा आर्य वज्री शाखा स्थापित हुई। आर्य-वज्र के शिष्य वज्रसेन, पद्म और रथ द्वारा क्रमश आर्य-नाइली पद्मा और जयन्ती नामक शाखाए निकली। (इन विविध शाखाओ व कुलो की स्थान व गोत्र आदि भेदो के अतिरिक्त अपनी अपनी क्या विशेषता थी, इसका पूर्णत पता लगाना सभव नही है)। इनमे से किसी किसी शाखा व कुल के नाम मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त मूर्तियो आदि पर के लेखो मे पाए गये है, जिनसे उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है।

प्राचीन ऐतिहासिक कालगणना—

कल्पसूत्र स्थविरावली मे उक्त आचार्य परम्परा के सबध मे काल का निर्देश नही पाया जाता। किन्तु धर्मघोषसूरि कृत दुषमकाल-श्रमणसघ-स्तव नामक प्राकृत पट्टावली की अवचूरि मे कुछ महत्वपूर्ण कालसबधी निर्देश पाये जाते है। यहा कहा गया है कि जिस रात्रि भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्री का उज्जैनी मे चडप्रद्योत नरेश की मृत्यु व पालक राजा का अभिषेक हुआ। इस पालक राजा ने उदायी के नि सतान मरने पर कुणिक के राज्य पर पाटलिपुत्र मे अधिकार कर लिया और ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी काल मे गौतम ने १२, सुधर्म ने ८, और जबू ने ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से सघ का नायकत्व किया पालक के राज्य के साठ वर्ष व्यतीत होने पर पाटलिपुत्र मे नव नन्दो ने १५५ वर्ष राज्य किया और इसी काल मे जैन सघ का नायकत्व प्रभव ने ११ वर्ष, स्वयभू ने २३, यशोभद्र ने ५०, सभूतिविजय ने ८, भद्रबाहु ने १४ और स्थूलभद्र ने ४५ वर्ष तक किया। इस प्रकार यहाँ तक वीर निर्वाण के २१५ वर्ष व्यतीत हुए। इसके पश्चात् मौर्य वश का राज्य १०८ वर्ष रहा,

जिसके भीतर महागिरि ने ३० वर्ष, सुहस्ति ने ४६ और गुणसुन्दर ने ३२ वर्ष जैन सघ का नायकत्व किया। मौर्यो के पश्चात् राजा पुष्पमित्र ने ३० वर्ष तथा वलमित्र और भानुमित्र ने ६० वर्ष राज्य किया। इस बीच गुणसुन्दर ने अपनी आयु के शेष १२ वर्ष, कालिक ने ४० वर्ष और स्कदिल ने ३८ वर्ष जैन सघ का नायकत्व किया। इस प्रकार महावीर निर्वाण से ४१३ वर्ष व्यतीत हुए। भानुमित्र के पश्चात् राजा नरवाहन ने ४०, गर्दभिल्ल ने १३ और शक ने ४ वर्ष पर्यन्त राज्य किया और इसी बीच रेवतीमित्र द्वारा ३६ वर्ष तथा आर्य-मगु द्वारा २० वर्ष जैन सघ का नायकत्व चला। इस प्रकार महावीर निर्वाण से लेकर ४७० वर्ष समाप्त हुए। गर्दभिल्ल के राज्य की समाप्ति कालकाचार्य द्वारा कराई गई और उसके पुत्र विक्रमादित्य ने राज्यारूढ होकर, ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी बीच जैन सघ मे बहुल, श्रीव्रत, स्वाति, हारि श्यामार्य एव शाण्डिल्य आदि हुए प्रत्येक-बुद्ध एव स्वयबुद्ध परम्परा का विच्छेद हुआ, बुद्धबोधितो की अल्पता, तथा भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्रस्वामी, ये आचार्य हुए। विक्रमादित्य के पश्चात् धर्मादित्य ने ४० और माइल्ल ने ११ वर्ष राज्य किया, और इस प्रकार-वीर निर्वाण के ५८१ वर्ष व्यतीत हुए। तत्पश्चात् दुर्वलिका पुष्पमित्र के २० वर्ष तथा राजा नाहड के ४ (?) वर्ष समाप्त होने पर वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पश्चात् शक सवत् प्रारभ हुआ। वीर निर्वाण क ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरि ने पर्यूषणचतुर्थी की स्थापना की, तथा निर्वाण के ९८० वर्ष समाप्त होने पर आर्य-महागिरि की सतान मे उत्पन्न श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की एव इसी वर्ष आनदपुर मे ध्रुवसेन राजा के पुत्र-मरण से शोकार्त होने पर, उनके समाधान हेतु कल्पसूत्र सभा के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना हुई। यह बहुश्रुतो की परम्परा से ज्ञात हुआ। इतनी वार्ता के पश्चात् यह 'दुषमकाल श्रमणसघस्तव की अवचूरि' इस समाचार के साथ समाप्त होती है कि वीर निर्वाण के १३०० वर्ष समाप्त होने पर विद्वानो के शिरोमणि श्री बप्पभट्टि सूरि हुए।

सात निन्हव व दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय—

ऊपर जिन गणों कुलो व शाखाओ का उल्लेख हुआ है, उनमें कोई विशेष सिद्धान्त-भेद नही पाया जाता। सिद्धान्त-भेद की अपेक्षा से हुए सात निन्हवो का उल्लेख पाया जाता है। पहला निन्हव महावीर के जीवन काल मे ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष पश्चात् उनके एक शिष्य जमालि द्वारा श्रावस्ती में उत्पन्न हुआ। इस निन्हव का नाम बहुरत कहा गया, क्योकि यहाँ

मूल सिद्धान्त यह था कि कोई वस्तु एक समय की क्रिया से उत्पन्न नही होती, अनेक समयो मे उत्पन्न होती है। दूसरा निन्हव इसके दो वर्ष पश्चात् तिष्यगुप्त द्वारा ऋषभपुर मे उत्पन्न हुआ कहा गया है। इसके अनुयायी जीवप्रदेशक कहलाए,क्योकि वे जीव के अतिम प्रदेश को ही जीव की सज्ञा प्रदान करते थे। अव्यक्त नामक तीसरा निन्हव, निर्वाण से २१४ वर्ष पश्चात् आषाढ-आचार्य द्वारा श्वेतविका नगरी मे स्थापित हुआ। इस मत मे वस्तु का स्वरूप अव्यक्त अर्थात अस्पष्ट व अज्ञेय माना गया है। चौथा समुच्छेद नामक निन्हव, निर्वाण से २२० वर्ष पश्चात् अश्वमित्र - आचार्य द्वारा मिथिला नगरी मे उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य अपने उत्पन्न होने के अनन्तर समय मे समस्त रूप से व्युच्छिन्न हो जाता है, अर्थात् प्रत्येक उत्पादित वस्तु क्षणस्थायी है। यह मत बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्ववाद से मेल खाता प्रतीत होता है। पाचवा निन्हव निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात् गग-आचार्य द्वारा उल्लुकातिर पर उत्पन्न हुआ। इसका नाम द्विक्रिया कहा गया है। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि एक समय मे केवल एक ही नही, दो क्रियाओ का अनुभवन सभव है। छठवा त्रैराशिक नामक निन्हव छलुक मुनि द्वारा पुरमतरजिका नगरी मे उत्पन्न हुआ। इस मत के अनुयायी वस्तु-विभाग तीन राशियो मे करते थे, जैसे जीव, अजीव, और जीवाजीव। सातवा निन्हव अबद्ध कहलाता है, जिसकी स्थापना वी० निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् गोष्ठा माहिल द्वारा दशपुर मे हुई इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि कर्म का जीव से स्पर्श मात्र होता है, वन्धन नही होता। इन सात निन्हवो के अनन्तर, वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् वोटिक निन्हव अर्थात दिगम्बर संघ की उत्पत्ति कही गई है (स्था ७, वि० आवश्यक व तपा० पट्टा०)। दिगम्बर परम्परा मे उपर्युक्त सात निन्हवो का तो कोई उल्लेख नही पाया जाता, किन्तु वि० स० के १३६ वर्ष उपरान्त श्वेताम्वर सघ की उत्पत्ति होने का स्पष्ट उल्लेख (दर्शनसार गा० ११) पाया जाता है। इस प्रकार श्वेताम्वर परम्परा मे दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के काल मे, व दिगम्बर परम्परा मे श्वेताम्वर सप्रदाय के उत्पत्तिकाल -निर्देश मे केवल ३ वर्षो का अन्तर पाया जाता है। इन उल्लेखो पर से यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि महावीर के सघ मे दिगम्बर-श्वेताम्बर सप्रदायो का स्पष्ट रूप से भेद निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर आम्नाय मे गणभेद—

दिगम्बर मान्यतानुसार महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष की आचार्य परम्परा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कहा गया है कि

तत्पश्चात् किसी समय अर्हद्‌वलि आचार्य हुए। उन्होने पचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल मुनि सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमे सौ योजन के यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओ पर से उन्होने जान लिया कि अब पक्षपात का युग आ गया। अतएव, उन्होने नदि वीर, अपराजित, देव पचस्तूप, सेन, भद्र, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामो से भिन्न भिन्न सघ स्थापित किये, जिनसे कि निकट अपनत्व की भावना द्वारा धर्म वात्सल्य और प्रभावना बढ सके। दर्शन-सार के अनुसार, विक्रम के ५२६ वर्ष पश्चात् दक्षिण मथुरा अर्थात् मदुरा नगर मे पूज्यपाद के शिष्य वज्रनदि द्वारा द्राविडसघ की उत्पत्ति हुई। इस सघ के मतानुसार बीजो मे जीव नहीं होता, तथा प्राशुक-अप्राशुक का कोई भेद नही माना जाता, एव वसति मे रहने, वाणिज्य करने व शीतल नीर से स्नान करने मे भी मुनि के लिये कोई पाप नही होता। वि० के २०५ वर्ष पश्चात् कल्याणनगर मे श्वेताम्बर मुनि श्रीकलश द्वारा यापनीय सघ की स्थापना हुई कही गई है। वि० की पाचवी-छठी शताब्दी के ताम्रपटो आदि मे भी यापनीय सघ के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। काष्ठासघ की उत्पत्ति वि० स० ७५३ वर्ष पश्चात् नदीतट ग्राम मे कुमारसेन मुनि द्वारा हुई। इस सघ मे स्त्रियो को दीक्षा देने, तथा पीछी के स्थान मे मुनियो द्वारा चौरी रखने का विधान पाया जाता है। माथुरसघ की स्थापना, काष्ठासघ की स्थापना से २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० स० के ९५३ वर्ष व्यतीत होने पर मथुरा मे राम सेन मुनि द्वारा हुई कही गई है। इस सघ की विशेषता यह बतलाई गई है कि इसमे मुनियो द्वारा पीछी रखना छोड दिया गया। काष्ठासघ की उत्पत्ति मे १८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० स० ९७१ मे दक्षिणदेश के विन्ध्यपर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द्र मुनि द्वारा भिल्लक सघ की स्थापना हुई। उन्होने अपना एक अलग गच्छ बनाया, प्रतिक्रमण तथा मुनिचर्या की भिन्न व्यवस्था की, तथा वर्णाचार को कोई स्थान नही दिया। इस सघ का दर्शनसार के अतिरिक्त अन्यत्र कही उल्लेख नही मिलता। किन्तु इस एक उल्लेख पर से भी प्रमाणित होता है कि नौवी दसवी शताब्दी मे एक जैन मुनि ने विन्ध्यपर्वत के भीलो मे भी धर्म प्रचार किया और उनकी क्षमता के विचारानुसार धर्म-पालन की कुछ विशेष व्यवस्थाए बनाई।

श्रवणबेलगोला से प्राप्त हुए ५०० से भी अधिक शिलालेखो द्वारा हमे अनेक शताब्दियो की विविध आम्नायो तथा आचार्य परम्पराओ का विवरण मिलता है। सिद्धरवस्ति के एक शिलालेख मे कहा गया है कि अर्हद्‌वलि ने अपने दो शिष्यों, पुष्पदत और भूतवलि द्वारा बडी प्रतिष्ठा प्राप्त की और उन्होंने मूल सघ को चार शाखाओ में विभाजित किया -सेन, नदि, देव और

सिह। अनेक लेखो मे जो सघो, गणो, गच्छो आदि के उल्लेख मिलते है उनमे से कुछ इस प्रकार हैं - मूलसघ, नदिसघ, नमिलूरसघ, मयूरसघ, किट्टूरसघ, कोल्लतूरसघ, नदिगण, देशीगण, द्रमिल (तमिल) गण काणूर गण, पुस्तक गच्छ, सरस्वती गच्छ, वक्रगच्छ, तगरिलगच्छ, मडितटगच्छ, इगुलेश्वरबलि, पनसोगे बलि, आदि।

पूर्व व उत्तर भारत मे धार्मिक प्रसार का इतिहास—

महावीर ने स्वय विहार करके तो अपना उपदेश विशेष रूप से मगध, विदेह अग, वग, आदि पूर्व के देशो, तथा पश्चिम की ओर कोशल व काशी प्रदेश मे ही फैलाया था, एव तत्कालीन मगधराज श्रेणिक बिबसार व उनके पुत्र कुणिक अजातशत्रु को अपना अनुयायी बनाया था। इसका भी प्रमाण मिलता है कि नद राजा भी जैन धर्मानुयायी थे। ई० पू० १५० के लगभग के खारवेल के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस जैन प्रतिमा को नदराज कलिंग से मगध मे ले गये थे, उसे खारवेल पुन: अपने देश मे वापस लाए। यह लेख अर्हतो और सिद्धो को नमस्कार से प्रारम्भ होता है, और फिर उसमे खारवेल के कुमारकाल के शिक्षण के पश्चात् राज्याभिषिक्त होकर उनके द्वारा नाना प्रदेशो की विजय तथा स्वदेश मे विविध लोकोपकारी कार्यों का विवरण पाया जाता है। कलिग (उडीसा) मे जैनधर्म विहार से ही गया है, इसमे तो सन्देह ही नही, और विहार का जैनधर्म से सबध इतिहासातीत काल से रहा है। भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार विहार से उडीसा जाने का मार्ग मानभूम और सिहभूम जिलो मे से था। मानभूम के ब्राह्मणो में एक वर्ग अब भी ऐसा विद्यमान है जो अपने को 'पच्छिम ब्राह्मण' कहते हैं, और वे वर्धमान महावीर के वशज रूप से वर्णन किये जाते हैं। वे यह भी कहते है कि वे उस प्राचीनतम आर्य वश की शाखा के हैं जिसने अति प्राचीन काल में इस भूमि पर पैर रखा। आदितम श्रमण-परम्परा आर्यों की ही थी, किन्तु वे आर्य वैदिक आर्यों के पूर्व भारत की ओर बढने से पहले ही मगध विदेह मे रहते थे, इसमें अब कोई सन्देह रहा नही प्रतीत होता। इस दृष्टि से उक्त 'पच्छिम ब्राह्मणो' की बात बडे ऐतिहासिक महत्व की जान पडती है। यो तो समस्त मगध प्रदेश मे जैन पुरातत्व के प्रतीक बिखरे हुए हैं, जिनमे पटना जिले के राजगिर और पावा, तथा हजारीबाग जिले का पार्श्वनाथ पर्वत सुप्रसिद्ध ही हैं। किन्तु इन स्थानो में वर्तमान में जो अधिकाश मूर्तियां आदि पाई जाती हैं, उनकी अपेक्षा मानभूम और सिहभूम जिलो के नाना स्थानो में बिखरे हुए जैन मन्दिर व मूर्तियां अधिक प्राचीन सिद्ध होते हैं। इनमे से अनेक आजकल हिन्दुओं द्वारा अपने धर्मायतन

मान कर पूजे जाते हैं। कही जैन मूर्तियां भैरोनाथ के नाम से पुजती हैं और कही वे पाडवो की मूर्तियाँ मानी जा रही है। यत्र तत्र मे एकत्र कर जो अनेक जैन मूर्तियां पटना के सग्रहालय में सुरक्षित है, वे ग्यारहवी शताब्दी से पूर्व की प्रमाणित होती हैं। (देखिये राय चौधरी कृत जैनिजिम इन बिहार)। चीनी यात्री हुएनत्साग (सातवी शताब्दी) ने अपने वैशाली के वर्णन में वहाँ निर्ग्रन्थो की बडी सख्या का उल्लेख किया है। उसने सामान्यत यह भी कहा है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायो के जैन मुनि पश्चिम में तक्षशिला और गूढकूट तक फैले हुए थे, तथा पूर्व में दिगम्बर निर्ग्रन्थ पुण्ड्रवर्धन और समतट तक भारी सख्या में पाये जाते थे। चीनी यात्री के इन उल्लेखो से सातवी शती में समस्त उत्तर में जैन धर्म के सुप्रचार का अच्छा पता चलता है।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से एक अति प्राचीन स्तूप और एक दो जैन मदिरो के ध्वसावशेष मिले हैं। यहा पाई गई पुरातत्वसामग्री पर से ज्ञात होता है कि ई० पू० की कुछ शताब्दियो से लेकर, लगभग दसवी शताब्दी तक वहाँ जैन धर्म का एक महान केन्द्र रहा है। मूर्तियो के सिंहासनो आयाग-पट्टो आदि पर जो लेख मिले है, उनमें से कुछ मे कुषाण राजाओ, जैसे कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि नामो और उनके राज्यकाल के अको का स्पष्ट उल्लेख पाया गया है, जिससे वे ई० सन् के प्रारम्भिक काल के सिद्ध होते है। प्राचीन जैन ग्रन्थो मे इस स्तूप का उल्लेख मिलता है, और कहा गया है कि यह स्तूप सुपार्श्वनाथ की स्मृति मे निर्माण कराया गया था, तथा पार्श्वनाथ के काल मे इसका उद्धार कराया गया था। उसे देव निर्मित भी कहा गया है। आश्चर्य नही जो वह प्राचीन स्तूप महावीर से भी पूर्वकालीन रहा हो हरिषेण कथाकोष के 'वैरकुमार कथानक' (श्लोक १३२) में मथुरा के पाँच स्तूपो का उल्लेख आया है। यहा से ही समवत जैन मुनियो के पचस्तूपान्वय का प्रारम्भ हुआ। इस अन्वय का एक उल्लेख गुप्त सवत् १५९ (सन् ४७८) का पहाडपुर (बगाल) के ताम्रपट से मिला है जिसके अनुसार उस समय वट गोहाली मे एक जैन विहार था, जिसमे अरहतो की पूजा के लिये निर्ग्रन्थ आचार्य को एक दान दिया गया। ये आचार्य बनारस की पचस्तूप निकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य कहे गये हैं। धवला टीका के रचयिता वीरसेन और जिनसेन (८-९ वी शती) भी इसी शाखा के थे। इसी अन्वय का उल्लेख जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण में सेनान्वय के नाम से किया है। तब से इस अन्वय की सेनगण के नाम से ही प्रसिद्धि लगातार आज तक अविच्छिन्न रूप से उसकी अनेक शाखाओ व उपशाखाओ के रूप में पाई जाती

है। मथुरा के स्तूपो की परम्परा मुगल सम्राट अकबर के काल तक पाई जाती है, क्योकि उस समय के जैन पडित राजमल्ल ने अपने जम्बूस्वामी-चरित मे लिखा है कि मथुरा में ५१५ जीर्णस्तूप थे जिनका उद्धार टोडर सेठ ने अपरिमित व्यय से कराया था। ई० पू० प्रथम शताब्दि मे जैन मुनिसघ की उज्जैनी मे अस्तित्व का प्रमाण कालकाचार्य कथानक मे मिलता है। इस कथानक के अनुसार उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल ने अपनी कामुक प्रवृत्ति से एक जैन अर्जिका के साथ अत्याचार किया, जिसके प्रतिशोध के लिए कालकसूरि ने शाही राजाओ से सबध स्थापित किया। इन्होने गर्दभिल्ल को युद्ध में परास्त कर, उज्जैन मे शक राज्य स्थापित किया। इसी वश का विनाश पीछे विक्रमादित्य ने किया। इस प्रकार यह घटना-चक्र विक्रम सवत से कुछ पूर्व का सिद्ध होता है। उससे यह भी पता चलता है कि प्रसगवश अतिशान्त-स्वभावी और सहनशील जैन-मुनियो का भी कभी-कभी राज शक्तियो से सघर्ष उपस्थित हो जाया करता था।

मथुरा से प्राप्त एक लेख मे उल्लेख मिलता है कि गुप्त सवत् ११३ (ई०सन् ४३२) मे श्री कुमार गुप्त के राज्य काल मे विधाधरी शाखा के दतिलाचार्य की आज्ञा से श्यामाढ्य ने एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई। कुमारगुप्त के काल (सन् ४२६) का एक और लेख उदयगिरि (विदिशा मालवा) से मिला है, जिसमे वहाँ पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। गुप्तकाल के स० १४१ (ई० सन् ४६०) मे स्कदगुप्त राजा के उल्लेख सहित जो शिलालेख कहायू (सस्कृत ककुभ) से प्राप्त हुआ है उसमे उल्लेख है कि पाच अरहतो की स्थापना मन्द्र नामके धर्म पुरुष ने कराई थी और शैल स्तम्भ खडा किया था।

दक्षिण भारत व लका मे जैन धर्म तथा राजवंशो से सबध—

(एक जैन परम्परानुसार मौर्यकाल मे जैनमुनि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त सम्राट को प्रभावित किया था और वे राज्य त्याग कर, उन मुनिराज के साथ दक्षिण को गए थे। मैसूर प्रान्त के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला मे अब भी उन्ही के नाम से एक पहाडी चन्द्रगिरि कहलाती है, और उस पर वह गुफा भी बतलाई जाती है, जिसमे भद्रबाहु ने तपस्या की थी, तथा राजा चन्द्रगुप्त उनके साथ अन्त तक रहे थे। इस प्रकार मोर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के काल मे जैन धर्म का दक्षिण-भारत मे प्रवेश हुआ माना जाता है। किन्तु बौद्धो के पालि साहित्यान्तर्गत महावश मे जो लका के राजवशो का विवरण पाया जाता है, उसके अनुसार बुद्धनिर्माण से १०६ वर्ष पश्चात् पाडुकाभय राजा का अभिषेक हुआ और उन्होने अपने राज्य के प्रारभ मे ही अनुराधपुर की स्थापना की, जिसमे उन्होने

निर्ग्रन्थ श्रमणो के लिए अनेक निवास स्थान बनवाए। इस उल्लेख पर से स्पष्टत. प्रमाणित होता है कि बुद्ध निर्वाण स० के १०६ वे वर्ष मे भी लका मे निर्ग्रन्थो का अस्तित्व था। लका मे बौद्ध धर्म का प्रवेश अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा बुद्ध द्वारा बुद्धनिर्वाण से २३६ वर्ष पश्चात् हुआ कहा गया है। इस पर से लका मे जैन धर्म का प्रचार, बौद्ध धर्म से कम से कम १३० वर्ष पूर्व हो चुका था, ऐसा सिद्ध होता है। सभवत सिंहल मे जैन धर्म दक्षिण भारत मे से ही होता हुआ पहुँचा होगा। जिस समय उत्तर भारत मे १२ वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु ने सम्राट चन्द्रगुप्त तथा विशाख मुनिसघ के साथ दक्षिणापथ की ओर विहार किया, तब वहाँ की जनता मे जैनधर्म का प्रचार रहा होगा और इसी कारण भद्रबाहु को अपने सघ का निर्वाह होने का विश्वास हुआ होगा, ऐसा भी विद्वानो का अनुमान है। चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र सम्प्रति, एक जैन परम्परानुसार आचार्य सुहस्ति के शिष्य थे, और उन्होने जैन धर्म का स्तूप, मन्दिर आदि निर्माण कराकर, देश भर मे उसी प्रकार प्रचार किया जिस प्रकार कि अशोक ने बौद्धधर्म का किया था। रामनद और टिन्नावली की गुफाओ मे ब्राह्मीलिपि के शिलालेख यद्यपि अस्पष्ट है, तथापि उनसे एव प्राचीनतम तामिल ग्रन्थो से उस प्रदेश मे अति प्राचीन काल मे जैन धर्म का प्रचार सिद्ध होता है। तामिल काव्य कुरल व ठोलकप्पियम पर जैन धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

मणिमेकलई यद्यपि एक बौद्ध काव्य है, तथापि उसमे दिगम्बर मुनियो और उनके उपदेशो के अनेक उल्लेख आये है। जीवक चिन्तामणि, सिलप्पडिकार नीलकेशी यशोधर काव्य आदि तो स्पष्टत जैन कृतियाँ ही है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र के काची से सम्बध का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य का सम्बन्ध, उनके एक टीकाकार शिवकुमार महाराज से बतलाते है। प्राकृत लोकविभाग के कर्ता सर्वनन्दि (सन् ४५८) काची नरेश सिंहवर्मा के समकालीन कहे गये है। दर्शनसार के अनुसार द्राविड सघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि द्वारा मदुरा मे सन् ४७० मे की गई थी। इस प्रकार के अनेक उल्लेखो और नाना घटनाओ से सुप्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे तामिल प्रदेश मे जैन धर्म का अच्छा प्रचार हो चुका था।

कदम्ब राजवश—

कदम्बवशी अविनीत महाराज के दान पत्र मे उल्लेख है कि उन्होने देशीगण कुन्दकुन्दान्वय के चन्द्रनदि भट्टारक को जैन मन्दिर के लिए एक गाव का दान दिया। यह दानपत्र शक स० ३८८ (ई० स० ४६६) का है और मर्करा नामक स्थान से मिला है। इसी वश के युवराज काकुत्स्थ द्वारा भगवान्

अर्हन्त के निमित्त श्रुतकीर्त्ति सेनापति को भूमि का दान दिये जाने का उल्लेख हैं। इसी राजवश के एक दो अन्य दानपत्र बडे महत्वपूर्ण है। इनमे से एक मे श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा द्वारा अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष मे एक ग्राम का दान उसे तीन भागो मे बाटकर दिये जाने का उल्लेख हैं। एक भाग 'भगवत् अर्हद् महाजिनेन्द्र देवता' को दिया गया, दूसरा 'श्वेतपट महाश्रमण सघ' के उपभोग के लिए, और तीसरा 'निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ' के उपयोग के लिए। दूसरे लेख मे शान्ति वर्मा के पुत्र श्री मृगेश द्वारा अपने राज्य के आठवें वर्ष मे यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियो के हेतु भूमि-दान दिये जाने का उल्लेख है। एक अन्य लेख मे शान्तिवर्मा द्वारा यापनीय तपस्वियो के लिये एक ग्राम के दान का उल्लेख है। एक अन्य लेख मे हरिवर्मा द्वारा सिंह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैनमदिर की अष्टान्हिका पूजा के लिये, तथा सर्वसघ के भोजन के लिए एक गाव कूर्चको के वारिषेणाचार्य सघ के हाथ मे दिये जाने का उल्लेख है। इस वश के और भी अनेक लेख हैं जिनमे जिनालयो के रक्षणार्थ व नाना जैन सघो के निमित्त ग्रामो और भूमियो के दान का उल्लेख है। उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पाचवी छठी शताब्दी मे जैन सघ के निर्ग्रन्थ (दिगम्बर), श्वेत-पट, यापनीय वा कूर्चक शाखाए सुप्रतिष्ठित सुविख्यात, लोकप्रिय और राज्य सम्मान्य हो चुकी थी। इनमे के प्रथम तीन मुनि-सप्रदायो का उल्लेख तो पट्टावलियों व जैन साहित्य मे बहुत आया है, किन्तु कूर्चक सप्रदाय का कही अन्यत्र विशेष परिचय नही मिलता।

गग राजवंश—

श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो तथा अभयचन्द्रकृत गोम्मटसार वृत्ति की उत्थानिका मे उल्लेख मिलता है कि गगराज की नीव डालने मे जैनाचार्य सिंहनदि ने बडी सहायता की थी। इस वश के अविनीत नाम के राजा के प्रतिपालक जैनाचार्य विजयकीर्ति कहे गये है। सुप्रसिद्ध तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद देवनदि इसी वश के सातवे नरेश दुर्विनीत के राजगुरु थे, ऐसे उल्लेख मिलते है। इनके तथा शिवमार और श्रीपुरुप नामक नरेशो के अनेक लेखो मे जैन मन्दिर निर्माण व जैन मुनियो को दान के उल्लेख भी मिलते हैं। गगनरेश मारसिंह के विपय मे कहा गया है कि उन्होने अनेक भारी युद्धो मे विजय प्राप्त करके नाना दुर्ग और किले जीतकर एव अनेक जैन मदिर और स्तम्भ निर्माण करा कर अन्त मे अजितसेन भट्टारक के समीप वकापुर मे सल्लेखना विधि से मरण किया, जिसका काल शक स० ८९६ (ई० स ९७४) निर्दिष्ट है। मारसिंह के उत्तराधिकारी ९

मल्ल (चतुर्थ) थे, जिनके मत्री चामुण्डराज ने श्रवणवेलगोल के विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय वस्ति निर्माण कराई और गोमटेश्वर की उस विशाल मूर्ति का उद्घाटन कराया जो प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का एक गौरवशाली प्रतीक है। चामुण्डराय का बनाया हुआ एक पुराण ग्रन्थ भी मिलता है जो कन्नड भाषा मे है। इसे उन्होने शक स० ९०० मे समाप्त किया था। उसमे भी उन्होने अपने ब्रह्मक्षेत्र कुल तथा अजितसेन गुरु का परिचय दिया है। अनेक शिलालेखो मे विविध गगवशी राजाओ, सामन्तो, मत्रियो व सेनापतियो आदि के नामो, उनके द्वारा दिये गये दानो आदि धर्मकार्यों, तथा उनके सल्लेखना पूर्वक मरण के उल्लेख पाये जाते है। कन्नड कवि पोन्न द्वारा सन् ९३३ मे लिखे गये शान्ति-पुराण की सन् ९७३ के लगभग एक धर्मिष्ट महिला आतिमब्बे ने एक सहस्त्र प्रतिया लिखाकर दान मे बँटवा दी।

राष्ट्रकूट राजवंश—

सातवी शताब्दी से दक्षिण-भारत मे जिस राजवश का वल व राज्य-विस्तार वढा, उस राष्ट्रकूट वश से तो जैनधर्म का वडा घनिष्ठ सवध पाया जाता है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम ने स्वय प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका की रचना की थी, जिसका तिब्वती भाषा मे उसकी रचना के कुछ ही पश्चात् अनु-वाद हो गया था और जिस पर से यह भी सिद्ध होता है कि राजा अमोघवर्ष राज्य छोडकर स्वय दीक्षित हो गये थे। उनके विषय मे यह भी कहा पाया जाता है कि वे आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन के चरणो की पूजा करते थे। शाकटायन व्याकरण पर की अमोघवृत्ति नामक टीका उनके नाम से सवद्ध पाई जाती है, और उन्ही के समय मे महावीराचार्य ने अपने गणितसार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वे कन्नड अलकारशास्त्र 'कविराजमार्ग' के कर्त्ता भी माने जाते है। उनके उत्तराधिकारी कृष्ण तृतीय के काल मे गुणभद्राचार्य ने उत्तर-पुराण को पूरा किया, इन्द्रनन्दि ने ज्वाला-मालिनी-कल्प की रचना की; सोम-देव ने यशस्तिलक चम्पू नामक काव्य रचा तथा पुष्पदत ने अपनी विशाल, श्रेष्ठ अपभ्र श रचनाएँ प्रस्तुत की। उन्होने ही कन्नड के सुप्रसिद्ध जैन कवि पोन्न को उभय-भाषा चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया। उनके पश्चात् राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रराज-चतुर्थ ने शिलालेखानुसार अपने पूर्वज अमोघवर्ष के समान राज्यपाट त्याग कर जैन मुनि दीक्षा धारण की थी, और श्रवणवेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधिपूर्वक मरण किया था। श्रवणवेलगोला के अनेक शिलालेखो मे राष्ट्रकूट नरेशों की जैनधर्म के प्रति आस्था, सम्मान-वृद्धि और दानशीलता के उल्लेख पाये जाते हैं। राष्ट्रकूटो के सरक्षण मे उनकी राजधानी

मान्यखेट एक अच्छा जैन केन्द्र बन गया था, और यही कारण है कि सवत् १०२९ के लगभग जब धारा के परमारवशी राजा हर्षदेव के द्वारा मान्यखेट नगरी लूटी और जलाई गई, तब महाकवि पुष्पदत के मुख से हठात् निकल पडा कि "जो मान्यखेट नगर दीनो और अनाथो का धन था, सदैव बहुजन पूर्ण और पुष्पित उद्यानवनो से सुशोभित होते हुए ऐसा सुन्दर था कि वह इन्द्रपुरी की शोभा को भी फीका कर देता था, वह जब धारानाथ की कोपाग्नि से दग्ध हो गया तब, अब पुष्पदत कवि कहाँ निवास करें" । (अप महापुराण-सधि ५०)

चालुक्य और होयसल राजवंश—

चालुक्यनरेश पुलकेशी (द्वि०) के समय मे जैन कवि रविकीर्ति ने ऐहोल मे मेघुति मन्दिर बनवाया और वह शिलालेख लिखा जो अपनी ऐतिहासिकता तथा सस्कृत काव्यकला की दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है । उसमे कहा गया है कि रविकीर्ति की काव्यकीर्ति कालिदास और भारवि के समान थी । लेख मे शक ५५६ स०(ई०सन् ६३४) का उल्लेख है और इसी आधार पर सस्कृत के उक्त दोनो महाकवियो के काल की यही उत्तरावधि मानी जाती है । लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अनेक दानपत्रो मे चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैन आचार्यों को दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं । बादामी और ऐहोल की जैन गुफाये और उनमे की तीर्थंकरो की प्रतिमाये भी इसी काल की सिद्ध होती है ।

ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिण मे पुन. चालुक्य राजवश का बल बडा । यह राजवश जैनधर्म का बडा सरक्षक रहा, तथा उसके साहाय्य से दक्षिण मे जैनधर्म का बहुत प्रचार हुआ और उसकी ख्याति बढी । पश्चिमी चालुक्य वश के सस्थापक तैलप ने जैन कन्नड कवि रन्न को आश्रय दिया । तैलप के उत्तराधिकारी सत्याश्रय ने जैनमुनि विमलचन्द्र पडित देव को अपना गुरु बनाया । इस वश के अन्य राजाओ, जैसे जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय, तथा विक्रमादित्य षष्ठम ने कितने ही जैन कवियो को प्रोत्साहित कर साहित्य-सृजन कराया, तथा जैन मदिरो व अन्य जैन सस्थाओ को भूमि आदि का दान देकर उन्हे सबल बनाया । होयसल राजवश की तो स्थापना ही एक जैनमुनि के निमित्त से हुई कही जाती है । विनयादित्य नरेश के राज्यकाल में जैनमुनि वर्द्धमानदेव का शासन के प्रबन्ध मे भी हाथ रहा कहा जाता है । इस वश के दो अन्य राजाओ के गुरु भी जैनमुनि रहे । इस वश के

प्राय सभी राजाओं ने जैन मंदिरो और आश्रमों को दान दिये थे। इस वंश के सबसे अधिक प्रतापी नरेश विष्णुवर्द्धन के विषय मे कहा जाता है कि उसने रामानुजाचार्य के प्रभाव मे पडकर वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया था। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते है कि वह अपने राज्य के अन्त तक जैनधर्म के प्रति उदारी और दानशील बना रहा। ई० सन् ११२५ मे भी उसने जैन मुनि श्रीपाल त्रैविद्यदेव की आराधना की, शल्य नामक स्थान पर जैन विहार बनवाया तथा जैन मंदिरो व मुनियो के आहार के लिए दान दिया। एक अन्य ई० सन् ११२६ के लेखानुसार उसने मल्लिजिनालय के लिए एक दान किया। ई० सन् ११३३ मे उसने अपनी राजधानी द्वारसमुद्र मे ही पार्श्वनाथ जिनालय के लिए एक ग्राम का दान किया, तथा अपनी तत्कालीन विजय की स्मृति मे वहाँ के मूल नायक को विजय-पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध किया और अपने पुत्र का नाम विजयसिंह रखा, और इस प्रकार उसने अपने परम्परागत धर्म तथा नये धारण किये हुए धर्म के बीच सतुलन बनाये रखा। उसकी रानी शातलदेवी आजन्म जैन धर्म की उपासिका रही और जैन मंदिरो को अनेक दान देती रही उनके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे, और उसने सन् ११२१ मे जैन समाधि-मरण की सल्लेखना विधि से देह त्याग किया। विष्णुवर्धन के अनेक प्रभावशाली मंत्री और सेनापति भी जैन धर्मानुयायी थे। उसके गगराज सेनापति ने अनेक जैनमंदिर बनवाये, अनेको का जीर्णोद्धार किया तथा अनेको जैन सस्थाओं को विपुलदान दिये। उसकी पत्नी लक्ष्मीमति ने भी जैन सल्लेखना विधि से मरण किया, जिनकी स्मृति मे उसके पति ने श्रवणबेलगोला के पर्वत पर एक लेख खुदवाया। उसके अन्य अनेक सेनापति, जैसे बोप्प, पुनिस मरियाने व भरतेश्वर, जैन मुनियो के उपासक थे और जैन धर्म के प्रति बडे दानशील थे, इसके प्रमाण श्रवणबेलगोला व अन्य स्थानो के बहुत से शिलालेखो मे मिलते है। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने श्रवणबेलगोला की वदना की तथा अपने महान सेनापति हुल्ल द्वारा बनवाये हुए चतुर्विशति जिनालय को एक ग्राम का दान दिया। होयसल नरेश वीर-बल्लाल द्वितीय व नरसिंह तृतीय के गुरु जैन मुनि थे। इन नरेशो ने तथा इस वश के अन्य अनेक राजाओ ने जैन मंदिर बनवाये और उन्हे बडे-बडे दानो से पुष्ट किया। इस प्रकार यह पूर्णत. सिद्ध है कि होयसल वश के प्राय सभी नरेश जैन धर्मानुयायी थे और उनके साहाय्य एव सरक्षण द्वारा जैन मंदिर तथा अन्य धार्मिक सस्थाए दक्षिण प्रदेश मे खूब फैली और समृद्ध हुई।

अन्य राजवंश—

उक्त राजवशो के अतिरिक्त दक्षिण के अनेक छोटे-मोटे राजघरानो द्वारा भी जैनधर्म को खूब बल मिला। उदाहरणार्थ, कर्नाटक के तीर्थहल्लि तालुका व उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करनेवाले सान्तर नरेशो ने प्रारम्भ से ही जैन धर्म को खूब अपनाया। भुजवल सान्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुर्चा मे एक जैनमदिर बनवाया व अपने गुरु कनकनदिदेव को उस मदिर के सरक्षणार्थ एक ग्राम का दान दिया। वीर सान्तर के मत्री नगुलरस को ई० सन् १०८१ के एक शिलालेख मे जैनधर्म का गढ कहा गया है। स्वय वीर सान्तर को एक लेख मे जिनभगवान् के चरणोंका भृ ग कहा गया है। तेरहवी शताब्दी मे सान्तरनरेशो के वीरशैव धर्म स्वीकार कर लेने पर उनके राज्य मे जैनधर्म की प्रगति व प्रभाव कुछ कम अवश्य हो गया, तथापि सान्तर वशी नरेश शैवधर्मावलवी होते हुए भी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु और दानशील बने रहे। उसी प्रकार मैसूर प्रदेशान्तगर्त कुर्ग व उसके आसपास राज्य करनेवाले कागल्व नरेशो ने ग्याहरवी व बाहरवी शताब्दियो मे अनेक जैनमदिर बनवाये और उन्हे दान दिये। चागल्व नरेश शैवधर्मावलवी होने हुए भी जैनधर्म के बडे उपकारी थे, यह उनके कुछ शिलालेखो से सिद्ध होता है जिनमे उनके द्वारा जैनमदिर बनवाने व दान देने के उल्लेख मिलते हैं। इन राजाओ के अतिरिक्त अनेक ऐसे वैयक्तिक सामन्तो, मत्रियो, सेनापतियो तथा सेठ साहूकारो के नाम शिलालेखो मे मिलते है, जिन्होने नाना स्थानो पर जैनमदिर बनवाये, जैनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराई, पूजा अर्चा की, तथा धर्म की बहुविध प्रभावना के लिये विविध प्रकार के दान दिये। इतना ही नही, किन्तु उन्होने अपने जीवन के अन्त मे वैराग्य धारण कर जैनविधि से समाधिमरण किया। दक्षिण प्रदेश भर मे जो आजतक भी अनेक जैनमदिर व मूर्तिया अथवा उनके ध्वसावशेष बिखरे पडे है, उनसे भले प्रकार सिद्ध होता है कि यह धर्म वहाँ कितना सुप्रचलित ओर लोकप्रिय रहा, एव राजगृहो से लगाकर जनसाधारण तक के गृहो मे प्रविष्ट हो, उनके जीवन को नैतिक, दानशील तथा लोकोपकारोन्मुख बनाता रहा।

गुजरात-काठियावाड मे जैनधर्म—

ई० सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग काठियावाड मे भी एक जैन केन्द्र सुप्रतिष्ठित हुआ पाया जाता है। षट्खडागम सूत्रो की रचना का जो इतिहास उसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने दिया है, उसके अनुसार वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की श्रुतज्ञानी आचार्यो की अविच्छिन्न परम्परा के कुछ काल पश्चात् धरसेनाचार्य हुए, जो गिरीनगर (गिरिनार, काठियावाड) की चन्द्र-

गुफा मे रहते थे। वही उन्होने पुष्पदत और भूतवलि नामक आचार्यों को बुलवाकर उन्हे वह ज्ञान प्रदान किया जिसके आधार पर उन्होने पश्चात् द्रविड देश मे जाकर षट्खडागम की सूत्र-रूप रचना की। जूनागढ के समीप अत्यन्त प्राचीन कुछ गुफाओ का पता चला है जो अब बावा प्यारा का मठ कहलाती है। उनके समीप की एक गुफा मे दो खडित शिलालेख भी मिले हैं जो उनमे निर्दिष्ट क्षत्रपवशी राजाओ के नामो के आधार से तथा अपने लिपि पर से ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो के सिद्ध होते है। मैंने अपने एक लेख मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्भवत यही गुफा धरसेनाचार्य की निवासभूमि थी और समवत वही उनका समाधीमरण हुआ, जिसकी ही स्मृति मे वह लेख लिखा गया हो तो आश्चर्य नही। लेख जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह (प्र०) का प्रतीत होता है। खडित होने से लेख का पूरा अर्थ तो नही लगाया जा सकता, तथापि उसमे जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द स्पष्ट पढ़े जाते है, उनसे उसका किसी महान् जैनाचार्य की तपस्या व समाधिमरण से सबध स्पष्ट है। उस गुफा मे अकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि चिह्न भी उसके जैनत्व को सिद्ध करते हैं। ढक नामक स्थान पर की गुफाएँ और उनमे की ऋषभ, पार्श्व, महावीर व अन्य तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ भी उसी काल की प्रतीत होती है। गिरनार मे धरसेनाचार्य का उपदेश ग्रहण कर पुष्पदत और भूतवलि आचार्यों के द्रविड देश को जाने और वही आगम की सूत्र-रूप रचना करने के वृतान्त से यह भी सिद्ध होता है कि उक्त काल मे काठियावाड–गुजरात से लेकर सुदूर तामिल प्रदेश तक जैन मुनियो का निर्बाध गमनागमन हुआ करता था।

आगामी शताब्दियो मे गुजरात मे जैनधर्म का उत्तरोत्तर प्रभाव बढता हुआ पाया जाता है। यहाँ वीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् वलभीनगर मे क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता मे जैन मुनियो का एक विशाल सम्मेलन हुआ जिसमे जैन आगम के अगोपाग आदि वे ४५-५० ग्रथ सकलित किये गये जो श्वेताम्बर परम्परा मे सर्वोपरि प्रमाणभूत माने जाते हैं और जो अर्द्धमागधी प्राकृत की अद्वितीय उपलभ्य रचनाएँ हैं। सातवी शती के दो गुर्जरनरेशो, जयभट (प्र०) और दड्ड (द्वि०) के दान पत्रो मे जो उनके वीतराग और प्रशान्तराग विशेषण पाये जाते हैं, वे उनके जैनाधर्मावलम्बित्व को नही तो जैनानुराग को अवश्य प्रकट करते हैं। इस प्रदेश के चावडा (चापोत्कट) राजवश के सस्थापक वनराज के जैनधर्म के साथ सम्बन्ध और उसके विशेष प्रोत्साहन के प्रमाण मिलते हैं। इस वश के प्रतापी नरेन्द्र मूलराज ने अपनी राजधानी अहिलवाडा मे मूलवसतिका नामक जैन मंदिर बनवाया, जो अब भी विद्यमान

है। श्रीचन्द्र कवि ने अपनी कथाकोष नामक अपभ्रंश रचना की प्रशस्ति मे कहा है कि मूलराज का धर्मस्थानीय गोष्ठिक प्राग्वाटवशी सज्जन नामक विद्वान था, और उसी के पुत्र कृष्ण के कुटुंब के धर्मोपदेश निमित्त कुदकुदान्वयी मुनि सहस्त्रकीर्ति के शिष्य श्रीचन्द्र ने उक्त ग्रथ लिखा। मुनि सहस्त्रकीर्ति के सबध मे यह कहा गया है कि उनके चरणो की वदना गागेय, भोजदेव आदि नरेश करते थे। अनुमानत गागेय से चेदि के कलचुरि नरेश का, तथा भोजदेव से उस नाम के परमारवशी मालवा के राजा से अभिप्राय है। उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला (ई०स ७७८) के अनुसार गुप्तवशी आचार्य हरिगुप्त यवन राज तोरमाण (हूणवशीय) के गुरु थे और चन्द्रभागा नदी के समीप स्थित राजधानी पवैया (पजाब) मे ही रहते थे। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त की भी बडी पद प्रतिष्ठा थी। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र पवैया से विहार करते हुए भिन्नमाल (श्रीमाल, गुजरात की प्राचीन राजधानी) मे आये। उनके शिष्य यज्ञदत्त व अनेक अन्य गुणवान शिष्यो ने गुर्जर देश मे जैनधर्म का खूब प्रचार किया, और उसे बहुत से जैन मन्दिरो के निर्माण द्वारा अलकृत कराया। उनके एक शिष्य वटेश्वर ने आकाश वप्र नगर मे विशाल मन्दिर बनवाया। वटेश्वर के शिष्य तत्वाचार्य कुवलयमालाकार क्षत्रिय वशी उद्योतनसूरि के गुरु थे। उद्योतन सूरि ने वीरभद्र आचार्य से सिद्धान्त की तथा हरिभद्र आचार्य से न्याय की शिक्षा पाकर शक सवत् ७०० मे जावालिपुर (जालोर-राजपुताना) मे वीरभद्र द्वारा बनवाये हुए ऋषभदेव के मन्दिर मे अपनी कुवलयमाला पूर्ण की। तोरमाण उस हूण आक्रमणकारी मिहिरकुल का उत्तराधिकारी था जिसकी क्रूरता इतिहास प्रसिद्ध है। उस पर इतने शीघ्र जैन मुनियो का उक्त प्रभाव पड जाना जैनधर्म की तत्कालीन सजीवता और उदात्त धर्म-प्रचार-सरणि का एक अच्छा प्रमाण है।

चालुक्य नरेश भीम प्रथम मे जैनधर्म का विशेष प्रसार हुआ। उसके मन्त्री प्राग्वाट वशी विमलशाह ने आबू पर आदिनाथ का वह जैनमदिर बनवाया जिसमे भारतीय स्थापत्यकला का अति उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है, और जिसकी सूक्ष्म चित्रकारी, बनावट की चतुराई तथा सुन्दरता जगद्विख्यात मानी गई है। यह मदिर ई० सन् १०३१ अर्थात् महमूद गजनी द्वारा सोमनाथ को ध्वस्त करने के सात वर्ष के भीतर बनकर तैयार हुआ था। खतरगच्छ पट्टावली मे उल्लेख मिलता है कि विमलमत्री ने तेरह सुलतानो के छत्रो का अपहरण किया था, चन्द्रावती नगरी की नीव डाली थी, तथा अर्बुदाचल पर ऋषभदेव का मदिर निर्माण कराया था। स्पष्टत विमलशाह ने ये कार्य अपने राजा भीम की अनुमति से ही किये होगे और उनके द्वारा उसने सोमनाथ तथा

अन्य स्थानो पर किये गये विध्वसो का प्रत्युत्तर दिया होगा। चालुक्य नरेश सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के काल मे जैनधर्म का और भी अधिक बल बढा। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल ने स्वय खुलकर जैनधर्म धारण किया और गुजरात की जैन सस्थाओ को खूब समृद्ध बनाया, जिसके फलस्वरूप गुजरात प्रदेश सदा के लिए धर्मानुयायियो की सख्या एव सस्थाओ की समृद्धि की दृष्टि से जैनधर्म का एक सुदृढ केन्द्र बन गया। यह महान् कार्य किसी धार्मिक कट्टरता के बल पर नही, किन्तु नाना-धर्मो के सद्भाव व सामजस्य-बुद्धि द्वारा ही किया गया था। यही प्रणाली जैनधर्म का प्राण रही है, और हेमचन्द्राचार्य ने अपने उपदेशो एव कार्यों द्वारा इसी पर अधिक बल दिया था। धर्म की अविच्छिन्न परम्परा एव उसके अनुयायियो की समृद्धि के फलस्वरूप ई० सन् १२३० मे सोम सिंहदेव के राज्यकाल मे पोरवाड वशी सेठ तेजपाल ने आबूपर्वत पर उक्त आदिनाथ मदिर के समीप ही वह नेमिनाथ मदिर बनवाया जो अपनी शिल्पकला मे केवल उस प्रथम मदिर से ही तुलनीय है। १२ वी १३ वी शताब्दी मे आबू पर और भी अनेक जैन मदिरो का निर्माण हुआ था, जिससे उस स्थान का नाम देलवाडा (देवलवाडा) अर्थात् देवो का नगर पड गया। आबू के अतिरिक्त काठियावाड के शत्रुजय और गिरनार तीर्थक्षेत्रो की ओर भी अनेक नरेशों और सेठो का ध्यान गया और परिणामत वहा के शिखर भी अनेक सुन्दर और विशाल मदिरो से अलकृत हो गये। खभात का चितामणि पार्श्वनाथ मदिर ई० सन् ११०८ मे बनवाया गया था और १२९५ मे उसका जीर्णोद्धार कराया गया था। वहा के लेखो से पता चलता है कि वह समय समय पर मालवा, सपादलक्ष तथा चित्रकूट के अनेक धर्मानुयायियो के विपुल दानो द्वारा समृद्ध बनाया गया था।

जैन सघ मे उत्तरकालीन पंथभेद—

जैन सघ मे जो भेदोपभेद, सम्प्रदाय व गण गच्छादि रूप से, समय-समय पर उत्पन्न हुए, उनका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु उनसे जैन मान्यताओ व मुनि आचार मे कोई विशेष परिवर्तन हुए हो, ऐसा प्रतीत नही होता। केवल जो दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद विक्रम की दूसरी शती के लगभग उत्पन्न हुआ, उसका मुनि-आचार पर क्रमश गभीर प्रभाव पडा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे न केवल मुनियो द्वारा वस्त्र ग्रहण की मात्रा बढी, किंतु धीरे-धीरे तीर्थंकरो की मूर्तियो मे भी कोपीन का चिह्न प्रदर्शित किया जाने लगा। तथा मूर्तियो का आख, अगी, मुकुट आदि द्वारा अलकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया। इस कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर मदिर व मूर्तियाँ

जो पहले एक ही रहा करते थे, वे अब पृथक् पृथक् होने लगे। ये प्रवृत्तिया सातवी आठवी शती से पूर्व नही पाई जाती। एक और प्रकार से मुनि-सघ मे भेद दोनो सम्प्रदायो मे उत्पन्न हुआ। जैन मुनि आदित वर्षा ऋतु के चातुर्मास को छोड अन्य काल मे एक स्थान पर परिमित दिनो से अधिक नही ठहरते थे, और सदा विहार किया करते थे। वे नगर मे केवल आहार व धर्मोपदेश निमित्त ही आते थे, और शेषकाल वन, उपवन, मे ही रहते थे, किन्तु धीरे-धीरे पाचवी छठवी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयो मे स्थायी रूप से निवास करने लगे। इससे श्वेताम्बर समाज मे वनवासी और चैत्यवासी मुनि सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी प्राय उसी काल से कुछ साधु चैत्यो मे रहने लगे। यह प्रवृत्ति आदित सिद्धात के पठन-पाठन व साहित्य-स्रजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है किन्तु धीरे-धीरे वह एक वर्ग की स्थायी जीवन प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मदिरो मे भट्टारको की गद्दिया व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार के भट्टारको के आचार मे कुछ शैथिल्य तथा परिग्रह अनिवार्यत आ गया। किन्तु दूसरी ओर उससे एक बडा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गद्दियो और मठो मे विशाल शास्त्र भडार स्थापित हो गये और वे विद्याभ्यास के सुदृढ केन्द्र बन गये। नौवी दसवी शताब्दी से आगे जो जैन साहित्य स्रजन हुआ, वह प्राय इसी प्रकार के विद्या-केन्द्रो मे हुआ पाया जाता है। इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गद्दिया धीरे-धीरे प्राय सभी नगरो मे स्थापित हो गई, और मदिरो मे अच्छा शास्त्र-भडार भी रहने लगा। यही प्राचीन शास्त्रो की लिपियाँ प्रतिलिपियाँ होकर उनका नाना केन्द्रो मे आदान-प्रदान होने लगा। यह प्रणाली ग्रन्थो के यत्रो द्वारा मुद्रण के युग प्रारम्भ होने से पूर्व तक बराबर अविच्छिन्न बनी रही। जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारजा, मूडबिद्री, कोल्हापुर आदि स्थानो पर इन शास्त्र भडारो की परम्परा आज तक भी स्थिर है।

१५ वी, १६ वी शती मे उक्त जैन सम्प्रदायो मे एक औरमहान् क्रान्ति उत्पन्न हुई। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे लोकाशाह द्वारा मूर्तिपूजा विरोधी उपदेश प्रारम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सप्रदाय की स्थापना हुई। यह सम्प्रदाय ढू ढिया नाम से भी पुकारा जाता है। इस सम्प्रदाय मे मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है। वे मदिर नही, किन्तु स्थानक मे रहते हैं और वहाँ मूर्ति नही, आगमो की प्रतिष्ठा करते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगमो मे से कोई बारह-चौदह आगमो को वे इस कारण स्वीकार नही करते, क्योकि उनमे मूर्तिपूजा का विधान पाया जाता है। इसी सम्प्रदाय में से १८ वी शती मे

आचार्य भिक्षु द्वारा 'तेरापंथ' की स्थापना हुई। वर्तमान के इस सम्प्रदाय के नायक तुलसी गणि हैं, जिन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी १६ वीं शती में तारण स्वामी द्वारा मूर्ति पूजा निषेधक ग्रंथ की स्थापना हुई, जो तारणपंथ कहलाता है। इस पंथ के अनुयायी विशेषरूप से मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं। इन दिगम्बर–श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेदों का परिणाम जैन गृहस्थ समाज पर भी पड़ा, जिसके कारण जैनधर्म के अनुयायी आज इन्हीं पंथों में बँटे हुए हैं। इस समय भारतवर्ष में जैनधर्मानुयायियों की संख्या पिछली भारतीय जनगणना के अनुसार लगभग २० लाख है।

व्याख्यान—२

जैन साहित्य

व्याख्यान—२

जैन साहित्य

साहित्य का द्रव्यात्मक और भावात्मक स्वरूप—

भारत का प्राचीन साहित्य प्रधानतया धार्मिक भावनाओ से प्रेरित और प्रभावित पाया जाता है। यहाँ का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेदादि वेदो मे है, जिनमे प्रकृति की शक्तियो, जैसे अग्नि, वायु, वरुण,(जल), मित्र, (सूर्य), द्यावा-पृथ्वी(आकाश और भूमि)उष (प्रात)आदि को देवता मानकर उनकी वन्दना और प्रार्थना सूक्तो व ऋचाओ के रूप मे की गई है। वेदो के पश्चात रचे जाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थो मे उन्ही वैदिक देवताओ का वैदिक मन्त्रो द्वारा आह्वान कर होम आदि सहित पूजा-अर्चा की विधियो का विवरण दिया गया है, और उन्ही के उदाहरण स्वरूप उनमे यज्ञ कराने वाले प्राचीन राजाओ आदि महापुरुषो तथा यज्ञ करने वाले विद्वान ब्राह्मणो के अनेक आख्यान उपस्थित किये गये है। सूत्र ग्रन्थो की एक शाखा श्रौत सूत्र है, जिसमे सूत्र रूप से यज्ञविधियो के नियम प्रतिपादित किये गये हैं, और दूसरी शाखा गृह्यसूत्र है, जिसमे गृहस्थो के घरो मे गर्भाधान, जन्म, उपनयन, विवाह आदि अवसरो पर की जाने वाली धार्मिक विधियो व सस्कारो का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह समस्त वैदिक साहित्य पूर्णत· धार्मिक पाया जाता है।

इसी वैदिक साहित्य का एक अग आरण्यक और उपनिषत् कहलाने वाले वे ग्रन्थ हैं, जिनमे भारत के प्राचीनतम दर्शन-शास्त्रियो का तत्वचिंतन प्राप्त होता है। यो तो—

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्।
> कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ॥ (ऋ १०, १२९, ६)

अर्थात कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहा से उत्पन्न हुई? ऐसे तत्वचिंतनात्मक विचारो के दर्शन हमे वेदो मे भी होते हैं।

तथापि न तो वहा इन विचारो की कोई अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती, और न उक्त प्रश्नो के समाधान का कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया गया दिखाई देता, इस प्रकार का चिंतन आरण्यको और उपनिषदो मे हमे बहुलता से प्राप्त होता है। इन रचनाओ का प्रारम्भ ब्राह्मण काल मे अर्थात् ई०पू० आठवी शताब्दी के लगभग हो गया था, और सहस्रो वर्ष पश्चात् तक निरन्तर प्रचलित रहा जिसके फलस्वरूप संस्कृत साहित्य मे सैकडो उपनिषत् ग्रन्थ पाये जाते है। ये ग्रन्थ केवल अपने विषय और भावना की दृष्टि से ही नही, किन्तु अपनी ऐतिहासिक व भौगोलिक परम्परा द्वारा शेष वैदिक साहित्य से अपनी विशेषता रखते हैं। जहाँ वेदो मे देवी देवताओ का आह्वान, उनकी पूजा-अर्चा तथा सासारिक सुख और अभ्युदय सम्बन्धी वरदानो की माँग की प्रधानता है, वहाँ उपनिषदो मे उन समस्त बातो की कठोर उपेक्षा, और तात्विक एव आध्यात्मिक चिंतन की प्रधानता पाई जाती है। इस चिंतन का आदि भौगोलिक केन्द्र वेद-प्रसिद्ध पचनद प्रदेश व गगा-यमुना से पवित्र मध्य देश न होकर वह पूर्व प्रदेश है जो वैदिक साहित्य मे धार्मिक दृष्टि से पवित्र नही माना गया। अध्यात्म के आदि-चिंतक, वैदिक ऋषि व ब्राह्मण पुरोहित नही, किन्तु जनक जैसे क्षत्रिय राजर्षि थे, और जनक की ही राजसभा मे यह आध्यात्मिक चिंतनधारा पुष्ट हुई पाई जाती है।

जैनधर्म मूलतः आध्यात्मिक है, और उसका आदित सम्बन्ध कोशल, काशी, विदेह आदि पूर्वीय प्रदेशो के क्षत्रियवशी राजाओ से पाया जाता है। इसी पूर्वी प्रदेश मे जैनियो के अधिकाश तीर्थंकरो ने जन्म लिया, तपस्या की, ज्ञान प्राप्त किया और अपने उपदेशो द्वारा वह ज्ञानगगा बहाई जो आजतक जैनधर्म के रूप मे सुप्रवाहित है। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय राजवशी थे। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जनक के ही एक पूर्वज नमि राजा जैनधर्म के २१ वे तीर्थंकर हुए है। अतएव कोई आश्चर्य की बात नही जो जनक-कुल मे उस आध्यात्मिक चिंतन की धारा पाई जाय जो जैनधर्म का मूलभूत अग है। उपनिषत्कार पुकार पुकार कर कहते हैं कि—

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ॥ (कठो १, ३, १२)

+ + + +

> हन्त तेऽदम् प्रवक्ष्यामि गुह्य ब्रह्म सनातनम्।
> यथा च मरण प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिन ।
स्थाणुमन्येऽनुसयन्ति यथाकर्म यथाश्रुत ॥ (कठो २, २, ६-७)

अर्थात् प्राणिमात्र मे एक अनादि अनन्त सजीव तत्व है जो भौतिक न होने के कारण दिखाई नही देता। वही आत्मा है। मरने के पश्चात् यह आत्मा अपने कर्म व ज्ञान की अवस्थानुसार वृक्षों से लेकर ससार की नाना जीव-योनियो मे भटकता फिरता है, जबतक कि अपने सर्वोत्कृष्ट चरित्र और ज्ञान द्वारा निर्वाण पद प्राप्त नही कर लेता। उपनिषत् मे जो यह उपदेश गौतम को नाम लेकर सुनाया गया है, वह हमे जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उन उपदेशो का स्मरण कराये विना नही रहता, जो उन्होने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को गौतम नाम से ही सबोधन करके सुनाये थे और जिन्हे उन्ही गौतम ने बारह अगो मे निबद्ध किया, जो प्राचीनतम जैन साहित्य है और द्वादशाग आगम या जैन श्रुताग के नाम से प्रचलित हुआ पाया जाता है।

महावीर से पूर्व का साहित्य—

प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर से पूर्व का भी कोई जैन साहित्य है ? इसका उत्तर हा और ना दोनो प्रकार से दिया जा सकता है। साहित्य के भीतर दो तत्वो का ग्रहण होता है, एक तो उसका शाब्दिक व रचनात्मक स्वरूप और दूसरा आर्थिक व विचारात्मक स्वरूप। इन्ही दोनो बातो को जैन परम्परा मे द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत कहा गया है। द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर से पूर्व कोई जैन साहित्य उपलभ्य नही है, किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन श्रुतागो के भीतर कुछ ऐसी रचनाएँ मानी गई है जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा में प्रचलित थी, और इसी कारण उन्हे 'पूर्व' कहा गया है द्वादशाग आगम का बारहवा अग दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ऐसे चौदह पूर्वो का उल्लेख किया गया है जिनमे महावीर से पूर्व की अनेक विचार-धाराओ, मत-मतान्तरो तथा ज्ञान-विज्ञान का सकलन उनके शिष्य गौतम द्वारा किया गया था। इन चौदह पूर्वो के नाम इस प्रकार है, जिनसे उनके विषयो का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है (उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञान-प्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद कल्याणवाद (श्वेताम्बर परम्परानुसार अवन्ध्य), प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोक-विन्दुसार) प्रथम पूर्व उत्पाद मे जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्यो

के उत्पत्ति, विनाश व ध्रुवता का विचार किया गया था। द्वितीय पूर्व अग्रायणीय मे उक्त समस्त द्रव्यों तथा उनकी नाना अवस्थाओं की संख्या, परिमाण आदि का विचार किया गया था। तृतीय पूर्व वीर्यानुवाद मे उक्त द्रव्यों के क्षेत्रकालादि की अपेक्षा से वीर्य अर्थात् बल-सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया था। चतुर्थ पूर्व अस्ति-नास्ति प्रवाद म लौकिक वस्तुओ के नाना अपेक्षाओं से अस्तित्व नास्तित्व का विवेक किया गया था। पाँचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद मे मति आदि ज्ञानो तथा उनके भेद प्रभेदो का प्रतिपादन किया गया था। छठे पूर्व सत्यप्रवाद मे वचन की अपेक्षा सत्यासत्य विवेक व वक्ताओ की मानसिक परिस्थितियो तथा असत्य के स्वरूपो का विवेचन किया गया था। सातवें पूर्व आत्मप्रवाद मे आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठवें पूर्व कर्मप्रवाद मे नाना प्रकार के कर्मों की प्रकृतियो स्थितियो शक्तियो व परिमाणो आदि का प्ररूपण किया गया था। नौवें पूर्व प्रत्याख्यान मे परिग्रह-त्याग उपवासादि विधि, मन वचन काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये थे। दसवे पूर्व विद्यानुवाद मे नाना विद्याओ और उपविद्याओ का प्ररूपण किया गया था, जिनके भीतर अंगुष्ट प्रसेनादि सातसौ अल्पविद्याओ, रोहिणी आदि पाँचसौ महाविद्याओ एव अन्तरिक्ष भौम, अग, स्वर स्वप्न, लक्षण व्यजन और छिन्न इन आठ महानिमित्तो द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। ग्यारहवें पूर्व कल्याणवाद मे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागणो की नाना गतियो को देखकर शकुन के विचार तथा बलदेवो, वासुदेवो चक्रवर्तियो आदि महापुरुषो के गर्भावतरण आदि के अवसरो पर होने वाले लक्षणो और कल्याणो का कथन किया गया था। इस पूर्व के अवन्ध्य नाम की सार्थकता यही प्रतीत होती है कि शकुनो और शुभाशुभ लक्षणो के निमित्त से भविष्य मे होने वाली घटनाओ का कथन अवन्ध्य अर्थात् अवश्यम्भावी माना गया था। बारहवें पूर्व प्राणावाय मे आयुर्वेद अर्थात् कायचिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन एव प्राण अपान आदि वायुओ का शरीर धारण की अपेक्षा से कार्य का विवेचन किया गया था। तेरहवें पूर्व क्रियाविशाल मे लेखन, गणना आदि बहत्तर कलाओ, स्त्रियो के चौंसठ गुणो और शिल्पो, ग्रन्थ रचना सम्बन्धी गुण-दोषो व छन्दो आदि का प्ररूपण किया गया था। चौदहवें पूर्व लोकबिन्दुसार मे जीवन की श्रेष्ठ क्रियाओ व व्यवहारो एव उनके निमित्त से मोक्ष के सम्पादन विषयक विचार किया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पूर्व नामक रचनाओ के अन्तर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विचारो का सकलन किया गया था, किन्तु उनके भीतर

नाना कलाओ व ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानो तथा फलित ज्योतिष, शकुन शास्त्र, व मन्त्र-तन्त्र आदि विषयो का भी समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार ये रचनाएँ प्राचीनकाल का भारतीय ज्ञानकोष कही जाय तो अनुचित न होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व साहित्य सुरक्षित नही रह सका। यद्यपि पाश्चात्कालीन साहित्य मे इनका स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है, और उनके विषय का पूर्वोक्त प्रकार प्ररूपण भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है, तथापि ये ग्रन्थ महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् क्रमश. विच्छिन्न हुए कहे जाते है। उक्त समस्त पूर्वो के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। तत्पश्चात् १८१ वर्षों मे हुए विशाखाचार्य से लेकर धर्मसेन तक अन्तिमचार पूर्वों को छोड, शेष दश पूर्वो का ज्ञान रहा, और उसके पश्चात् पूर्वो का कोई ज्ञाता आचार्य नही रहा। षट्खडागम के वेदना नामक चतुर्थखण्ड के आदि मे जो नमस्कारात्मक सूत्र पाये जाते है, उनमे दशपूर्वों के और चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनियो को अलग अलग नमस्कार किया गया है (नमो दसपुव्वियाण, नमो चउद्दसपुव्वियाण)। इन सूत्रोकी टीका करते हुए वीर सेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रथम दशपूर्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ मुनियो को नाना महाविद्याओ की प्राप्ति से सासारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो जाता है, । जिससे वे आगे वीतरागता की ओर नही बढ पाते। जो मुनि इस लोभ मोह को जीत लेता है, वही पूर्ण श्रुतज्ञानी बन पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वो मे कलाओ, विद्याओ, मन्त्र तन्त्रो व इन्द्रजालो का प्ररूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनियो के सयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वो के विछिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनियो के लिये उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशाग के अन्य भागो मे समाविष्ट कर लिया गया था, इसीलिए इन रचनाओ के पठन-पाठन मे समय-शक्ति को लगाना उचित नही समझा गया। इसी बात की पुष्टि दिग० साहित्य की इस परम्परा से होती है कि वीर निर्वाण के लगभग सात शताब्दियो पश्चात् हुए गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकारो का विशेष ज्ञान था उन्होने वही ज्ञान पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यो को प्रदान किया और उन्होने उसी ज्ञान के आधार से सत्कर्मप्राभृत अर्थात् षट्खडागम की सूत्र रूप रचना की।

अग-प्रविष्ट व अंग-वाह्य साहित्य—

दिग० परम्परानुसार महावीर द्वारा उपदिष्ट साहित्य की ग्रथ-रचना उनके शिष्यो द्वारा दो भागो मे की गई —एक अग-प्रविष्ट और दूसरा अग-वाह्य अग-प्रविष्ट के आचाराग आदि ठीक वे ही द्वादश ग्रन्थ थे, जिनका क्रमश लोप माना गया है, किन्तु जिनमे से ग्यारह अगो का श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर निर्वाण के पश्चात् १०वी शती मे किया गया सकलन अव भी उपलभ्य है। इनका विशेष परिचय आगे कराया जायगा। अग-वाह्य के चौदह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृति-कर्म दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका। यह अग-वाह्य साहित्य भी यद्यपि दिगम्वर परम्परानुसार अपने मूलरूप मे अप्राप्य हो गया है, तथापि श्वेताम्वर परम्परा मे उनका सद्भाव अव भी पाया जाता है। सामायिक आदि प्रथम छह का समावेश आवश्यक सूत्रो मे हो गया है, तथा कल्प व्यवहार और निशीथ सूत्रो मे अन्त के कल्प, व्यवहारादि छह का अन्तर्भाव हो जाता है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नाम की रचनाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनका श्वे आगम साहित्य मे वडा महत्व है। यही नही, इन ग्रन्थो की रचना के कारण का जो उल्लेख दिग० शास्त्रो मे पाया जाता है, ठीक वही उपलभ्य दशवैकालिक की रचना के सम्वन्ध मे कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका(१,२०) मे लिखा है कि "आरातीय आचार्यो ने कालदोप से सक्षिप्त आयु, मति और वलशाली शिष्यो के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रथो की रचना की, इन रचनाओ में उतनी ही प्रमाणता है जितनी गणधरो व श्रुतकेवलियो द्वारा रचित सूत्रो मे क्योकि वे अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जिस प्रकार कि क्षीरोदधि से घडे मे भरा हुआ जल क्षीरोदधि से भिन्न नही है।" दशवैकालिक निर्युक्ति व हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व मे वतलाया गया है कि स्वयभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक को अल्पायु जान उसके अनुग्रहार्थ आगम के साररूप दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इस प्रकार इन रचनाओ के सम्वन्ध मे दोनो सम्प्रदायो मे मतैक्य पाया जाता है। श्वे परम्परानुसार महावीर निर्वाण से १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र मे स्थूलभद्र आचार्य ने जैन श्रमण सघ का सम्मेलन कराया, और वहा ग्यारह अगो का सकलन किया गया। वारहवें अग दृष्टिवाद का उपस्थित मुनियो मे से किसी को भी ज्ञान नही रहा था, अतएव उसका सकलन नही किया जा सका। इसके पश्चात् की शताब्दियो मे यह श्रुत-सकलन पुन छिन्न-भिन्न हो गया। तब वीर निर्वाण के लगभग ८४० वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल

२—सूत्रकृतांग (सूयगडं)—यह भी दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है, जिनके पुनः क्रमशः १६ और ७ अध्ययन हैं। पहला श्रुतस्कंध प्रायः पद्यमय है। केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इसमें गाथा छन्द के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी उपयोग हुआ है, जैसे इन्द्रवज्रा, वैतालिक अनुष्टुप् आदि। ग्रन्थ में जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादों का प्ररूपण किया गया है जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, आदि। मुनियों को भिक्षाचार में सतर्कता, परीषहों की सहनशीलता, नरकों के दुःख, उत्तम साधुओं के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षुक व निर्ग्रन्थ आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भले प्रकार उदाहरणों व रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कंध में जीव-शरीर में एकत्व, ईश्वर-कर्त्तृत्व व नियतिवाद आदि मतों का खंडन किया गया है। आहार व भिक्षा के दोषों का निरूपण हुआ है। प्रसंगवश भौमोत्पातादि महा-निमित्तों का भी उल्लेख आया है। प्रत्याख्यान क्रिया बतलाई गई है। पाप-पुण्य का विवेक किया गया है, एवम् गौशालक, शाक्यभिक्षु आदि तपस्वियों के साथ हुआ वाद विवाद अंकित है। अन्तिम अध्ययन नालन्दीय नामक है, क्योंकि इसमें नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य उदक-पेठालपुत्र का वार्तालाप और अन्त में पेठालपुत्र द्वारा चातुर्याम को त्यागकर पंच-महाव्रत स्वीकार करने का वृत्तांत आया है। प्राचीन मतों वादों, व दृष्टियों के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

३—स्थानांग (ठाणांग)—यह श्रुतांग दस अध्ययनों में विभाजित है, उसमें सूत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुतांगों से भिन्न प्रकार की है। यहां प्रत्येक अध्ययन में जैन सिद्धांतानुसार वस्तु-संख्या गिनाई गई है, जैसे प्रथम अध्ययन में बतलाया गया है—एक दर्शन, एक चरित्र एक समय एक प्रदेश एक परमाणु एक सिद्ध आदि। उसी प्रकार दूसरे अध्ययन में बतलाया गया है कि क्रियाएँ दो हैं, जीव क्रिया और अजीव क्रिया। जीव क्रिया पुनः दो प्रकार की है, सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। उसी प्रकार अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है, ईर्यापथिक और साम्परायिक, इत्यादि। इसी प्रकार दसवें अध्ययन में इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक गये हैं। इस दृष्टि से यह श्रुतांग पालि बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है। यहाँ नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी अपनी दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यथास्थान ऋग्, यजु, और साम, ये तीन वेद बतलाये गये हैं, धर्म, अर्थ, और काम ये तीन प्रकार

की कथाएँ बतलाई गई है। वृक्ष भी तीन प्रकार के हैं, पत्रोपेत, पुष्पोपेत और फलोपेत। पुरुष भी नाना दृष्टियो से तीन-तीन प्रकार के हैं—जैसे नाम पुरुष, द्रव्य पुरुष और भाव पुरुष अथवा ज्ञानपुरुष, दर्शन पुरुष और चरित्रपुरुष, अथवा उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और जघन्यपुरुष। उत्तम भी तीन प्रकार के है—धर्मपुरुष, भोग पुरुष और कर्मपुरुष। अर्हन्त धर्मपुरुष है, चक्रवर्ती भोगपुरुष है, और वासुदेव कर्मपुरुष। धर्म भी तीन प्रकार का कहा गया है—श्रुतधर्म, चरित्र धर्म और अस्तिकाय धर्म। चार प्रकार की अन्त-क्रियाएँ बतलाई गई है और उनके दृष्टान्त-स्वरूप भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमार, सनत्कुमार और मरुदेवी के नाम बतलाये गये है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो को छोड बीच के २२ तीर्थंकर चातुर्याम धर्म के प्रज्ञापक कहे गये है। आजीविको का चार प्रकार का तप कहा गया है—उग्रतप, घोरतप, रसनिर्यूयणता और जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता शूरवीर चार प्रकार के बतलाये गये हैं, क्षमासूर, तपसूर, दानशूर और युद्धशूर आचार्य वृक्षो के समान चार प्रकार के बतलाये गये हैं और उनके लक्षण भी चार गाथाओ द्वारा प्रकट किये गये हैं। कोई आचार्य और उसका शिष्य परिवार दोनो शालवृक्ष के समान महान् और सुन्दर होते हैं। कोई आचार्य तो शालवृक्ष के समान होते है, किन्तु उनका शिष्य-समुदाय एरड के समान होता है। किसी आचार्य का शिष्य-समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान् होता है किंतु स्वय आचार्य एरड के समान खोखला, और कही आचार्य और उनका शिष्य-समुदाय दोनो एरड के समान खोखले होते हैं। सप्तस्वरो के प्रसग से प्राय॰ गीतिशास्त्र का पूर्ण निरूपण आ गया है। यहाँ भणिति बोली दो प्रकार की कही गई है—सस्कृत और प्राकृत। महावीर के तीर्थ मे हुए बहुरत आदि सात निन्हवो और जामालि आदि उनके सस्थापक आचार्यो एव उनके उत्पत्ति-स्थान श्रावस्ती आदि नगरियो का उल्लेख भी आया है। महावीर के तीर्थ मे जिन नौ पुरुषो ने तीर्थंकर गोत्र का बध किया उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रेणिक, सुपार्श्व उदायी, प्रोष्ठिल, दृढायु, शख, सजग या शतक (सयय), सुलसा और रेवती। इस प्रकार इस श्रुताग मे नाना प्रकार का विषय-वर्णन प्राप्त होता है, जो अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है।

४ समवायाग—इस श्रुताग मे २७५ सूत्र है। अन्य कोई स्कध, अध्ययन या उद्देशक आदि रूप से विभाजन नही है। स्थानाग के अनुसार यहाँ से क्रम से वस्तुओ का निर्देश और कही कही उनके स्वरूप व भेदोपभेदो का वर्णन किया गया है, आत्मा एक है, लोक एक है, धर्म अधर्म एक-एक है, इत्यादि क्रम के २,३,४ वस्तुओ को गिनाते हुए १७८ वें सूत्र मे १०० तक

सख्या पहुँची है, जहाँ बतलाया गया है कि शतभिषा नक्षत्र मे १०० तारे है, पार्श्व अरहत तथा सुधर्माचार्य की पूर्णायु सौ वर्ष की थी इत्यादि । इसके पश्चात् २००, ३०० आदि क्रम से वस्तु-निर्देश आगे बढ़ा है । और यहाँ कहा गया है कि श्रमण भगवान महावीर के तीन सौ शिष्य १४ पूर्वों के ज्ञाता थे, और ४०० वादी थे । इसी प्रकार शतक्रम से १६१ वें सूत्र पर सख्या दस सहस्र पर और पहुच गई है । तत्पश्चात् सख्या शतसहस्र (लाख) के क्रम मे बढ़ी है, जैसे अरहन्त पार्श्व के तीन शत-सहस्र और सत्ताईस सहस्र उत्कृष्ट श्राविका सघ था । इस प्रकार २०८ वें सूत्रतक दशशत-सहस्र पर पहुच कर आगे कोटि क्रम से कथन करते हुए २१० वें सूत्र मे भगवान ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर वर्द्धमान तक का अन्तरकाल एक सागरोपम कोटा-कोटि निर्दिष्ट किया गया है । तत्पश्चात् २११ वें से २२७ वें सूत्र तक आयारांग आदि बारहों अगो के विभाजन और विषय का सक्षिप्त परिचय दिया गया है । यहाँ इन रचनाओ को द्वादशांग गणिपिटक कहा गया है । इनके पश्चात् जीवराशि का विवरण करते हुए स्वर्ग और नरक भूमियो का विवरण पाया जाता है । २४६ वें सूत्र से अन्त के २७५ वें सूत्र तक कुलकरो, तीर्थंकरो चक्रवर्तियो तथा बलदेव और वासुदेवो एव उनके प्रतिशत्रुओ (प्रतिवासुदेवो) का उनके पिता, माता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि नामावली-क्रम से विवरण किया गया है । इस भाग को हम सक्षिप्त में जैन पुराण कह सकते हैं । (विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सूत्र क्र १३२ मे उत्तम (शलाका) पुरुषो की सख्या ५४ निर्दिष्ट की गई है, ६३ नही अर्थात् नौ प्रतिवासुदेवो को शलाका पुरुषो मे सम्मिलित नही किया गया) ४६ सख्या के प्रसग में दृष्टिवाद अग के मातृका-पदो तथा ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरो का उल्लेख हुआ है । सूत्र १२४ से १३० वें सूत्र तक मोहनीय कर्म के ५२ पर्यायवाची नाम गिनाये गये हैं, जैसे क्रोध, कोप रोष, द्वेष, अक्षम, सज्वलन, कलह आदि । अनेक स्थानो (सू० १४१, १६२) ऋषभ अरहन्त को कोसलीय विशेषण लगाया गया है, जो उनके कोशल देशवासी होने का सूचक है । इससे महावीर के साथ जो अन्यत्र 'वेसालीय' विशेषण लगा पाया जाता है, उनसे उनके वैशाली के नागरिक होने की पुष्टि होती है । १५० वे सूत्र मे लेख, गणित, रूप, नाट्य, गीत वादित्र आदि बहत्तर कलाओ के नाम निर्दिष्ट हुए हैं । इस प्रकार जैन सिद्धांत व इतिहास की परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग महत्त्वपूर्ण है । अधिकांश रचना गद्य रूप है, किन्तु बीच बीच मे नामावलियां व अन्य विवरण गाथाओ द्वारा भी प्रस्तुत हुए हैं ।

५-भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाह-पण्णत्ति)—इसे संक्षेप में केवल भगवती नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशकों में विभाजित है। आदि के आठ शतक, तथा १२-१४, तथा १८-२० ये १४ शतक १०, १० उद्देशकों में विभाजित हैं। शेष शतकों में उद्देशकों की संख्या हीनाधिक पाई जाती है। पन्द्रहवें शतक में उद्देशक भेद नहीं है। यहाँ मक्खलिगोशाल का चरित्र एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कहीं कहीं उद्देशक संख्या विशेष प्रकार के विभागानुसार गुणित क्रम से बतलाई गई है, जैसे ४१ वें शतक में २८ प्रकार की प्ररूपणा के गुणाकार से उद्देशकों की संख्या १९६ हो गई है। ३३ वें शतक में १२ अवान्तर शतक हैं, जिनमें प्रथम आठ, ग्यारह के गुणित क्रम से ८८ उद्देशकों में एवं अन्तिम चार, नौ उद्देशकों के गुणित क्रम से ३६ होकर सम्पूर्ण उद्देशकों की संख्या १२४ हो गई है। इस समस्त रचना का सूत्र-क्रम से ही विभाजन पाया जाता है, जिसके अनुसार कुल सूत्रों की संख्या ८६७ है। इस प्रकार यह अन्य श्रुतांगों की अपेक्षा बहुत विशाल है। इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप में है। (गौतम गणधर जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करते हैं, और स्वयं तीर्थंकर महावीर उत्तर देते हैं। टीकाकार अभयदेव ने इन प्रश्नोत्तरों की संख्या ३६००० बतलाई है। प्रश्नोत्तर कहीं बहुत छोटे छोटे हैं। जैसे भगवन् ज्ञान का क्या फल है ?—विज्ञान। विज्ञान का क्या फल है ? प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का फल क्या है ? संयम, इत्यादि। और कहीं ऐसे बड़े कि प्रायः एक ही प्रश्न के उत्तर में मक्खलिगोशाल के चरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवां शतक ही पूरा हो गया है। इन प्रश्नोत्तरों में जैन सिद्धान्त व इतिहास तथा अन्य सामयिक घटनाओं व व्यक्तियों का इतना विशाल संकलन हो गया है कि इस रचना को प्राचीन जैन-कोष ही कहा जाय तो अनुचित नहीं। स्थान-स्थान पर विवरण अन्य ग्रन्थों, जैसे पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाइय, रायपसेणिज्ज, णंदी आदि का उल्लेख करके संक्षिप्त कर दिया गया है, और इस प्रकार उद्देशक के उद्देशक भी समाप्त कर दिये गये हैं। ये उल्लिखित रचनायें निश्चय ही ग्यारह श्रुतांगों से पश्चात्-कालीन हैं। नंदीसूत्र तो वल्लभी वाचना के नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही रचना मानी जाती है। उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से, तथा यहाँ के विषय-विवरण को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की सूचना से यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को अपना वर्तमान रूप, नंदीसूत्र की रचना के पश्चात् अर्थात् वीर० निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ है। यही बात प्रायः अन्य श्रुतांगों के सम्बन्ध में भी घटित होती है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि विषय-वर्णन प्राचीन है,

और आचार्य परम्परागत है। इसमें हमे महावीर के जीवन के अतिरिक्त उनके अनेक शिष्यो गृहस्थ-अनुयायियो तथा अन्य तीर्थको का परिचय मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से वडा महत्वपूर्ण है। आजीवक सम्प्रदाय के सस्थापक मखलिगोशाल के जीवन का जितना विस्तृत परिचय यहा मिलता है, उतना अन्यत्र कही नही। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्यो अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयाइयो, तथा उनके द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख मिलते है, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के समय मे यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतत्र रूप से प्रचलित था। उसका महावीर द्वारा प्रतिपादित पचमहाव्रत रूप धर्म से वडा घनिष्ठ सम्वन्ध था, एव उसका क्रमश महावीर के सम्प्रदाय मे समावेश होना प्रारम्भ हो गया था। ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से सातवे शतक मे उल्लिखित, वैशाली मे हुए महाशिलाकण्टक सग्राम तथा रथ-मुसल सग्राम, इन दो महायुद्धो का वर्णन अपूर्व है। कहा गया है कि इन युद्धो मे एक ओर वज्जी एव विदेह-पुत्र थे, और दूसरी ओर नौ मल्लकी नौ लिच्छवी, काशी, कौशल एव अठारह गण-राजा थे। इन युद्धो मे वज्जी, विदेहपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध मे ८४ और दूसरे युद्ध मे ९६ लाख लोग मारे गये। (२१, २२ और २३ वे शतक बनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से वडे महत्वपूर्ण हैं। यहाँ नाना-प्रकार से बनस्पति का वर्गीकरण किया गया है, एव उनके कद, मूल, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के सजीवत्व, निर्जीवत्व की दृष्टि से विचार किया गया है)।

६—ज्ञातधर्म कथा (नायाधम्मकहाओ)—यह आगम दो श्रुतस्कधो मे विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कध में १९ अध्याय है। इसके नाम की सार्थकता दो प्रकार से समझाई जाती है। एक तो सस्कृत रूपान्तर ज्ञातृधर्मकथा के अनुसार, जिससे प्रगट होता है कि श्रुताग मे ज्ञातृ 'अर्थात् ज्ञातृपुत्र' महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्मकथाओ का प्ररूपण है। दूसरा सस्कृत रूपान्तर न्यायधर्मकथा भी सम्भव है, जिसके अनुसार इसमे न्यायो अर्थात् ज्ञान व नीति सबधी सामान्य नियमो और उनके दृष्टान्तो द्वारा समझाने वाली कथाओ का समावेश है। रचना के स्वरूप को देखते हुए यह द्वितीय सस्कृत रूपान्तर ही उचित प्रतीत होता है, यद्यपि प्रचलित नाम ज्ञातृधर्मकथा पाया जाता है। प्रथम अध्ययन मे राजगृह के नरेश श्रेणिक के धारिणी देवी से उत्पन्न राजपुत्र मेघ-कुमार का कथानक है। जव राजकुमार वैभवानुसार वालकपन को व्यतीत कर व समस्त विद्याओ और कलाओ को सीखकर युवावस्था को प्राप्त हुआ, तव उसका अनेक राजकन्याओ से विवाह हो गया। एक वार महावीर के उपदेश

को सुनकर मेघकुमार को मुनिदीक्षा धारण करने की इच्छा हुई। माता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु राजकुमार नहीं माना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण करली। मुनि-धर्म पालन करते हुए एकबार उसके हृदय मे कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ, और उसे प्रतीत हुआ जैसे मानो उसने राज्य छोड, मुनि दीक्षा लेकर भूल की है। किन्तु जब महावीर ने उसके पूर्व जन्म का वृतान्त सुनाकर समझाया, तब उसका चित्त पुन मुनिधर्म मे दृढ हो गया। इसी प्रकार अन्य अन्य अध्ययनो मे भिन्न भिन्न कथानक तथा उनके द्वारा तप त्याग व सयम सबधी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। आठवें अध्ययन मे विदेह राजकन्या मल्लि एव सोलहवें अध्ययन के द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रतकथाओ मे सुप्रचलित सुगन्ध-दशमी कथा का मूलाधार द्रौपदी के पूर्वभव मे नागश्री व सुकुमालिया का चरित्र सिद्ध होता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध दस वर्गो मे विभाजित है, और प्रत्येक वर्ग पुन अनेक अध्ययनो मे विभक्त है। इन वर्गो मे प्राय स्वर्गो के इन्द्रो जैसे चमरेन्द्र, असुरेन्द्र वाणव्यतरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शक्र व ईशान की अग्रमहिषी रूप मे उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियो की कथाएँ है। तीसरे वर्ग मे देवकी के पुत्र गजसुकुमाल का कथानक विशेष उल्लेखनीय है, क्योकि यह कथानक पीछे के जैन साहित्य मे पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। यही कथानक हमे पालि महावग्ग मे यस पब्बज्जा के रूप में प्राप्त होता है।

७—उपासकाध्ययन (उवासगदसाओ)—इस श्रुताग मे, जैसा नाम में ही सूचित किया गया है, दश अध्ययन है, और उनमें क्रमश आनन्द, कामदेव, चुलनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुडकोलिय, सद्दालपुत्र, महाशतक, नदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय इन दस उपासको के कथानक हैं। इन कथानको के द्वारा जैन गृहस्थो के धार्मिक नियम समझाये गये हैं। और यह भी बतलाया गया है कि उपासको को अपने धर्म के परिपालन मे कैसे कैसे विघ्नो और प्रलोभनो का सामना करना पडता है। प्रथम आनन्द अध्ययन मे पाच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो—इन बारह व्रतो तथा उनके अतिचारो का स्वरूप विस्तार मे समझाया गया है। इनका विधिवत् पालन वाणिज्य ग्राम के जैन गृहस्थ आनद ने किया था। आनन्द बडा धनी गृहस्थ था, जिसकी धन्य-धान्य सम्पत्ति करोडो स्वर्ण मुद्राओ की थी। आनद ने स्वय भगवान् महावीर से गृहस्थ-व्रत लेकर अपने समस्त परिग्रह और भोगोपभोग के परिणाम को सीमित किया था। उसने क्रमश अपनी धर्मसाधना को बढाकर बीस वर्ष मे इतना अवधिज्ञान प्राप्त किया था कि उसके विषय मे गौतम गण-

घर को कुछ शका हुई, जिसका निराकरण स्वय भगवान् महावीर ने किया। इस कथानक के अनुसार वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश पास-पास थे। कोल्लाग सन्निवेश मे ज्ञातृकुल की प्रौषधशाला थी, जहा का कोलाहल वाणिज्य ग्राम तक सुनाई पडता था। वैशाली के समीप जो वनिया और कोल्हुआ नामक वर्तमान ग्राम है, वे ही प्राचीन वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश सिद्ध होते है। अगले चार अध्ययनो मे धर्म के परिपालन मे बाहर से कैसी-कैसी विघ्नबाधाएँ आती है, इनके उदाहरण उपस्थित किये गये है। द्वितीय अध्ययन मे एक मिथ्यादृष्टि देव ने पिशाच आदि नाना रूप धारण कर, कामदेव उपासक को अपनी साधना छोड देने के लिये कितना डराया धमकाया, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। ऐसा ही चित्रण तीसरे, चौथे और पाचवे अध्ययनो मे भी पाया जाता है। छठवे अध्ययन मे उपासक के सम्मुख गोसाल मखलिपुत्र के सिद्धान्तो का एक देव के व्याख्यान द्वारा उसकी धार्मिक श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु वह अपने श्रद्धान मे दृढ रहता है तथा अपने प्रत्युत्तरो द्वारा प्रतिपक्षी को परास्त कर देता है। इस समाचार को जानकर महावीर ने उसकी प्रशसा की। उक्त प्रसग मे गोसाल मखलिपुत्र के नियतिवादका प्ररूपण किया गया है। सातवे अध्ययन मे भगवान महावीर आजीवक सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को सम्बोधन कर अपना अनुगामी बना लेते है। (यहा महावीर को उनके विविध महाप्रवृत्तियो के कारण महाब्राह्मण, महागोप महासार्थवाह, महाधर्मकथिक, व महानिर्यापक उपाधियाँ दी गई है)। तत्पश्चात् उसके सम्मुख पूर्वोक्त प्रकार का दैवी उपसर्ग उत्पन्न होता है, किन्तु वह अपने श्रद्धान मे अडिग बना रहता है, और अन्त तक धर्म पालन कर स्वर्गगामी होता है। आठवे अध्ययन मे उपासक को उसकी अधार्मिक व मासलोलुपी पत्नी द्वारा धर्म-बाधा पहुचाई जाती है। अन्त के कथानक बहुत सक्षेप में शातिपूर्वक धर्मपालन के उदाहरण रूप कहे गये हैं। ग्रन्थ के अन्त की बारह गाथाओ में उक्त दसो कथानको के नगर आदि के उल्लेखो द्वारा सार प्रगट कर दिया गया है। इस प्रकार यह श्रुताग आचाराग का परिपूरक है, क्योकि आचाराग में मुनिधर्म का और इसमें गृहस्थ धर्म का निरूपण किया गया है। आनन्द आदि महासम्पत्तिवान् गृहस्थो का जीवन कैसा था, इसका परिचय इस ग्रन्थ से भलीभाति प्राप्त होता है।

८-अन्तकृद्दशा-(अतगडदसाओ)—इस श्रुताग में आठ वर्ग हैं, जो क्रमश १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३, और १० अध्ययनो में विभाजित हैं। इनमे ऐसे महापुरुषो के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होने

महापुरुषो के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होने घोर तपस्या कर अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया, और इसी के कारण वे अन्तकृत् कहलाये। यहा कोई कथानक अपने रूप मे पूर्णता से वर्णित नही पाया जाता। अधिकाश वर्णन अन्यत्र के वर्णनानुसार पूरा कर लेने की सूचना मात्र करदी गई है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्ययन मे गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अधकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर, कह दिया गया है कि यहा स्वप्न दर्शन, पुत्र-जन्म, उसका बालकपन, कला-ग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रमाद और भोगो का वर्णन जिस प्रकार महाबल की कथा मे अन्यत्र (भगवती मे) किया गया है, उसी प्रकार यहा कर लेना चाहिये। आगे तो अध्ययन के अध्ययन केवल आख्यान के नायक या नायिका का नामोल्लेख मात्र करके शेष समस्त वर्णन अन्य आख्यान द्वारा पूरा कर लेने की सूचना देकर समाप्त कर दिये गये हैं। इस श्रुताग के नाम पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे उवासगदासाओ के समान मूलत दस ही अध्याय रहे होगे। पश्चात् पल्लवित होकर ग्रन्थ को उसका वर्तमान रूप प्राप्त हुआ।

९ अनुत्तरोपपातिक दशा (अणुत्तरोवाइय दसाओ) – इस श्रुताग मे कुछ ऐसे महापुरुषो का चरित्र वर्णित है, जिन्होने अपनी धर्म-साधना के द्वारा मरणकर उन अनुत्तर स्वर्ग विमानो मे जन्म लिया जहा से पुन केवल एक बार ही मनुष्य योनि मे आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह श्रुताग तीन वर्गो मे विभाजित है। प्रथम वर्ग मे १० द्वितीय मे १३ व तृतीय मे १० अध्ययन है। किन्तु इनमे चरित्रो का उल्लेख केवल सूचना मात्र से कर दिया गया है। केवल प्रथम वर्ग मे धारणीपुत्र जाली तथा तीसरे मे भद्रापुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णित है। उल्लिखित ३३ अनुत्तरविमानगामी पुरुषो मे से प्रथम २३ राजा श्रेणिक की धारणी, चेलना व नदा, इन तीन रानियो से उत्पन्न कहे गये हैं। और अन्त के धन्य आदि दस काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा के पुत्र। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन मे धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण उसके अग प्रत्यगो की क्षीणता का बड़ा मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। यह वर्णन पालि ग्रथो मे बुद्ध की तप से उत्पन्न देहक्षीणता का स्मरण कराता है।

१० प्रश्न व्याकरण (पण्ह-वागरण)—यह श्रुताग दो खडो मे विभाजित है। प्रथम खड मे पाच आस्रवद्वारो का वर्णन है, और दूसरे मे पाच सवरद्वारो का पाँच आस्रवद्वारो मे हिंसादि पाँच पापो का विवेचन है, और सवरद्वारो मे उन्ही के निषेध रूप अहिंसादि व्रतो का। इस प्रकार इसमे उक्त व्रतो का सुव्यवस्थित

वर्णन पाया जाता है। किन्तु इस विषय-वर्णन से श्रुतांग के नाम की सार्थकता का कोई पता नही चलता। स्थानांग, समवायांग तथा नन्दीसूत्र मे जो इस श्रुतांग का विषय-परिचय दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि मूलत इसमें स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विद्याओ व मन्त्रो आदि का प्रश्नोत्तर रूप से विवेचन किया गया था, किन्तु यह विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में अब प्राप्त नहीं होता।

११. विपाक सूत्र (विवाग सुयं) – इस श्रुतांग मे दो श्रुतस्कध हैं, पहला दु ख-विपाक विषयक और दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रथम श्रुत-स्कध दूसरे की अपेक्षा बहुत बडा है। प्रत्येक मे दस-दस अध्ययन है, जिनमे क्रमश. जीव के कर्मानुसार दु ख और सुख रूप कर्मफलो का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। उसके उदाहरणो के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यहाँ लकडी टेककर चलते हुए व भिक्षा मांगते हुए कहीं एक अन्धे मनुष्य का दर्शन होगा, कही श्वास, कफ, भगंदर, अर्श, खाज, यक्ष्मा व कुष्ट आदि से पीडित मनुष्यो के दर्शन होंगे। नाना व्याधियो के औषधि-उपचार का विवरण भी मिलता है। गर्भिणी स्त्रियो के दोहले, भ्रूण-हत्या, नरबलि, क्रूर अमानुषिक द ड वेश्याओ के प्रलोभनो, नाना प्रकार के मांस संस्कारो, पकाने की विधि आदि के वर्णन भी यहाँ मिलते है। उनके द्वारा हमे प्राचीन काल की नाना सामाजिक विधियो, मान्यताओ एव अन्धविश्वासो का अच्छा परिचय प्राप्त होता हैं। इस प्रकार सामाजिक अध्ययन के लिये यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है।

१२ दृष्टिवाद (दिट्ठिवाद) – यह श्रुतांग अब नही मिलता। समवायांग के अनुसार इसके पाँच विभाग थे–परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इन पांचो के नाना भेद-प्रभेदो के उल्लेख पाये जाते है। जिन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवरण था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय, व चतुर्नय की परिपाटियो का विवरण था। छिन्न छेद व चतुर्नय परिपाटिया निर्ग्रन्थो की एव अछिन्न छेद नय और त्रिक नय परिपाटियाँ आजीविको की थी। पीछे इन सबका समावेश जैन नयवाद मे हो गया। दृष्टिवाद का पूर्वगत विभाग सबसे अधिक विशाल और महत्वपूर्ण रहा है। इसके अन्तर्गत उत्पाद, आग्रायणी, वीर्यप्रवाद आदि के १४ पूर्व थे जिनका परिचय ऊपर कराया जा चुका है। अनुयोग नामक दृष्टिवाद के चतुर्थ भेद के मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग–ये दो भेद बतलाये गये है। प्रथम मे अरहन्तो के गर्भ, जन्म, तप

ज्ञान और निर्वाण सबंधी इतिवृत्त समाविष्ट किया गया था, और दूसरे मे कुल-कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अन्य महापुरुषो के चरित्र का। इसप्रकार अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण कहा जा सकता है। दिग० जैन परम्परा मे इस भेद का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है। पचम भेद चूलिका के सबध मे समवायाग मे केवल यह सूचना पाई जाती है कि प्रथम चार पूर्वों की जो चूलिकाएँ गिनाई गई है, वे ही यहाँ समाविष्ट समझना चाहिये। किन्तु दिग० परम्परा मे चूलिका के पाँच भेद गिनाये गये हैं, जिनके नाम है — जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत इन नामो पर से प्रतीत होता है कि उनका विषय इन्द्रजाल और मन्त्र-तन्त्रात्मक था, जो जैन धर्म की तात्त्विक और समीक्षात्मक दृष्टि से आगे स्वभावत अधिक काल तक नही टिक सका।

उपांग-१२

उपर्युक्त श्रुतागो के अतिरिक्त वल्लभी वाचना द्वारा १२ उपागो, ६ छेद सूत्रो ४ मूल सूत्रो, १० प्रकीर्णको और २ चूलिका सूत्रो का भी सकलन किया गया था। (१) प्रथम उपाग औपपातिक मे नाना विचारो, भावनाओ और साधनाओ से मरने वाले जीवो का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरणो सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेपता है कि यहाँ नगरो, चैत्यो, राजाओ व रानियो आदि के वर्णन सम्पूर्ण रूप मे पाये जाते हैं, जिनका वर्णन अन्य श्रुतागो मे इसी ग्रन्थ का उल्लेख देकर छोड दिया जाता है।

(२) दूसरे उपाग का नाम 'राय-पसेणिय' है, जिसका स० रूपान्तर 'राजप्रश्नीय' किया जाता है, क्योकि इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रश्नो का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नही जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कोशल का इतिहास-प्रसिद्ध राजा पसेडी (स० प्रसेनजित्) रहा हो, जिसके अनुसार ग्रन्थ के नाम का ठीक स० रूपान्तर 'राज-प्रसेनजित् सूत्र' होना चाहिये। इसके प्रथम भाग मे तो सूर्याभदेव का वर्णन है, और दूसरे भाग मे इस देव के पुर्व जन्म का वृत्तान्त है, जबकि सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप मे पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था, और उनसे आत्मा की सत्ता व उसके स्वरूप के सबध मे नाना प्रकार से अपने भौतिक वाद की दृष्टि से प्रश्न किये थे। अन्त मे केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बन गया और उसी के प्रभाव से दूसरे जन्म मे महासमृद्धिशाली सूर्याभदेव हुआ। यह ग्रन्थ जडवाद और अध्यात्मवाद की प्राचीन परम्पराओ के अध्ययन के लिये तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(३) तीसरे उपाग जीवाजीवाभिगम में २० उद्देश्य थे, किन्तु उपलम्य सस्करण में नौ प्रतिपत्तियाँ(प्रकरण) हैं, जिनके भीतर २७२ सूत्र हैं इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदो का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप से उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति में द्वीप सागरो का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहाँ प्रसगवश लोकोत्सवो, यानो, अलकारो व मिष्टान्नो आदि के उल्लेख भी आये है, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

(४) चौथे उपाग प्रज्ञापना (पण्णवणा) में छत्तीस पद (परिच्छेद)हैं, जिनमे क्रमश जीव से सबध रखनेवाले प्रज्ञापना, स्थान, वहृवक्तव्य, स्थिति एव कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्घात आदि विषयो का प्ररूपण है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बडी महत्वपूर्ण है। जो स्थान अगो में भगवती सूत्र को प्राप्त है, वही उपागो मे इस सूत्र को दिया जा सकता है, और उसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञान कोष कहा जा सकता है। इस रचना में इसके कर्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्म स्वामी से २३ वी पीढी वीर नि० के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(५) पाचवा उपाग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपण्णत्ति) मे २० पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रो मे सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रो की गतियो का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष सबधी मान्यताओ के अध्ययन के लिये यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(७) छठा उपाग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपण्णत्ति है। इसके दो विभाग है, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम भाग के चार वक्खकारो (परिच्छेदों) मे जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतो, नदियो आदि का एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल-विभागो का तथा कुलकरो, तीर्थंकरो और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(७) सातवाँ उपाग चन्द्रप्रज्ञप्ति (चदपण्णत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन मे सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलत ये दोनो अवश्य अपने-अपने विषय मे भिन्न रहे होगे, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्राय एक से हो गये हैं।

(८)आठवें उपाग कल्पिका(कप्पिया) मे १० अध्ययन है जिनमें कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक बिंबिसार को बदीगृह मे डालने, श्रेणिक की आत्महत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पडता है।

(९) नौवे उपाग कल्पावतसीका (कप्पावडसियाओ) मे श्रेणिक के दस पौत्रो की कथाए हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

(१०-११) दसवे व ग्यारहवें उपाग पुष्पिका (पुप्फियाओ) और पुष्प-चुला (पुप्फचूलाओ) में १०-१० अध्ययन हैं, जिनमे ऐसे पुरुष-स्त्रियो की कथाएँ हैं जो धार्मिक साधनाओ द्वारा स्वर्गगामी हुए, और देवता होकर अपने विमानो द्वारा महावीर की वदना करने आये।

(१२) बाहरवे अतिम उपाग वृष्णीदशा (वण्हिदसा) मे बारह अध्ययन हैं, जिनमे द्वारावती (द्वारिका) के राजा कृष्ण वासुदेव का बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एव वृष्णि वशीय बारह राजकुमारो के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पाँच उपाग सामूहिक रूप से नीरयावलियाओ भी कहलाते हैं, और उनमें उन्हे उपाग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नही जो आदित ये ही पाँच उपाँग रहे हो और वे अपने विषयानुसार अगो से सम्बद्ध हो। पीछे द्वादशाग की देखादेखी उपाँगो की सख्या बारह तक पहुँचा दी गई हो।

छेदसूत्र—६

छह छेद सूत्रो के नाम क्रमश (१) निशीथ, (निसीह) (२) महानिशीथ (महानिसीह) (३) व्यवहार (विवहार) (४) आचारदशा (आचारदसा) (५) कल्पसूत्र (कप्पसुत्त) और (६) पचकल्प (पचकप्प) या जीतकल्प (जीतकप्प) हैं, जिनमे बडे विस्तार के साथ जैन मुनियो की बाह्य और आभ्यन्तर साधनाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है, और विशेष नियमो के भग होने पर समुचित प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है, प्रसगवश यहाँ नाना तीर्थंकरो व गणधरो सम्बन्धी घटनाओ के उल्लेख भी आये हैं। इन रचनाओ मे कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है, और साधुओ मे उसके पठन-पाठन की परम्परा आज तक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनियो के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओ का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये रचनाएँ बडे महत्व की हैं।

मूलसूत्र—४

चार मूल सूत्रो के नाम है—उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण), आवश्यक (आवस्सय) दशवैकालिक (दसवेयालिय) और पिंडनियुक्ति (पिंडणिज्जुत्ति)। ये चारो सूत्र मुनियो के अध्ययन और चिन्तन के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण माने गये हैं, क्योकि उनमे जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों, विचारो व भावनाओ और साधनाओ का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्र मे साधुओ की छह नित्यक्रियाओ अर्थात सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है। पिडनियुक्ति मे अपने नामानुसार पिंड अर्थात् मुनि के ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है। इसमे आठ अधिकार है—उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम और कारण, जिनके द्वारा आहार मे उत्पन्न होने वाले दोषो का विवेचन किया गया है, और उनके साधु द्वारा निवारण किये जाने पर जोर दिया गया है। निर्युक्ति आगमो पर सबसे प्राचीन टीकाओ से कहते है, और इनके कर्त्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। पिंड-निर्युक्ति यथार्थत दशवैकालिक के अतर्गत पिंड-एषणा नामक पाचवे अध्ययन की इसी प्रकार की प्राचीन टीका है, जिसे अपने विषय के महत्व व विस्तार के कारण आगम मे एक स्वतत्र स्थान प्राप्त हुआ है। शेष दो मूल-सूत्र अर्थात् उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्वपूर्ण, सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनायें हैं, जो भाषा, साहित्य एव सिद्धान्त, तीनो दृष्टियो से अपनी विशेषता रखती है। उत्तराध्ययन मे ३६ अध्ययन है। परम्परानुसार महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल मे निर्वाण से पूर्व ये उपदेश दिये थे। इन छत्तीस अध्ययनो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है — एक सैद्धान्तिक, दूसरा नैतिक व सुभाषितात्मक, और तीसरा कथात्मक। इन तीनो प्रकार के विषयो का पश्चात्कालीन साहित्य मे खूब अनुकरण व टीकाओ आदि द्वारा खूब पल्लवन किया गया है। दशवैकालिक सूत्र मे बारह अध्ययन हैं, जिनमे विशेषत मुनि आचार का प्ररूपण किया गया है। ये दोनो रचनाए बहुलता से पद्यात्मक हैं, और सुभाषितो, न्यायो व रूपको से भरपूर हैं। इनकी भाषा आचाराग और सूत्रकृताग के सदृश अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इन दोनो सूत्रो का उल्लेख दिग० शास्त्रो में भी पाया जाता है।

प्रकीर्णक—१०

दसपइण्णा—नामक ग्रन्थो की रचना के सम्बन्ध में टीकाकारो ने कहा है कि तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर नाना श्रमणो द्वारा जो ग्रन्थ

लिखे गये, वे प्रकीर्णक कहलाये। ऐसे प्रकीर्णको की सख्या सहस्त्रो बतलाई जाती है, किन्तु जिन रचनाओ को वल्लभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया वे दस है, जिनके नाम है—(१) चतु शरण (चउसरण), (२) आतुर-प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण), (३) महाप्रत्याख्यान (महा-पच्चक्खाण) (४) भक्तपरिज्ञा, (भत्तपइण्णा) (५) तदुलवैचारिक (तदुलवेयालिय, (६) सस्तारक (सथारग), (७) गच्छाचार (गच्छायार), (८) गणिविद्या (गणिविज्जा), (९) देवेन्द्रस्तव (देविंद्रथ) और (१०) मरणसमाधी (मरणसमाहि)। ये रचनाये प्राय पद्यात्मक है। (१) चतु शरण मे आरभ मे छ आवश्यको का उल्लेख करके पश्चात् अरहत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चार को शरण मानकर दुष्कृत (पाप) के प्रति निंदा और सुकृत (पुण्य) के प्रति अनुराग प्रगट किया गया है। इसमे त्रेसठ गाथाएँ मात्र है। अतिम गाथा मे कर्ता का का नाम वीरभद्र अकित पाया जाता है। (२) आतुर प्रत्याख्यान मे बालमरण और पडितमरण मे भेद स्थापित किया गया है, और प्रत्याख्यान अर्थात् परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमे केवल ७० गाथाए हैं, और अश गद्य मे भी है। (३) महाप्रत्याख्यान मे १४२ अनुष्टुप् छदमय गाथाओ द्वारा दुश्चरित्र की निदापूर्वक, सच्चरित्रात्मक भावनाओ, व्रतो व आराधनाओ और अन्तत प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह रचना पूर्वोक्त आतुरप्रत्याख्यान की ही पूरक स्वरूप है। (४) भक्त-परिज्ञा मे १७२ गाथाओ द्वारा भक्त-परिज्ञा इगिनी और पादोपगमन रूप मरण के भेदो का स्वरूप बतलाया गया है, तथा नाना दृष्टान्तो द्वारा मन को सयत रखने का उपदेश दिया गया है। मन को बन्दर की उपमा दी गई है, जो स्वभावत अत्यन्त चचल है और क्षणमात्र भी शात नही रहता। (५) तदुलवैचारिक या वैकालिक १२३ गाथाओ युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमे गौतम और महावीर के बीच प्रश्नोत्तरो के रूप मे जीव की गर्भावस्था, आहार-विधि, बालजीवन-क्रीडा आदि अवस्थाओ का वर्णन है। प्रसग वश इसमे शरीर के अग प्रत्यगो का व उसकी अपवित्रता का, स्त्रियो की प्रकृति और उनसे उत्पन्न होने वाले साधुओ के भयो आदि का विस्तार से वर्णन है। (६) संस्तारक मे १२२ गाथाओ द्वारा साधु के अन्त समय मे तृण का आसन (सथारा) ग्रहण करने की विधि बतलाई गई है, जिस पर अविचल रूप से स्थिर रहकर वह पडित-मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसग के दृष्टात स्वरूप सुबधु व चाणक्य आदि नामो का उल्लेख हुआ है। (७) गच्छाचार मे १३७ गाथाओ द्वारा मुनियो व आर्यिकाओ के गच्छ मे रहने व तत्सबधी विनय व नियमोपनियमो के पालन की विधि समझाई गई है। यहा मुनियो और साध्वियो को एक दूसरे प्रति पर्याप्त सतर्क रहने

और अपने को कामवासना की जागृति से बचाने पर जोर दिया गया है ।

(८) गणि विद्या मे ८६ गाथाओ द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त्त आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसमे होरा शब्द भी आया है

(९) देवेन्द्रस्तव मे ३०७ गाथाए है, जिनमे २४ तीर्थंकरो की स्तुति करके, स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर मे कल्पो और कल्पातीत देवो का वर्णन करता है । यह कृति भी वीरभद्र कृत मानी जाती है । (१०) मरण-समाधि मे ६६३ गाथाए है, जिनमे आराधना, आराधक, आलोचन, संलेखन, क्षमापन आदि १४ द्वारो से समाधि-मरण की विधि समझाई गई है, व नाना दृष्टान्तो द्वारा परीषह सहन करने की आवश्यकता बतलाई गई है । अन्त मे बारह भावनाओ का भी निरूपण किया गया है । दसो प्रकीर्णको के विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानत मुनियो के अपने अन्त समय मे मनको धार्मिक भावनाओ मे लगाते हुए शांति और निराकुलता पूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है ।

चूलिका सूत्र—२

अन्तिम दो चूलिका सूत्र नंदी और अनुयोगद्वार हैं, जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाए हैं । नदीसूत्र के कर्ता तो एक मतानुसार वल्लभी वचना के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ही है । नदीसूत्र मे ९० गाथाए और ५९ सूत्र है । यहा भगवान महावीर तथा उनके सघवर्ति श्रमणो व परपरागत भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरी आदि आचार्यो की स्तुति की गई है । तत्पश्चात् ज्ञान के पांचभेदो का विवेचन कर, आचारागादि बारह श्रुतागो के स्वरूप को विस्तार से व्यक्त किया गया है । यहा भारत, रामायण, कौटिल्य, पातजल आदि शास्त्रपुराणो तथा वेदो एवम् बहत्तर कलाओ का उल्लेख कर मुनियो के लिये उनका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है । (२) अनुयोगद्वार आर्यरक्षित कृत माना जाता है । उसमे प्रश्नोत्तर रूप से पल्योपमादि उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नयो का भी प्ररूपण किया गया है । इसके अतिरिक्त काव्यसम्बन्धी नवरसो, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि लक्षणो एवम् चरक, गौतम आदि अन्य शास्त्रो के उल्लेख भी आये है । इस पर हरिभद्र द्वारा विवृत्ति भी लिखी गई है ।

अर्द्धमागधी भाषा-

उपर्युक्त ४५ आगम ग्रन्थो की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है । अर्द्ध-मागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है-जो भाषा आधे मगध प्रदेश मे

बोली जाती थी, अथवा जिनमे मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती थी। यथार्थतः ये दोनो ही व्युत्पत्तिया सार्थक है, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यत तीन विशेषताएँ थी। (१) उसमे र का उच्चारण ल होता था, (२) तीनो प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता था, और (३) अकारान्त कर्ताकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियो मे से अर्द्ध-मागधी मे कर्ताकारक की एकारविभक्ति बहुलता से पायी जाती है। र का ल क्वचित् ही होता है, तथा तीनो सकारो के स्थान पर तालव्य 'श' कार न हो दन्त्य 'स' कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा मे मागधी की आधी प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं इसकी शेष प्रवृत्तिया शौरसैनी प्राकृत मे मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध के पश्चिम प्रदेश मे रहा होगा। विद्वानो का यह भी मत है कि मूलत महावीर एवम् बुद्ध दोनो के उपदेशो की भाषा उस समय की अर्द्ध मागधी रही होगी, जिसमे वे उपदेश पूर्व एवम् पश्चिम की जनता को समान रूप मे सुबोध हो सके होगे। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगम ग्रन्थो मे हमें उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नही मिलता। भाषा-शास्त्रियो का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्य भाषा मे सयुक्त व्यजनो का समीकरण अथवा स्वर-भक्तिआदि विधियो से भाषा का सरलीकरण तो प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसमे वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारभ नही हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर मे प्रारभ हुई मानी जाती है, जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलभ्य आगम ग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियो से प्रभावित पाये जाते है। स्पष्टत ये प्रवृत्तिया कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमे समाविष्ट हो गई है।

सूत्र या सूक्त ?—

इन आगमो के सम्बन्ध मे एक बात और विचारणीय है। उन्हे प्राय सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता है, जैसे आचाराग सूत्र, उत्तराध्यन सूत्र आदि। किन्तु जिस अर्थ मे सस्कृत मे सूत्र शब्द का प्रयोग पाया जाता है, उस अर्थ मे ये रचनाए सूत्र रूप सिद्ध नही होती। सूत्र का मुख्य लक्षण सक्षिप्त वाक्य मे अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है, और उसमे पुनरावृत्ति को दोष माना जाता है। किन्तु ये जैन श्रुताग न तो वैसी सक्षिप्त रचनाए है, और न उनमे विषय व वाक्यो की पुनरावृत्ति की कमी है। अतएव उन्हे सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत नामानुसार ये रचनाए सुत्त कही गई

है, जैसे आयारंग सुत्त, उत्तराध्ययन सुत्त आदि। इस सुत्त का सस्कृत पर्याय सूत्र भ्रममूलक प्रतीत होता है। उसका उचित सस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। महावीर के काल में सूत्र शैली का प्रारंभ भी सम्भवत नहीं हुआ था। उस समय विशेष प्रचार था वेदों के सूक्तों का। और समवत वही नाम सूक्त उन रचनाओं को, बौद्ध साहित्य के सुत्तों को, उनके प्राकृत रूप में दिया गया होगा।

आगमों का टीका साहित्य—

उपर्युक्त आगम ग्रन्थो से सम्बद्ध अनेक उत्तरकालीन रचनाए हैं, जिनका उद्देश्य आगमो के विषय को सक्षेप या विस्तार मे समझना है। ऐसी रचनाएँ चार प्रकार की हैं, जो निर्युक्ति (णिज्जुत्ति) भाष्य (भास), चूर्णि (चुण्णि) और टीका कहलाती हैं। ये रचनाए भी आगम का अग मानी जाती हैं, और उनके सहित यह साहित्य पचागी आगम कहलाता है। इनमे निर्युक्तिया अपनी भाषा, शैली, व विषय की दृष्टि से सर्वप्राचीन है। ये प्राकृत पद्यो मे लिखी गई हैं, और सक्षेप मे विषय का प्रतिपादन करती हैं। इनमे प्रसगानुसार विविध कथाओ व दृष्टान्तो के सकेत मिलते हैं, जिनका विस्तार हमे टीकाओ मे प्राप्त होता है। वर्तमान मे आचाराग, सूत्रकृताग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कध, उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन ९ आगमो की निर्युक्तिया मिलती हैं, और वे भद्रबाहुकृत मानी जाती है। दसवी 'ऋषि भाषित निर्युक्ति' का उल्लेख है, किन्तु वह प्राप्त नही हुई। इनमे कुछ प्रकरणो की निर्युक्तिया, जैसे पिण्डनिर्युक्ति व ओघनिर्युक्ति मुनियो के आचार की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण समझी गई कि स्वतत्र रूप से आगम साहित्य मे प्रतिष्ठित कर ली गई है।

भाष्य भी प्राकृत गाथाओ मे रचित सक्षिप्त प्रकरण हैं। ये अपनी शैली मे निर्युक्तियो से इतने मिलते हैं कि बहुधा इन दोनो का परस्पर मिश्रण हो गया है, जिसका पृथक्करण असभव सा प्रतीत होता है। कल्प, पचकल्प, जीत कल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, निशीथ और व्यवहार इनके भाष्य मिलते है। इनमे कथाए कुछ विस्तार से पायी जाती है। निशीथ भाष्य मे शश आदि चार धूर्तों की वह रोचक कथा वर्णित है जिसे हरिभद्रसूरि ने अपने धूर्ता-ख्यान नामक ग्रन्थ मे सरसता के साथ पल्लवित किया है। कुछ भाष्यो, जैसे कल्प, व्यवहार और निशीथ के कर्ता सघदास गणि माने जाते हैं और विशेषा-वश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्र (ई० रूप स० ६०९)। यह भाष्य कोई ३६०० गाथाओ मे पूर्ण हुआ है और उसमे ज्ञान, नय-निक्षेप, आचार आदि सभी विषयो का विवेचन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

चूर्णियाँ भाषा व रचना शैली की दृष्टि से अपनी विशेषता रखती है। वे गद्य में लिखी गई हैं, और भाषा यद्यपि प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है, फिर भी इनमें प्राकृत की प्रधानता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, उत्तराध्ययन आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर चूर्णियाँ पाई जाती हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक व कथात्मक सामग्री के लिये निशीथ और आवश्यक की चूर्णियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। सामान्यरूप से चूर्णियों के कर्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं, जिनका समय ई० की छठी-सातवीं शती अनुमान किया जाता है।

टीकाएं अपने नामानुसार ग्रन्थों को समझने समझाने के लिये विशेष उपयोगी हैं। ये संस्कृत में विस्तार से लिखी गई हैं, किन्तु कहीं कहीं, और विशेषतः कथाओं में प्राकृत का आश्रय लिया गया है। प्रतीत होता है कि जो कथाएं प्राकृत में प्रचलित थी, उन्हें यहां जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है। आवश्यक दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्र सूरि (ई० स० ७५०) की टीकाएं उपलब्ध हैं। इनके पश्चात् आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांक आचार्य (ई० स० ८७६) ने टीकाएं लिखी। ११ वीं शताब्दी में वादि वेताल शान्तिसूरि द्वारा लिखित उत्तराध्ययन की शिष्यहिता टीका प्राकृत में है, और बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी में उत्तराध्ययन पर देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र ने सुखबोधा नामक टीका लिखी, जिसके अन्तर्गत ब्रह्मदत्त अगडदत्त आदि कथाएं प्राकृत कथा साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका संकलन डा० हर्मन जैकोबी ने एक पृथक् ग्रन्थ में किया था, और जो प्राकृत-कथा-संग्रह के नाम से मुनि जिनविजय जी ने भी प्रकाशित कराई थी। उत्तराध्ययन पर और भी अनेक आचार्यों ने टीकाएं लिखी, जैसे अभयदेव, द्रोणाचार्य, मलयगिरी, मलधारी हेमचन्द्र, क्षेमकीर्ति, शांतिचंद्र आदि। टीकाओं की यह बहुलता उत्तराध्ययन के महत्व व लोकप्रियता को स्पष्टतः प्रमाणित करती है।

शौरसेनी जैनागम—

उपर्युक्त उपलभ्य आगम साहित्य जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सुप्रचलित है, किन्तु दिग० सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक नहीं मानता। इस मान्यतानुसार मूल आगम ग्रन्थों का क्रमशः लोप हो गया, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। उन आगमों का केवल आंशिक ज्ञान मुनि-परंपरा में सुरक्षित रहा। पूर्वों के एकदेश-ज्ञाता आचार्य धरसेन माने गये हैं, जिन्होंने अपना वह ज्ञान अपने पुष्प-दंत और भूतबलि नामक शिष्यों को प्रदान किया और उन्होंने उस ज्ञान के

आधार से पट्खडागम की सूत्ररूप रचना की। यह रचना उपलभ्य है, और अब सुचारु रूप मे टीका व अनुवाद सहित २३ भागो मे प्रकाशित हो चुकी है इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने प्रारंभ मे ही इस रचना के विषय का जो उद्गम बतलाया है, उससे हमें पूर्वों के विस्तार का भी कुछ परिचय प्राप्त होता है। पूर्वों में द्वितीय पूर्व का नाम आग्रायणीय था। उसके भीतर पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमे पाचवे प्रकरण का नाम चयन लब्धि था, जिसके अन्तर्गत वीस पाहुड थे। इनमे चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्म-प्रकृति पाहुड के भीतर कृति, वेदना आदि चौवीस अनुयोगद्वार थे, जिनके विषय को लेकर पट्खडागम के छह खड अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दावध, वधस्वामित्व-विचय, वेदना, वर्गणा और महावध की रचना हुई। इसमे का कुछ अश अर्थात् सम्यक्वोत्पत्ति नामक जीवस्थान की आठवी चूलिका वारहवें अग दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-अगति नामक नवमी चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से उत्पन्न वतलाई गई है। यही आगम दिग० सम्प्रदाय में सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना का काल ई० द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसकी रचना ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को पूर्ण हुई थी और उस दिन जैन सघ ने श्रुतपूजा का महान् उत्सव मनाया था, जिसकी परम्परानुसार श्रुतपचमी की मान्यता दिग० सम्प्रदाय मे आज भी प्रचलित है। इस आगम की परपरा में जो साहित्य निर्माण हुआ, उसे चार अनुयोगों मे विभाजित किया जाता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग मे पुराणो, चरितो व कथाओ अर्थात् आख्यानात्मक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। करणानुयोग मे ज्योतिष, गणित आदि विषयक ग्रन्थो का, चरणानुयोग में मुनियो व गृहस्थो द्वारा पालने योग्य नियोपनियम सबधी आचार विषयक ग्रन्थो का, और द्रव्यानुयोग में जीव-अजीव आदि तत्त्वो के चिंतन से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी, तथा नय-निक्षेप आदि विषयक सैद्धांतिक ग्रन्थो का।

इस धार्मिक साहित्य मे प्रधानता द्रव्यानुयोग की है, और इस वर्ग की रचनाए बहुत प्राचीन, बडी विशाल तथा लोकप्रिय हैं। इसमे सबसे प्रथम स्थान पूर्वोल्लिखित पट्खडागम का ही है। इस ग्रन्थ के प्रकाश मे आने का भी एक रोचक इतिहास है। इस ग्रन्थ का साहित्यकारो द्वारा प्रचुरता से उपयोग केवल ११ वी १२ वी शताब्दी तक गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र और उनके टीकाकारो तक ही पाया जाता है। उसके पश्चात् के लेखक इन ग्रन्थो के नाममात्र से परिचित प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ की दो सम्पूर्ण और एक त्रुटित, ये

तीन प्रतियां प्राचीन कन्नड लिपि में ताडपत्र पर लिखी हुई केवल एक स्थान में, अर्थात् मैसूर राज्य में मूडवद्री नामक स्थान के सिद्धांत वस्ति नामक मंदिर में ही सुरक्षित बची थी, और वहां भी उनका उपयोग स्वाध्याय के लिये नहीं, किन्तु दर्शन मात्र से पुण्योपार्जन के लिए किया जाता था। उन प्रतियों की उत्तरोत्तर जीर्णता को बढ़ती देखकर समाज के कुछ कर्णधारों को चिंता हुई, और सन् १८९५ के लगभग उनको कागज पर प्रतिलिपि करा डालने का निश्चय किया गया। प्रतिलेखन कार्य सन् १९२२ तक धीरे धीरे चलता हुआ २६-२७ वर्ष में पूर्ण हुआ। किन्तु इसी बीच इनकी एक प्रतिलिपि गुप्तरूप से बाहर निकलकर सहारपुर पहुंच गई। यह प्रतिलिपि भी कन्नड लिपि में थी। अतएव इनकी नागरी लिपि कराने का आयोजन किया गया, जो १९२४ तक पूरा हुआ। इन कार्य के संचालन के समय उनकी एक प्रति पुनः गुप्त रूप से बाहर आ गई, और उसी की प्रतिलिपियां अमरावती कारंजा, सागर और आरा में प्रतिष्ठित हुई। इन्हीं गुप्तरूप से प्रगट प्रतियों पर से इनका सम्पादन कार्य प्रस्तुत लेखक के द्वारा सन् १९३८ में प्रारम्भ हुआ, और सन् १९५८ में पूर्ण हुआ। हर्ष की बात यह है कि इसके प्रथम दो भाग प्रकाशित होने के पश्चात् ही मूडविद्री की सिद्धान्त वस्ति के अधिकारियों ने मूल प्रतियों के मिलान की भी सुविधा प्रदान कर दी, जिससे इस महान ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन प्रामाणिक रूप से हो सका।

षट्खंडागम टीका—

षट्खंडागम के उपर्युक्त छह खंडों में सूत्ररूप से जीव द्वारा कर्मबंध और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना जीव-परिणामों का बड़ी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रथम तीन खंडों में जीव के कर्तृत्व की अपेक्षा से और अन्तिम तीन खंडों में कर्मप्रकृतियों के स्वरूप की अपेक्षा से हुआ है। इसी विभागानुसार नेमिचन्द्र आचार्य ने इन्हीं के संक्षेप रूप गोम्मटसार ग्रंथ के दो भाग किये हैं—एक जीवकांड और दूसरा कर्मकांड। इन ग्रन्थों पर श्रुतावतार कथा के अनुसार क्रमशः अनेक टीकाएं लिखी गईं जिनके कर्ताओं के नाम कुंदकुंद, श्यामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव उल्लिखित मिलते हैं, किन्तु ये टीकाएं अप्राप्य हैं। जो टीका इस ग्रन्थ की उक्त प्रतियों पर से मिली है, वह वीरसेनाचार्यकृत धवला नाम की है, जिसके कारण ही इस ग्रन्थ की ख्याति धवल सिद्धान्त के नाम से पाई जाती है। टीकाकार ने अपनी जो प्रशस्ति ग्रन्थ के अन्त में लिखी है, उसपर से उसके पूर्ण होने का समय

कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी, शक स० ७३८ = ई० सन् ८१६ सिद्ध होता है। इस प्रशस्ति मे वीरसेन ने अपने पचस्तूप अन्वय का, विद्यागुरु एलाचार्य का, तथा दीक्षागुरु आर्यनन्दि व दादागुरु चन्द्रसेन का भी उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार कथा के अनुसार एलाचार्य ने चित्रकूटपुर मे रहकर वीरसेन को सिद्धान्त पढाया था। पश्चात् वीरसेन ने वाटग्राम मे जाकर अपनी यह टीका लिखी। वीरसेन की टीका का प्रमाण बहत्तर हजार श्लोक अनुमान किया जाता है।

शौरसैनी आगम की भाषा—

धवला टीका की भाषा गद्यात्मक प्राकृत है, किन्तु यत्र तत्र सस्कृत का भी प्रयोग किया गया है। यह शैली जैन साहित्यकारो मे सुप्रचलित रही है, और उसे मणि प्रवाल शैली कहा गया है। टीका मे कही कही प्रमाण रूप से प्राचीन गाथाए भी उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ मे हमे प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं—एक सूत्रो की प्राकृत जो स्पष्टतः अधिक प्राचीन है तथा शौरसैनी की विशेषताओ को लिये हुए भी कही कही अर्द्धमागधी से प्रभावित है,। शौरसैनी प्राकृत का दूसरा स्तर हमे उद्धृत गाथाओ मे मिलता है, और तीसरा टीका की गद्य रचना मे यहाँ उद्धृत गाथाओ मे की अनेक गोम्मटसार मे भी जैसी की तैसी पाई जाती हैं, भेद यह है कि वहाँ 'शौरसैनी महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ कुछ अधिकता से मिश्रित दिखाई देती हैं।

यहाँ प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी कुछ बातो का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीनतम प्राकृत साहित्य तथा प्राकृत व्याकरणो मे हमे मुख्यत तीन भाषाओ का स्वरूप, उनके विशेष लक्षणो सहित, दृष्टिगोचर होता है। मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसैनी। मागधी और अर्द्ध-मागधी के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है। शौरसैनी का प्राचीनतम रूप हमे अशोक (ई० पू० तीसरी शती) की गिरनार शिला पर खुदी हुई चौदह धर्मलिपियो मे दृष्टिगोचर होता है। यहा कारक व क्रिया के रूपो के सरली-करण के अतिरिक्त जो सस्कृत की ध्वनियो मे सरलता के लिये उत्पन्न हुए हेर-फेर पाये जाते है, उनमे मुख्य परिवर्तन हैं सयुक्त व्यजनो का समीकरण या एक वर्ण का लोप, जैसे धर्म का 'धम्म' कर्म का कम्म, पश्यति का पसति, पुत्र का पुत, कल्याण का कलाण, आदि। तत्पश्चात् अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के नाटको मे उक्त परिवर्तन के अतिरिक्त हमे अघोष वर्णो के स्थान पर उनके अनुरूप सघोष वर्णो का आदेश मिलता है, जैसे क का ग, च का ज, त का द, और थ का ध। इसके अनन्तर काल मे जो प्रवृत्ति भास, कालिदास आदि के नाटको की प्राकृतो मे दिखाई देती है, वह है-मध्यवर्ती असयुक्त वर्णो का लोप तथा

महाप्राण वर्णों के स्थान पर 'ह्' आदेश। यही प्रवृत्ति महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण माना गया है, और इसका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी के पश्चात् का स्वीकार किया जाता है। दण्डी के उल्लेखानुसार प्राकृत (शौरसेनी) ने महाराष्ट्र मे आने पर जो रूप धारण किया, वही उत्कृष्ट प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्ट प्राकृत विदु - काव्यादर्श) और इसी महाराष्ट्री प्राकृत मे सेतुबन्धादि काव्यो की रचना हुई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अर्द्धमागधी आगम मे भी ये महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृतियाँ प्रविष्ट हुई पाई जाती हैं। भारत के उत्तर व पश्चिम प्रदेशो मे जो प्राकृत ग्रथ लिखे गये, उनमे भी इन प्रवृत्तियो का आशिक समावेश पाकर पाश्चात्य विद्वानो ने उनकी भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' की सज्ञा दी है। किन्तु जिन षट्खडागमादि रचनाओ के ऊपर परिचय दिया गया है, उनमे प्रधान रूप से शौरसेनी की ही मूल वृत्तियाँ पाई जाती हैं और महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ गौण रूप से उत्तरोत्तर बढती हुई दिखाई देती हैं। इस कारण इन रचनाओ की भाषा को 'जैन शौरसेनी' कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब महाराष्ट्र प्रदेश और उससे उत्तर की भाषा मे महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवत्तियाँ पूर्ण या बहुल रूप से प्रविष्ट हो गई, तब महाराष्ट्र से सुदूर दक्षिण प्रदेश मे लिखे गये ग्रन्थ इस प्रवृत्ति से कैसे बचे, या अपेक्षाकृत कम प्रभावित हुए? इस प्रश्न का समाधान यही अनुमान किया जा सकता है कि जिस मुनि-सम्प्रदाय मे ये ग्रन्थ लिखे गये उसका दक्षिण प्रदेश मे आगमन महाराष्ट्री प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होने से पूर्व ही हो चुका था और आर्येतर भाषाओ के बीच मे लेखक अपने उस प्रान्तीय भाषा के रूप का ही अभ्यास करते रहने के कारण, वे महाराष्ट्री के बढते हुए प्रभाव से बचे रहे या कम प्रभावित हुए। इसी भाषा-विकास - क्रम का कुछ स्वरूप हमे उक्त स्तरो मे दिखाई देता है।

षट्खडागम के टीकाकार के सम्मुख जैन सिद्धान्त विषयक विशाल साहित्य उपस्थित था। उन्होने सतकम्मपाहुड, कषायपाहुड, सम्मति सुत्त, तिलोयपण्णत्ति सुत्त, पचत्थिपाहुड, तत्वार्थसूत्र, आचाराग, वट्टकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसग्रह, अकलक कृत तत्वार्थ भाष्य, तत्वार्थ राजवार्तिक, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्म्मपवाद, दशकरणी सग्रह आदि के उल्लेख किये हैं। इनमे से अनेक ग्रन्थ तो सुविख्यात हैं, किन्तु कुछ का जैसे पूज्यपाद कृत सारसग्रह, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्म्मप्रवाद और दशकरणी सग्रह का कोई पता नही चलता। इसी प्रकार उन्होने अपने गणित सबधी विवेचन मे परिकर्म का उल्लेख किया है, तथा व्याकरणात्मक विवेचन मे कुछ ऐसे सूत्र व गाथाए उद्धृत की

है, जिनसे प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई पद्यात्मक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ उपस्थित था, जो अब प्राप्त नही है। स्वय षट्खडागम सूत्रो की उनके सम्मुख अनेक प्रतियाँ थी, जिनमे पाठभेद भी थे, जिनका उन्होंने अनेकस्थलो पर स्पष्ट उल्लेख किया है। कही कही सूत्रों में परस्पर विरोध देखकर टीकाकार ने सत्यासत्य का निर्णय करने मे अपनी असमर्थता प्रकट की है, और स्पष्ट कह दिया है कि इनमे कौन सूत्र हैं और कौन असूत्र इसका निर्णय आगम मे निपुण आचार्य करें। कही कहा है —इसका निर्णय तो चतुर्दश-पूर्वधारी या केवल ज्ञानी ही कर सकते हैं, किन्तु वर्तमान काल मे वे है नही, और उनके पास से उपदेश पाकर आए हुए भी कोई विद्वान नही पाये जाते, अत. सूत्रों की प्रामाणिकता नष्ट करने से डरने वाले आचार्यों को दोनो सूत्रो का व्याख्यान करना चाहिये। कही कही सूत्रो पर उठाई गई शका पर उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि इस विषय की पूछताछ गौतम गणधर से करना चाहिये, हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कह दिया। टीका के अनेक उल्लेखो पर से ज्ञात होता है कि सूत्रो का अध्ययन कई प्रकार से चलता था। कोई सूत्राचार्य थे, तो कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर महावाचको का पद था। कषाय-प्राभृत के प्रकाण्ड ज्ञाता आर्य मक्षु और नागहस्ति को अनेक स्थानो पर महावाचक कहा गया है। आर्य नदी महावाचक का भी उल्लेख आया है। सैद्धान्तिक मतभेदो के प्रसग में टीकाकार ने अनेक स्थानो पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति का उल्लेख किया है, जिनमे से वे स्वय दक्षिण प्रतिपत्ति को स्वीकार करते थे, क्योंकि वह सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परम्परागत है। कुछ प्रसगो पर उन्हे स्पष्ट आगम परम्परा प्राप्त नही हुई, तब उन्होने अपना स्वय स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव मे उन्होने स्वय अपने युक्तिबल से अमुक बात सिद्ध की है। विषय चाहे दार्शनिक हो और चाहे गणित जैसा शास्त्रीय, वे उस पर पूर्ण विवेचन और स्पष्ट निर्णय किये बिना नही रुकते थे। इसी कारण उनकी ऐसी असाधारण प्रतिभा को देखकर ही उनके विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने उनके विषय मे कहा है कि—

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाता. सर्वज्ञ सद्भावे निरारेका मनस्विनः॥

अर्थात् उनकी स्वभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर विद्वज्जन सर्वज्ञ के सद्भाव के विषय मे निस्सन्देह हो जाते थे। इस टीका के आलोडन से हमे तत्कालीन सैद्धातिक विवेचन, वादविवाद व गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा

अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

नेमिचन्द्र (११ वीं शती) की रचनाए

जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, इसी षट्खडागम और उसकी धवला टीका के आधार से गोम्मटसार की रचना हुई जिसके ७३३ गाथाओ युक्त जीवकाड तथा ९६२ गाथाओं युक्त कर्मकाड नामक खडो मे उक्त आगम का समस्त कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सार निचोड लिया गया है, और अनुमानत इसी के प्रचार से मूल षट्खडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गई। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र ने अपनी कृति के अन्त मे गर्व से कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से षट्खडागम को सिद्धकर अपनी इस कृति मे भर दिया है। इसी सफल सैद्धातिक रचना के कारण उन्हे सिद्धात चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई और तत्पश्चात् यह उपाधि अन्य अनेक आचार्यो के साथ भी सलग्न पाई जाती है। सभवत त्रैविद्यदेव की उपाधि वे आचार्य धारण करते थे जो इस षट्खंडागम के प्रथम तीन खडो के पारगामी हो जाते थे। इन उपाधियो ने धवलाकार के पूर्व की सूत्राचार्य आदि उपाधियो का लोप कर दिया। उन्होंने अपनी यह कृति गोम्मटराय के लिये निर्माण की थी। गोम्मट गगनरेश राचमल्ल के मू श्री चामुंडराय का ही उपनाम था, जिसका अर्थ होता है — सुन्दर, स्वरूपवान्। इन्ही चामुडराय ने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बाहुबलि की उस प्रख्यात मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो अपनी विशालता और कलात्मक सौन्दर्य के लिये कोई उपमा नही रखती। समस्त उपलभ्य प्रमाणो पर से इस मूर्ति की प्रतिष्ठा का समय रविवार दिनांक २३ मार्च सन् १०२८ चैत्र शुक्ल पचमी, शक स० ९५१ सिद्ध हुआ है। कर्म-काड की रचना तथा इस प्रतिष्ठा का उल्लेख कर्मकाण्ड की ९६८ वी गाथा में साथ-साथ आया है। अतएव लगभग यही काल गोम्मटसार की रचना का माना जा सकता है। इन रचनाओ के द्वारा षट्खडागम के विषय का अध्ययन उसी प्रकार सुलभ बनाया गया जिस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्तियो और भाष्यो द्वारा श्रुतागो का। गोम्मटसार पर सस्कृत मे दो विशाल टीकाए लिखी गई— एक जीवप्रबोधिनी नामक टीका केशव वर्णी द्वारा, और दूसरी मदप्रबोधिनी नामकी टीका श्रीमदभयचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती के द्वारा। कुछ सकेतो के आधार से प्रतीत होता है कि गोम्मटसार पर चामुडराय ने भी कन्नड मे एक वृत्ति लिखी थी, जो अब नही मिलती। इनके आधार से हिंदी मे इसकी सम्यग्ज्ञान-

चन्द्रिका नामक वचनिका प० टोडरमल जी ने स० १८१८ मे समाप्त की
गोम्मटसार से सम्बद्ध एक और कृति लब्धिसार नामक है जिसमे आत्मशु
रूप लब्धियो को प्राप्त करने की विधि समझाई गयी है। अपनी द्रव्यसंग्र
नामक एक ५८ गाथायुक्त अन्य कृति द्वारा नेमिचन्द्र ने जीव तथा अजीव तत्त्व
को विधिवत् समझाकर एक प्रकार से सपूर्ण जैन तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन क
दिया है। लब्धिसार के साथ साथ एक कृति क्षपणासार भी मिलती है, जिसं
कर्मों को खपाने की विधि समझाई गई है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार इसे
माधवचन्द्र त्रैविद्य ने बाहुबलि मत्री की प्रार्थना से लिखकर शक स० ११२
(ई० सन् १२०३) मे पूर्ण किया था।

षट्खडागम की परम्परा की द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है पचसग्रह जो अभी
प्रकाशित हुई है। इसमे नामानुसार पाच अधिकार (प्रकरण) हैं: जीवसमास,
प्रकृति समुत्कीर्तन कर्मस्तव, शतक और सत्तरि अर्थात् सप्ततिका, जिनमे क्रमा-
नुसार २०६, १२, ७७, १०५ और ७० गाथाए है। प्रकृति समुत्कीर्तन मे कुछ
भाग गद्यात्मक भी है। इसकी बहुत सी गाथाए धवला और गोम्मटसार के
समान ही है। अतिम दो प्रकरणो पर गाथाबद्ध भाष्य भी है, जिसकी गाथाए
भी गोम्मटसार से मिलती है। ये भाष्य गाथाए मूलग्रथ से मिश्रित पाई जाती
हैं। शतक नामक प्रकरण के आदि मे कर्ता ने स्पष्ट कहा है कि मैं यहाँ कुछ
गाथाए दृष्टिवाद से लेकर कहता हूँ (वोच्छं कदिवइ गाहाओ दिट्ठिवादाओ)।
शतक के अत मे १०३ वी गाथा मे कहा गया है कि यहाँ बध-समास का वर्णन
कर्म प्रवाद नामक श्रुतसागर का रस मात्र ग्रहण करके किया गया है। जैसा
हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मप्रवाद दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों मे से आठवे
पूर्व का नाम था। उसी प्रकार सप्तति के प्रारभ मे कहा गया है कि मैं यहाँ
दृष्टिवादके सार को सक्षेप से कहता हू (वोच्छं सखेवेण निस्सद दिट्ठिवादादो)।
प्रत्येक प्रकरण मगलाचरण और प्रतिज्ञात्मक गाथाओ से प्रारभ होता है, और
अपने अपने रूप मे परिपूर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि आदित ये पाचो
प्रकरण स्वतत्र रचनाओ के रूप मे रहे हैं। इनपर एक सस्कृत टीका भी है,
जिसके कर्ता ने अपना परिचय शतक की अतिम गाथा की टीका मे दिया है।
यहाँ उन्होने मूलसघ के विद्यानदि गुरु, भट्टारक मल्लिभूषण, मुनि लक्ष्मीचन्द्र
और वीरचन्द्र, उनके पट्टवर्ती ज्ञानभूषण गणि और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र
यति के नाम लिये हैं। ये प्रभाचन्द्र ही इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं।
उक्त आचार्य परम्परावर्ती प्रभाचन्द्र का काल सवत् १६२५ से १६३७ तक
पाया जाता है। उक्त प्रशस्ति के अन्त की पुष्पिका मे मूल ग्रन्थ को पचसग्रह
अपर नाम लघुगोम्मटसार सिद्धात कहा है। इस पर से अनुमान होता है कि

मूल शतक अथवा उसकी भाष्य-गाथाओ का सकलन गोम्मटसार पर से किया गया है। इसी पचसग्रह के आधार से अमितगति ने सस्कृत श्लोकबद्ध पचसग्रह की रचना की, जो उनकी प्रशस्ति के अनुसार वि० स० १०७३ (ई० सन् १०१६) मे मसूरिकापुर नामक स्थान मे समाप्त हुई। इसमे पाचो अधिकारो के नाम पूर्वोक्त ही हैं, तथा दृष्टिवाद और कर्मप्रवाद के उल्लेख ठीक पूर्वोक्त प्रकार से ही आये हैं। यदि हम इसका आधार प्राकृत पचसग्रह को न माने तो यहा शतक और सप्तति नामक अधिकारो की कोई सार्थकता ही सिद्ध नही होती, क्योकि इनमे श्लोक-सख्या उससे बहुत अधिक पाई जाती है। किन्तु जब सस्कृत रूपान्तकार ने अधिकारो के नाम वे ही रखे है, तब उन्होंने भी मूल और भाष्य आधारित श्लोको को अलग अलग रखा हो तो आश्चर्य नही। प्राकृत मूल और भाष्य को सन्मुख रखकर, सभव है श्लोको का उक्त प्रकार पृथकत्व किया जा सके।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी एक प्राकृत पचसंग्रह पाया जाता है। जिसके कर्ता पार्श्वर्पि के शिष्य चद्रर्पि हैं। उनका काल छठी शती अनुमान किया जाता है। इस ग्रन्थ मे ९६३ गाथायें हैं जो शतक, सप्तति, कपायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति नामक पाच द्वारो मे विभाजित हैं। ग्रन्थ पर मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

शिवशर्म कृत कर्म प्रकृति (कम्मपयडि) मे ४१५ गाथाए है और वे बधन, सक्रमण उद्वर्तन, अपवर्तन उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता इन आठ करणो (अध्यायो) मे विभाजित है। इस पर एक चूर्णि तथा मलयागिरि और यशोविजय की टीकाए उपलब्ध हैं।

शिवशर्म की दूसरी रचना शतक नामक भी है। गर्गर्षि कृत कर्मविपाक (कम्मविवाग) तथा जिनवल्लभगणि कृत षडशीति (सडसीइ) एव कर्मस्तव (कम्मत्थव) बधस्वामित्व (सामित्त) और सप्ततिका (सत्तरी) अनिश्चित कर्ताओ की उपलब्ध हैं, जिनमे कर्म सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न प्रकरणो का अति-सक्षेप मे सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। ये छहो रचनाए प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन पर नाना कर्ताओ की चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, टिप्पण आदि रूप टीकाए पाई जाती हैं। सत्तरी पर अभयदेव सूरि कृत भाष्य तथा मेरुतु ग की वृत्ति (१४ वी शती) उपलब्ध हैं।

ईस्वी की १३ वी शती मे जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य देवेन्द्र सूरि ने कर्म-विपाक (गा० ६०), कर्मस्तव (गा० ३४), बधस्वामित्व (गा० २४), षडशीति (गा० ८६) और शतक (गा० १००), इन पाच ग्रन्थो की रचना की, जो नये कर्मग्रन्थो के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पर उन्होने स्वय विवरण भी लिखा है।

छठा नव्य कर्मग्रन्थ प्रकृति वध विषयक ७२ गाथाओ मे लिखा गया है, जिसके कर्ता के विषय मे अनिश्चय है। इस पर मलयगिरिकृत टीका मिलती है।

जिनभद्र गणी कृत विशेषणवती (६वी शती) मे ४०० गाथाओ द्वारा दर्शन, जीव, अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है।

जिनवल्लभसूरि कृत सार्धशतक का दूसरा नाम सूक्ष्मार्थ विचारसार' है जिसमे सिद्धान्त के कुछ विषयो पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस पर एक भाष्य मूनिचन्द्र कृत चूर्णि तथा हरिभद्र, धनेश्वर और चक्रेश्वर कृत चूर्णियो के उल्लेख मिलते है। मूल रचना का काल लगभग ११०० ईस्वी पाया जाता है।

जीवसमास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओ मे पूर्ण हुई, और उसमे सत्, सख्या आदि सात प्ररूपणाओ द्वारा जीवादि द्रव्यो का स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रन्थ पर एक वृहद् वृत्ति मिलती है, जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ईस्वी मे लिखी गई ७००० श्लोक प्रमाण है।

जैन सिद्धान्त मे वचन और काय योग के भेद-प्रभेदो का वर्णन आता है गोम्मटसारादि रचनाओ मे यह पाया जाता है। यशोविजय उपाध्याय (१८वी-शती) ने अपने भाषारहस्य-प्रकरण की १०१ गाथाओ मे द्रव्य व भाव-आत्मक भाषा के स्वरूप तथा सत्यभाषा के जनपद-सत्या, सम्मत-सत्या, नामसत्या आदि दश भेदो का निरूपण किया है।

षट्खडागम सूत्रो की रचना के काल में ही गुणधर आचार्य द्वारा कसायपाहुड की रचना हुई। यथार्थत कहा नही जा सकता कि धरसेन और गुणधर आचार्यो मे कौन पहले और कौन पीछे हुए। श्रुतावतार के कर्ता ने स्पष्ट कह दिया है कि इन आचार्यो की पूर्वापर परम्परा का उन्हें कोई प्रमाण नही मिल सका। कसायपाहुड की रचना षट्खडागम के समान सूत्र रूप नही, किन्तु पद्यबद्ध है। इसमे २३३ मूल गाथाए है, जिनका विषय कषायो अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के स्वरूप का विवेचन और उनके कर्मबध में कारणीभूत होने की प्रक्रिया का विवरण करना है। ये चारो कषाय पुन दो वर्गों मे विभाजित होते हैं—प्रेयस् (राग) और द्वेष, और इसी कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम पेज्जदोस पाहुड पाया जाता है। इस पाहुड को आर्यमक्षु और नागहस्ति से सीखकर, यतिवृषभाचार्य ने उस पर छह हजार श्लोक प्रमाण वृत्तिसूत्र लिखे, जिन्हें उच्चारणाचार्य ने पुन पल्लवित किया। इन पर वीरसेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका लिखी। इसे वे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हो गये, तब उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। यह रचना शक स० ७५६ (ई०

सन् ८३७) मे पूरी हुई, जबकि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष का राज्य था। इस टीका की रचना भी धवला के समान मणि-प्रवाल न्याय से वहुत कुछ प्राकृत, किन्तु यत्र-तत्र सस्कृत मे हुई है। इस रचना के मूडवद्री के सिद्धान्त वसति से वाहर आने का इतिहास वही है, जो पट्खडागम का।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ—

प्राकृत पाहुडो की रचना की परम्परा मे कुदकुद आचार्य का नाम सुविख्यात हे। यथार्थत दिग० सम्प्रदाय मे उन्हे जो स्थान प्राप्त है, वह दूसरे किसी ग्रन्थकार को नही प्राप्त हो सका। उनका नाम एक मगल पद्य मे भगवान महावीर और गौतम के पश्चात ही तीसरे स्थान पर आता है– "मगल भगवान वीरो मगल गौतमो गणी। मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मगलम्।" दक्षिण के शिलालेखो मे इन आचार्य का नाम कोडकुद पाया जाता है, जिससे उनके तामिल देशवासी होने का अनुमान किया जा सकता है। श्रुतावतार के कर्ता ने उन्हे कोडकुड-पुरवासी कहा है। मद्रास राज्य मे गुतकल के समीप कुन्डकुन्डी नामक ग्राम है, जहाँ की एक गुफा मे कुछ जैन मूर्तियाँ स्थापित है। प्रतीत होता है कि यही कुन्दकुन्दाचार्य का मूल निवास स्थान व तपस्या-भूमि रहा होगा। आचार्य ने अपने ग्रथो मे अपना कोई परिचय नही दिया, केवल बारस अणुवेक्खा की एक प्रति के अत मे उसके कर्ता श्रुतकेवली भद्रवाहु के शिष्य कहे गये हैं। इसके अनुसार कवि का काल ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी मानना पडेगा। किन्तु एक तो वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की जो आचार्य परम्परा सुसम्बद्ध और सर्वमान्य पाई जाती है, उसमे कुन्दकुन्द का कही नाम नही आता, और दूसरे भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाए इतनी प्राचीन सिद्ध नही होती। उनमे अघोष वर्णों के लोप, य-श्रुति का आगमन आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ पाई जाती है, जो उन्हे ई० सन् से पूर्व नही, किन्तु उससे पश्चात् कालीन सिद्ध करती है। पाचवी शताब्दी मे हुए आचार्य देवनदी पूज्य पाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका मे कुछ गाथाए उद्धृत की हैं, जो कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा मे भी पाई जाने से वही से ली हुई अनुमान की जा सकती है। बस यही कुन्दकुन्दाचार्य के काल की अतिम सीमा कही जा सकती है। मर्करा के शक सवत् ३८८ के ताम्रपत्रो मे उनके आम्नाय का नाम पाया जाता है, किन्तु अनेक प्रवल कारणो से ये ताम्रपत्र जाली सिद्ध होते हैं। अन्य शिलालेखो मे इस आम्नाय का उल्लेख सातवी आठवी शताब्दी से पूर्व नही पाया जाता। अतएव वर्तमान प्रमाणो के आधार पर निश्चयत इतना ही कहा जा सकता है कि वे ई० की पाचवी शताब्दी के प्रारभ व उससे पूर्व हुए हैं।

मान्यतानुसार कुन्दकुन्दाचार्य ने कोइ चौरासी पाहुडो की रचना की। किन्तु वर्तमान मे इनकी निम्न रचनाए सुप्रसिद्ध हैं — (१) समयसार (२) प्रवचनसार, (३) पचास्तिकाय, (४) नियमसार, (५) रयणसार, (६) दशभक्ति, (७) अष्ट पाहुड और (८) बारस अणुवेक्खा। समयसार जैन अध्यात्म की एक बडी उत्कृष्ट रचना मानी जाती है, और उसका आदर जैनियो के सभी सम्प्रदायो मे समान रूप से पाया जाता है। इसमे आत्मा के गुणधर्मो का, निश्चय और व्यवहार दृष्टियो से, विवेचन किया गया है, तथा उसकी स्वाभाविक ओर वैभाविक परिणतियो का सुन्दर निरूपण अनेक दृष्टान्तो, उदाहरणो, व उपमाओ सहित ४१५ गाथाओ मे हुआ है। प्रवचनसार की २७५ गाथाए ज्ञान, ज्ञेय व चारित्र नामक तीन श्रुतस्कधो मे विभाजित हैं। यहाँ आचार्य ने आत्मा के मूलगुण ज्ञान के स्वरूप सूक्ष्मता से विवेचन किया है, और जीव की प्रवृतियो को शुभ होने से पुण्यबध करने वाली, अशुभ होने से पाप कर्म बधक, तथा शुद्ध होने से कर्मबध से मुक्त करने वाली बतलाया है। ज्ञेय तत्वाधिकार मे गुण और पर्याय का भेद, तथा व्यवहारिक जीवन मे होने वाले आत्म और पुद्गल सबध का विवेचन किया है। चारित्राधिकार मे श्रमणो की दीक्षा और उसकी मानसिक तथा दैहिक साधनाओ का स्वरूप समझाया है। इस प्रकार यह ग्रथ अपने नामानुसार जैन प्रवचन का सार सिद्ध होता है। कुदकुद की रचनाओ मे अभी तक इसी ग्रन्थ का भाषात्मक व विषयात्मक सम्पादन व अध्ययन आधुनिक समालोचनात्मक पद्धति से हो सका है।

पचास्तिकाय की १८१ गाथाए दो श्रुतस्कधो मे विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कध १११ गाथाओ मे समाप्त हुआ है और इसमे ६ द्रव्यो मे से पाच अस्तिकायो अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म आकाश का स्वरूप समझाया गया है। अतिम आठ गाथाए चूलिका रूप है, जिनमे सामान्य रूप से द्रव्यो और विशेपत काल के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। दूसरा श्रुतस्कध महावीर के नमस्कार रूप मगल से प्रारभ हुआ है, और इसमे नौ पदार्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाकर, उनका आचरण करने पर जोर गया है। पाच अस्तिकायो के समवाय को ही लेखक ने समय कहा है, एव अपनी रचना को सग्रहसूत्र (गाथा १०१, १८०) कहा है।

समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय पर दो टीकाए सुप्रसिद्ध हैं—एक अमृतचन्द्र सूरि कृति और दूसरी जयसेन कृत। अमृतचन्द्र का समय १२ वी शती का पूर्वार्द्ध व जयसेन का १० वी का अन्तिम भाग सिद्ध होता है। ये दोनो ही टीकाए वडी विद्वत्तापूर्ण हैं, और मूल ग्रन्थो के मर्म को तथा जैनसिद्धान्त सवधी

बातो को स्पष्टता से समझने मे बडी सहायक होती हैं। अमृतचन्द्र की समयसार-टीका विशेष महत्वपूर्ण है। इसमे उन्होने इस ग्रन्थ को ससार का सच्चा सार स्वरूप दिखलाने वाला नाटक कहा है, जिसपर से न केवल यह ग्रन्थ, किन्तु उक्त तीनो ही ग्रन्थ नाटक-त्रय के नाम से भी प्रख्यात हैं, यद्यपि रचना की दृष्टि से वे नाटक नही हैं। अमृतचन्द्र की समयसार टीका मे आये श्लोको का स ग्रह 'समयसार कलश' के नाम से एक स्वतत्र ग्रन्थ ही बन गया है, जिसपर शुभचन्द्र कृत टीका भी है। इन्ही कलशो पर से हिन्दी मे बनारसीदास ने अपना 'समय-सार नाटक' नाम का आध्यामिक काव्य रचा हैं, जिसके विषय मे उन्होने कहा है कि नाटक के पढत हिया फाटक सो खुलत हैं'। अमृतचन्द्र की दो स्वतत्र रचनाए भी मिलती है—एक पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जो जिन प्रवचन-रहस्यकोष भी कहलाता है, और दूसरी तत्वार्थसार, जो तत्वार्थसूत्र का पद्यात्मक रूपान्तर या भाष्य है। कुछ उल्लेखो व अवतरणो पर से अनुमान होता है कि उनका कोई प्राकृत पद्यात्मक ग्रन्थ, समवत श्रावकाचार, भी रहा है, जो अभी तक मिला नही।

अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओ मे मूल ग्रन्थों की गाथा-सख्या भी भिन्न-भिन्न पाई जाती है। अमृतचन्द्र के अनुसार पचास्तिकाय मे १७३, समय-सार मे ४१५ और प्रवचनसार मे २७५ गाथाए है, जब कि जयसेन के अनुसार उनकी स ख्या क्रमश १८१, ४३९ और ३११ है।

उक्त तीनो ग्रन्थो पर बालचन्द्र देव कृत कन्नड टीका भी पाई जाती है, जो १२ वी १३ वी शताब्दी मे लिखी गई है। यह जयसेन की टीका से प्रभा-वित है। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित सरोज-भास्कर नामक टीका भी है, जो अनुमानत १४ वीं शती की है और उक्त टीकाओ की अपेक्षा अधिक स क्षिप्त है।

कुदकुद कृत शेष रचनाओ का परिचय चरणानुयोग विषयक साहित्य के अन्तर्गत आता है।

द्रव्यानुयोग विषयक संस्कृत रचनाएं—

स स्कृत मे द्रव्यानुयोग विषयक रचनाओ का प्रारम्भ तत्वार्थ सूत्र से होता जिसके कर्ता उमास्वाति है। इसका रचनाकाल निश्चित नही है, किन्तु इसकी सर्वप्रथम टीका पाचवी शताब्दी की पाई जाती है, अतएव मूल ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व किसी समय हुई होगी। यह एक ऐसी अद्वितीय रचना है, कि उसपर दिग० श्वे० दोनो सम्प्रदायो की अनेक पृथक् प्रथक् टीकाए पाई जाती है। इस ग्रन्थ की रचना सूत्र रूप है और वह दस अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम

अध्याय के ३३ सूत्रो मे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के उल्लेख पूर्वक सम्यग्दर्शन की परिभापा, सात तत्वों के नाम निर्देश, प्रमाण और नयका उल्लेख एव मति श्रुत आदि पाचज्ञानों का स्वरूप वतलाया गया है। दूसरे अध्याय मे ५३ सूत्रो द्वारा जीवो के भेदोपभेद वतलाये गये है। तीसरे अध्याय मे ३८ सूत्रो द्वारा अधोलोक और मध्यलोक का, तथा चौथे अध्याय मे ४२ सूत्रो द्वारा देवलोक का वर्णन किया गया है। पाँचवें अध्याय मे छह द्रव्यो का स्वरूप ४२ सूत्रो द्वारा वतलाया गया है, और इस प्रकार सात तत्वों मे से प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का प्ररूपण समाप्त किया गया है, छठे अध्याय मे २७ सूत्रों द्वारा आस्रव तत्व का निरूपण समाप्त किया गया है, जिसमे शुभाशुभ परिणामो द्वारा पुण्य पाप रूप कर्मास्रव का वर्णन है। सातवें अध्याय मे अहिंसादि वृत्तों तथा उनसे सम्बद्ध भावनाओ का ३६ सूत्रो द्वारा वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय के २६ सूत्रों मे कर्मबन्ध के मिथ्यादर्शनादि कारण, प्रकृति स्थिति आदि विधियों, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मभेदो और उनके उपभेदो को स्पष्ट किया गया है। नौवें अध्याय मे ४७ सूत्रो द्वारा अनागत कर्मों को रोकने के उपाय रूप सवर, तथा बधे हुए कर्मो के विनाश रूप निर्जरा तत्वो को समझाया गया है। दसवें अध्याय मे नौ सूत्रों द्वारा कर्मो के क्षय से उत्पन्न मोक्ष का स्वरूप समझाया गया है। इस प्रकार छोटे छोटे ३५६ सूत्रो द्वारा जैन धर्म के मूलभूत सात तत्वो का विधिवत् निरूपण इस ग्रन्थ मे आ गया है, जिससे इस ग्रन्थ को समस्त जैन सिद्धान्त की कुजी कहा जा सकता है। इसी कारण यह ग्रन्थ लोकप्रियता और सुविस्तृत प्रचार की दृष्टि से जैन साहित्य मे अद्वितीय है। दिग० परम्परा मे इसकी प्रमुख टीकाए देवनदि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि (५वी शती), अकलक कृत तत्वार्थराजवार्तिक (आठवी शती) तथा विद्यानदि कृत तत्वार्थश्लोकवार्तिक (नौवी शती) एव श्वे० परम्परा में स्वोपज्ञ भाष्य तथा सिद्धसेन गणि कृत टीका (आठवी शती) हैं। इन टीकाओ के द्वारा मूल ग्रन्थ का सूत्रो द्वारा सक्षेप में वर्णित विषय खूब पल्लवित किया गया है। इनके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर छोटी वडी और भी अनेक टीकाए उत्तर काल में लिखी गई हैं। तत्वार्थ सूत्र के विषय को लेकर उसके भाष्य रूप स्वतत्र पद्यात्मक रचनाए भी की गई हैं। इनमे अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्वार्थसार विशेष उल्लेखनीय है।

न्याय विषयक प्राकृत जैन साहित्य—

जैन आगम सम्पत तत्वज्ञान की पुष्टि अनेक प्रकार की न्यायशैलियो में की गई है, जिन्हे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद आदि नामो से कहा गया है। इन

न्याय शैलियो का स्फुटरूप से उल्लेख व प्रतिपादन तो जैन साहित्य मे आदि से ही यत्र तत्र आया है, तथापि इस विषय के स्वतत्र ग्रन्थ चौथी पाचवी शताब्दी से रचे गये मिलते हैं। जैन न्यायका प्राकृत मे प्रतिपादन करने वाला सर्व प्रथम ग्रन्थ सिद्धसेन कृत 'सम्मइ सुत्त' (सन्मति या सम्मति तर्क) या सन्मति-प्रकरण है। सन्मति-तर्क को तत्वार्थसूत्र के समान ही दिग० श्वे० दोनो सम्प्रदायो के आचार्यो ने प्रमाण रूप से स्वीकृत किया है। पट्खडागम की धवला टीका मे इसके उल्लेख व उद्धरण मिलते है, तथा वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित (शक ९४७) मे इसका व सभवत उस पर सन्मति (सुमतिदेव) कृत विवृत्ति का उल्लेख किया है। इसका रचना काल चौथी-पाचवी शताब्दी ई० है। इसमे तीन काड है, जिनमे क्रमश ५४, ४३ और ६९ या ७० गाथाए है। इस पर अभयदेव कृत २५००० श्लोक प्रमाण 'तत्वबोध विधायिनी' नामकी टीका है, जिसमे जैन न्याय के साथ साथ जैन दर्शन का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इससे पूर्व मल्लवादी द्वारा लिखित टीका के भी उल्लेख मिलते है। प्राकृत मे स्याद्वाद और नयका प्ररूपण करने वाले दूसरे आचार्य देवसेन है, जो दसवी शताब्दी मे हुए हैं। उनकी दो रचनाए उपलभ्य हैं एन लघु-नयचक्र, जिसमे ८७ गाथाओ द्वारा द्रव्यार्थिक, और पर्यायार्थिक इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयो को उनकेभेदोपभेद के उदाहरणो सहित समझाया है। दूसरी रचना बृहन्नय-चक्र हैं, जिसमे ४२३ गाथाए है, और उसमे नयो व निक्षेपो का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अत की ६, ७ गाथाओ में लेखक ने एक यह महत्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदित उन्होने 'दव्व-सहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम से इस ग्रन्थ की रचना दोहा बध मे की थी, किन्तु उनके एक शुभ-कर नामके मित्र ने उसे सुनकर हसते हुए कहा कि यह विषय इस छद मे शोभा नही देता, इसे गाथा बद्ध कीजिये। अतएव उसे उनके माहल्ल-धवल नामक शिष्य ने गाथा रूप में परिवर्तित कर डाला। स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप, उनके पारिभाषिक रूप मे, व्यवस्था से समझने के लिये देवसेन की ये रचनायें बहुत उपयोगी है। इनकी न्यायविषयक एक अन्य रचना 'आलाप पद्धति' है। इसकी रचना सस्कृत गद्य मे हुई हैं। जैन न्याय मे सरलता से प्रवेश पाने के लिये यह छोटा सा ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध होता है। इसकी रचना नयचक्र के पश्चात् नयो के सुबोध व्याख्यान रूप हुई है।

न्याय विषयक संस्कृत जैन साहित्य—

जैन न्याय की इस प्राचीन शैली को परिपुष्ट बनाने का श्रेय आचार्य समतभद्र (५-वी ६ ठी शती) को है, जिनकी न्याय विषयक आप्तमीमांसा

(११४ श्लोक) और युक्त्यनुशासन, (६४ श्लोक), ये दोनो रचनाए प्राप्त है। आप्तमीमासा को देवागम स्तोत्र भी कहा गया है। ये दोनो कृतिया स्तुतियो के रूप मे रची गई हैं, और उनमे विषय की ऊहापोह एव खडन-मडन स्याद्वाद की सप्तभगी व नयो के आश्रय से किया गया है, और उनमे विशेष रूप से एकात-वाद का खडन कर अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है। इसी अनेकान्तवाद के आधार पर युक्त्यनुशासन मे महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा गया है। इस रचना का दिग० सम्प्रदाय मे बडा आदर हुआ है, और उसपर विशाल टीका साहित्य पाया जाता है। सबसे प्राचीन टीका भट्टाकलककृत अष्टशती है, जिसे आत्मसात् करते हुए विद्यानदि आचार्य ने अपनी अष्टसहस्त्री नामक टीका लिखी है। इस टीका के आप्तमीमासालकृति व देवागमालकृति नाम भी पाये जाते हैं। अन्य कुछ टीकाए वसुनदि कृत देवागम-वृत्ति (१० वी शती) तथा लघु समतभद्र कृत अष्टसहस्त्रीविषमपद-तात्पर्यटीका (१३ वी शती) नामकी हैं। एक टिपण्ण उपाध्याय यशोविजय कृत भी उपलभ्य है। युक्त्यनुशासन पर विद्यानदि आचार्य कृत टीका पाई जाती है। इस टीका की प्रस्तावना में कहा गया है कि समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमासा में 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' द्वारा तीर्थंकर भगवान् को व्यवस्थापित किया, और फिर युक्त्यनुशासन की रचना की। इसके द्वारा हमे उक्त दोनो ग्रन्थो के रचना-क्रम की सूचना मिलती है। विद्यानदी ने यहाँ जो 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' पद आप्तमीमासा के सम्बन्ध में प्रयोग किया है, उसका आगे बडा प्रभाव पडा, और हेमचन्द्र ने अपनी एक स्तुति रूप रचना का यही नाम रक्खा, जिस पर मल्लिषेण ने स्याद्वाद मजरी टीका लिखी। अपनी एक दूसरी स्तुति-रूप रचना को हेमचन्द्र ने अयोग-व्यवच्छेदिका नाम दिया है। समतभद्र कृत अन्य दो ग्रन्थो अर्थात् जीव-सिद्धि और तत्वानुशासन के नामो का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये रचनायें अभी तक प्रकाश मे नही आई।

सस्कृत मे जैन न्याय विषयक सक्षिप्ततम रचना सिद्धसेन कृत न्यायावतार उपलब्ध होती है, जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण-भेदो के प्रतिपादन द्वारा जैन न्याय को एक नया मोड दिया गया है। इससे पूर्व प्रमाण के मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल, पांच ज्ञानभेद किये जाते थे, जिनमें प्रथम दो परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष माने जाते थे। इसके अनुसार इन्द्रिय-जन्य समस्त ज्ञान परोक्ष माना जाता था। किन्तु वैदिक व बौद्ध परम्परा के न्याय शास्त्रो में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही मानकर चला गया है। इस ज्ञान को सम्भवत. जिनभद्रगणि ने अपने विशेषा-

वश्यक भाष्य मे प्रथम वार परोक्ष के स्थान पर 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' की सज्ञा प्रदान की। इसी आधार पर पीछे के न्याय ग्रन्थो मे प्रमाण को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन तथा उपमान को मिलाकर चार भेदो मे विभाजित कर ऊहापोह की जाने लगी। न्यायावतार मे कुल ३२ कारिकाए है, जिनके द्वारा उपर्युक्त तीन प्रमाणो का सक्षेप से प्रतिपादन किया गया है। इसी विषय का विस्तार न्यायावतार की हरिभद्र सूरि (८वी शती) कृत वृत्ति, सिद्धर्षि गणि (१०वी शती) कृत टीका, एव देवभद्र सूरि (१२ वी शती) कृत टिप्पणी में किया गया है। शान्तिसूरि (११वी शती) ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक पद्यबध वार्तिक रचा है। इसी प्रथम कारिका पर जिनेश्वर सूरि (११वी शती) ने अपना पद्यबंध प्रमालक्षण नामक गन्थ लिखा, और स्वय उसपर व्याख्या भी लिखी।

जैन न्याय को अकलक की देन बडी महत्वपूर्ण है। अनेक शिलालेखो व प्रशस्तियो के आधार से अकलक का समय ई० की आठवी शती का उत्तरार्द्ध विशेषत ई० ७२०-७८० सिद्ध हो चुका है। इनकी तत्त्वार्थसूत्र तथा आप्त-मीमासा पर लिखी हुई टीकाओ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन रचनाओ में हमें एक बडे नैयायिक की तर्क शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अकलक की न्यायविषयक चार कृतिया प्राप्त हुई हैं - प्रथम कृति लघीयस्त्रय में प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश नाम के तीन प्रकरण हैं जो प्रथमत स्वतत्र ग्रन्थ थे, और पीछे एकत्र ग्रथित होकर लघीयस्त्रयनाम से प्रसिद्ध हो गये। प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीनो का तार्किक शैली से एकत्र प्ररूपण करने वाला यही सर्वप्रथम ग्रन्थ सिद्ध होता है इस ग्रन्थ में उन्होने प्रत्यक्ष का स्वतत्र लक्षण स्थिर किया (१, ३), तार्किक कसौटी द्वारा क्षणिक-वाद का खडन किया (२, १), तर्क का विषय, स्वरूप, उपयोग आदि स्थिर किया, इत्यादि। इसपर स्वय कर्ता की विवृत्ति नामक टीका मिलती है। इसी पर प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रयालकार नामकी वह विशाल टीका लिखी जो 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है, और जैन न्याय का एक बडा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इनका काल ई० की ग्यारहवी शती है। अकलक की दूसरी रचना 'न्यायविनिश्चय' है, और उसपर भी लेखक ने स्वय एक वृत्ति लिखी थी। मूल रचना की कोई स्वतत्र प्रति प्राप्त नहीं हो सकी, किन्तु उसका उद्धार उनकी वादिराजसूरि (१३वी शती) द्वारा रचित विवरण नाम की टीका पर से किया गया है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नाम के तीन प्रस्ताव हैं, जिनकी तुलना सिद्धसेन द्वारा न्यायावतार में स्थापित प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत, तथा बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान

परार्थानुमान से करने योग्य है। तीसरी रचना 'सिद्धिविनिश्चय' मे प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्प सिद्धि, प्रमाणन्तर सिद्धि व जीवसिद्धि आदि बारह प्रस्तावो द्वारा प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन किया गया है। इस पर अनतवीर्यकृत (११वी शती) विशाल टीका है। इनका चौथा ग्रन्थ 'प्रमाण-सग्रह' है, जिसकी ८७-८८ कारिकाए नौ प्रस्तावो मे विभाजित है। इसपर कर्ता द्वारा स्वरचित वृत्ति भी है, जो गद्य मिश्रित शैली मे लिखी गई है। इसमे प्रत्यक्ष अनुमान आदि का स्वरूप, हेतुओ और हेत्वाभासो का निरूपण, वाद के लक्षण, प्रवचन के लक्षण, सप्तभगी और नैगमादि सात नयो का कथन, एव प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण बडी प्रौढ और गभीर शैली मे किया गया है, जिससे अनुमान होता है कि यही अकलक की अन्तिम रचना होगी। इसपर अनन्तवीर्य कृत प्रमाणसग्रह भाष्य, अपर नाम 'प्रमाणसग्रह-अलकार टीका' उपलभ्य है। इन रचनाओ द्वारा अकलक ने जैन न्याय को खूब परिपुष्ट किया है, और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है।

अकलक के अनन्तर जैन न्याय विषयक साहित्य को विशेष रूप से परिपुष्ट करने का श्रेय आचार्य विद्यानदि को है, जिनका समय ई० ७७५ से ८४० तक सिद्ध होता है। उनकी रचनाए दो प्रकार की पाई जाती है, एक तो उनसे पूर्वकाल की विशेष सैद्धान्तिक कृतियो की टीकाए, और दूसरे अपनी स्वतत्र कृतिया। उनकी उमास्वाति कृत त० सूत्र पर श्लोकवार्तिक नामक टीका, समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन की टीका और आप्तमीमासा पर अष्टसहस्त्री टीका के उल्लेख यथास्थान किये जा चुके हैं। इन टीकाओ मे भी उनकी सैद्धा-प्रतिभा एव न्याय की तर्क शैली के दर्शन पद-पद पर होते है। उनकी न्याय विषयक स्वतत्र कृतिया है—आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और सत्य-शासन-परीक्षा। आप्त-परीक्षा सर्वार्थसिद्धि के 'मोक्षमार्गस्थ नेतार' आदि प्रथम श्लोक के भाष्य रूप लिखी गई है। विद्या-नदि ने अपने प्रमाण-परीक्षादि ग्रन्थो मे उस वर्णनशैली को अपनाया है, जिसके अनुसार प्रतिपादन अन्य ग्रन्थ की व्याख्या रूप से नही, किन्तु विषय का स्वतत्र धारावाही रूप से किया जाता है। इन सब ग्रन्थो मे कर्ता ने अकलक के न्याय को और भी अधिक परिमार्जित करके चमकाया है। उनकी एक और रचना 'विद्यानद-महोदय' का उल्लेख स्वय उनके तत्वार्थश्लोकवार्तिक मे, तथा वादिदेव सुरि के 'स्याद्वाद-रत्नाकर' मे मिलता है, किन्तु वह अभी तक प्रकाश मे नही आ सकी है।

विद्यानदि के पश्चात् विशेष उल्लेखनीय नैयायिक अनतकीर्ति (१० वी शती) और माणिक्यनदि (११वी शती) पाये जाते है। अनन्त कीर्ति की दो रचनाएँ 'वृहत् सर्वज्ञसिद्धि' और 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' प्रकाश मे आ चुकी हैं। माणि-

क्यनंदि कृत परीक्षा मुख मे हमे अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु दृष्टान्त, उपनय और निगमन, इन पांचो अवयवो के प्रयोग की स्वीकृति दिखाई देती है(३, २७-४६) यहां अनुपलब्धि को एक मात्र प्रतिषेध का ही नहीं, किन्तु विधि-निषेध दोनो का साधक बतलाया है (३, ५७ आदि)। यह ग्रथ प्रभाचन्द्र कृत प्रमेय-कमल मार्तण्ड' नामक टीका के द्वारा विशेष प्रख्यात हो गया है। प्रभाचन्द्र कृत 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक टीका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रभाचन्द्र का काल ई० की ११वी शती सिद्ध होता है। १२वी शती मे अनन्तवीर्य ने प्रमेय रत्नमाला, १५वी शती मे धर्मभूषण ने न्यायदीपिका, विमलदास ने सप्तभगी-तरगिणी, शुभचन्द्र ने सशयवदनविदारण, तथा अनेक आचार्यो ने पूर्वोक्त ग्रथो पर टीका, वृत्ति व टिप्पण रूप से अथवा स्वतत्र प्रकरण लिखकर सस्कृत मे जैन न्यायशास्त्र की परम्परा को १७ वी-१८ वी शती तक बराबर प्रचलित रखा, और उसका अध्ययन-अध्यापन उत्तरोत्तर सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया।

जिस प्रकार दिग० सम्प्रदाय मे पूर्वोक्त प्रकार से न्यायविषयक ग्रथो की रचना हुई, उसी प्रकार श्वे० सम्प्रदाय मे भी सिद्धसेन के पश्चात् सस्कृत मे नाना न्यायविषयक ग्रन्थो की रचना की परम्परा १८वी शती तक पाई जाती है। मुख्य नैयायिक और उनकी रचनाएं निम्न प्रकार हैं मल्लवादी ने छठवी शती मे द्वादशार नयचक्र नामक ग्रथ की रचना की जिस पर सिंहसूरिगणि की वृत्ति है और उसी वृत्ति पर से इस ग्रथ का उद्धार किया गया है– इसमे सिद्धसेन के उद्धरण पाये जाते हैं, तथा भर्तृहरि और दिङनाग के मतोका भी उल्लेख हुआ है। इस नयचक्र का कुछ उद्धरण अकलक के तत्त्वार्थवार्तिक मे भी पाया जाता है। आठवी शती हरिभद्राचार्य ने न केवल जैन न्याय को, किन्तु जैन सिद्धात को भी अपनी विपुल रचनाओ द्वारा परिपुष्ट बनाया है, एव कथा साहित्य को भी अलकृत किया है। उनकी रचनाओ में अनेकात जयपताका (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), अनेकात-वाद-प्रवेश तथा सर्वज्ञसिद्धि जैन न्याय की दृष्टि से उल्लेख-नीय हैं।

अनेकात-जयपताका में ६ अधिकार है जिनमें क्रमश सदसद्-रूप-वस्तु, नित्यानित्यवस्तु, सामान्य-विशेष, अभिलाप्यानभिलाप्य, योगाचार मत, और मुक्ति इन विषयो पर गम्भीर व विस्तृत न्यायशैली से उहापोह की गई है। उक्त विषयो में से योगाचार मत को छोडकर शेष पांच विषयो पर हरिभद्र ने अनेकातवाद-प्रवेश नामक ग्रन्थ सम्कृत में लिखा, जो भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से अनेकात जयपताका का सक्षिप्त रूप ही प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ एक

टिप्पणी सहित प्रकाशित हो चुका है (पाटन १६१२। उनके अष्टप्रकरण नामक ग्रथ में आठ आठ पद्यो के ३२ प्रकरण हैं जिममें आत्मनित्यवाद, क्षणिकवाद नित्यानित्य आदि विययो का निरूपण पाया जाता है। इस पर जिनेश्वर सूरि (११ वी शती) की टीका है। इस टीका में कुछ अश प्राकृत के हैं जिनका सस्कृत रूपान्तर टीकाकार के शिष्य अभयदेव सूरि ने किया है। उनकी अन्य अन्य दार्शनिक रचनाएँ है षट्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय (सटीक) धर्मसग्रहणी, तत्वतरंगिणी व परलोकसिद्धि आदि। धर्मसग्रहणी में १६६५ गाथाओ द्वारा धर्म के स्वरूप का निक्षेपो द्वारा प्ररूपण किया गया है। प्रसगवश इसमे चार्वाक मत का खण्डन भी आया है। इस पर मलयगिरि कृत सस्कृत टीका उपलब्ध है। उनकी योगविषयक योगबिंदु, योगदृष्टि-समुच्चय, योग-शतक, योगविंशिका(विंशति विंशिका मे १७वी विंशिका) एवम् षोडशक (१५ वा, १६वा षोडशक) नामक रचनाएँ पातज्जल योग शास्त्र की तुलना में योग विषयक ज्ञान विस्तार की दृष्टि से अध्ययन करने योग्य हैं। अन्यमतो के विवेचन की दृष्टि से उनकी द्विज-वदन-चपेटा नामक रचना उल्लेखनीय है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होने बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५वी शती) के न्यायप्रवेश पर अपनी टीका लिखकर एक तो मूल ग्रन्थ के विषय को बडे विशदरूप में सुस्पष्ट किया और दूसरे उसके द्वारा जैन सम्प्रदाय मे बौद्ध न्याय के अध्ययन की परम्परा चला दी। आगामी काल की रचनाओ मे वादिदेव सूरि (१२ वी शती) कृत प्रमाणनयतात्वालोकालकार, स्याद्वाद रत्नाकर, हेमचन्द्र (१२ वी शती) कृत प्रमाण-मीमासा व अन्ययोगव्यवच्छेदिका और वेदांकुश रत्नप्रभसूरि (१३ वी शती) कृत स्याद्वाद-रत्नाकरावतरिका, जयसिंह सूरि (१५ वी शती) कृत न्यायसार-दीपिका, शुभ विजय (१७ वी शती) कृत स्याद्वादमाला, विनय विजय (१७वी शती) कृत नयकर्णिका उल्लेखनीय है।

समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ के टीकाकार विद्यानदि ने आप्तमीमासा को 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' कहा है, और तदनुसार हेमचद्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेद ये दो द्वात्रिंशिकाएँ लिखी। अन्ययोग-व्यच्छेदिका पर मल्लिषेण सूरि ने एक सुविस्तृत टीका लिखी जिसका नाम स्याद्वादमजरी है, और जिसे उन्होंने अपनी प्रशस्ति के अनुसार जिनप्रभसूरि की सहायता से शक स० १२१४(ई०१२६२) मे समाप्त किया था। इसमे न्याय, वैशेषिक पूर्व मीमासा, वेदान्त, बौद्ध व चार्वाक मतो का परिचय और उनपर टीकाकार के समालोचनात्मक विचार प्राप्त होते हैं। इस कारण यह ग्रन्थ जैन दर्शन के उक्त दर्शनो से तुलनात्मक अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अठारवी शताब्दी में आचार्य यशोविजय हुए, जिन्होने जैनन्याय और सिद्धान्त को अपनी रचनाओ द्वारा खूब परिपुष्ट किया। न्याय की दृष्टि से उनकी 'अनेकान्त-व्यवस्था', 'जैन तर्कभाषा', 'सप्तभगी-नय-प्रदीप', 'नयप्रदीप' 'नयोपदेश','नयरहस्य' व ज्ञानसार-प्रकरण,' 'अनेकान्त-प्रवेश', अनेकान्त-व्यवस्था व वाद माला आदि उल्लेखनीय है। तर्कभाषा मे उन्होने अकलक के लघीयस्त्रय तथा प्रणाम-सग्रह के अनुसार प्रमाण नय और निक्षेप, इन तीन विषयो का प्रतिपादन किया है। बौद्ध परम्परा में मोक्षाकार कृत तर्कभाषा (१२ वी शती) और वैदिक परम्परा में केशव मिश्र कृत तर्कभाषा (१३ वी १४ वी शती) के अनुसरण पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'जैन तर्कभाषा चुना गया लगता है। उन्होने ज्ञानविन्दु, न्यायखण्डखाद्य तथा न्यायालोक को नव्य शैली में लिखकर जैन न्याय के अध्ययन को नया मोड दिया। ज्ञानविंदु मे उन्होने प्राचीन मतिज्ञान के व्यजनावग्रह को कारणाश, अर्थावग्रह और ईहा को व्यापराश, अवाय को फलाश और धारणा को परिपाकाश कहकर जैन परिभाषाओ की न्याय आदि दर्शनो मे निर्दिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियाओ से सगति वैठाकर दिखलाई है।

करणानुयोग साहित्य—

उपर्युक्त विभागानुसार द्रव्यानुयोग के पश्चात् जैन साहित्य का दूसरा विषय है करणानुयोग। इसमें उन ग्रन्थो का समावेश होता है जिनमे ऊर्ध्व, मध्य व अघोलोको का, द्वीपसागरो का, क्षेत्रो, पर्वतो व नदियो आदि का स्वरूप व परिमाण विस्तार से, एव गणित की प्रक्रियाओ के आधार से, वर्णन किया गया है। ऐसी अनेक रचनाओ का उल्लेख ऊपर वर्णित जैन आगम के भीतर किया जा चुका है, जैसे सूर्यप्रज्ञप्ति,चन्द्रप्रज्ञप्ति जम्बूद्विप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति। इन प्रज्ञप्तियो में समस्त विश्व को दो भागो मे वाटा गया है—लोकाकाश व अलोकाकाश। अलोकाकाश विश्व का वह अनन्त भाग है जहा आकाश के सिवाय अन्य कोई जड या चेतन द्रव्य नही पाये जाते। केवल लोकाकाश ही विश्व का वह भाग है जिसमें जीव, और पुद्गल तथा इनके गमनागमन में सहायक धर्म और अधर्म द्रव्य तथा द्रव्य परिवर्तन मे निमित्तभूत काल ये पाँच द्रव्य भी पाये जाते हैं। इस द्रव्यलोक के तीन विभाग है–ऊर्ध्व, मध्य, और अघोलोक। मध्यलोक में हमारी वह पृथ्वी है, जिसपर हम निवास करते है यह पृथ्वी गोलाकार असख्य द्वीप-सागरो में विभाजित है। इसका मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, जिसे वलयाकार वेष्टित किये हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। लवणसमुद्र को चार लाख योजन विस्तार वाला धातकी खड द्वीप वेष्टित किये हुए है, और उसे

भी वेष्टित किये हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि के आसपास १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके आगे उक्त प्रकार दुगुने, दुगने विस्तार वाले असख्य सागर और द्वीप हैं। पुष्करवर-द्वीप के मध्य में एक महान् दु लँघ्य पर्वत है, जो मानुषोत्तर कहलाता है, क्योकि इसको लाघकर उस पार जाने का सामर्थ्य मनुष्य मे नही है। इस प्रकार जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्य-लोक कहलाता है। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रो मे विभाजित है, जिनकी सीमा निर्धारित करने वाले छह कुल पर्वत हैं। क्षेत्रो के नाम हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनके विभाजक पर्वत हैं–हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। इनमे मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र सबसे विशाल है, और उसी के मध्य मे मेरु पर्वत है। भरतक्षेत्र मे हिमालय से निकलकर गगा नदी पूर्व समुद्र की ओर, तथा सिन्धु पश्चिम समुद्र की ओर बहती है। मध्य मे विन्ध्य पर्वत है। इन नदी-पर्वतो के द्वारा भरत क्षेत्र के छह खड हो गये है, जिनको जीतकर अपने वशीभूत करने वाला सम्राट ही षट्खड चक्रवर्ती कहलाता है।

मध्यलोक मे उपर्युक्त असख्य द्वीपसागरो की परम्परा स्वयम्भूरमण समुद्र पर समाप्त होती है। मध्यलोक के इस असख्य योजन विस्तार का प्रमाण एक राजु माना गया है। इस प्रमाण से सात राजु ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक, और सात राजु नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। ऊर्ध्वलोक मे पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारो की स्थिति बतलाई गई है। इनके ऊपर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये सोलह स्वर्ग है। इन्हे कल्प भी कहते है, क्योकि इनमे रहने वाले देव, इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पदरुप कल्पो (भेदो) मे विभाजित हैं। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक, और उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पाच कल्पातीत देव-विमान है। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग है, जहा मुक्तात्माए जाकर रहती हैं। इसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से कोई जीव या अन्य प्रवेश नही कर पाता। अधो-लोक मे क्रमश रत्न, शर्करा, बालुका, पक, धूम, तम और महातम प्रभा नाम के सात उत्तरोत्तर नीचे की ओर जाते हुए नरक हैं।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे अवसर्पिणि और उस सर्पिणि रूप से काल-चक्र

घूमा करता है जिसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह अवसर्पिणी के, और ये ही विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी के आरे होते है। प्रथम तीन आरो के काल मे भोगभूमि की रचना रहती है, जिसमे मनुष्य अपनी अन्न वस्त्र आदि समस्त आवश्यकताएँ कल्पवृक्षो से ही पूरी करते है और वे कृषि आदि उद्योग व्यवसायो से अनभिज्ञ रहते हैं। सुषमा दुषमा काल के अन्तिम भाग मे क्रमश भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होती और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ होती है। उस समय कर्मभूमि सम्बन्धी युग-धर्मों को समझाने वाले क्रमश चौदह कुलकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के सुषमा-दुषमा काल के अन्त मे प्रतिश्रुति, सन्मति क्षेमकर, क्षेमधर, सीमकर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजीत, औरना भिराज, इन चौदह कुलकरो और विशेषत अतिम कुलकर नाभिराज ने असि, मसि, कृषि, विद्या वाणिज्य, शिल्प और उद्योग, इन षट्कर्मो की व्यवस्थाएँ निर्माण की। इनके पश्चात् ऋषभ आदि २४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव ६ वासुदेव, और ६ प्रति-वासुदेव ये ६३ शलाका पुरुष दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल मे हुए। अतिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् पचम काल दुषम प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान मे चल रहा है। यही सामान्य रूप से करणानुयोग के ग्रन्थो मे वर्णित विषयो का सक्षिप्त परिचय है। किन्ही ग्रथो मे यह सम्पूर्ण विषयवर्णन किया गया है, और किन्ही मे इसमे से कोई। किन्तु विशेपता यह है कि इनके विषय के प्रतिपादन मे गणित की प्रक्रियाओ का प्रयोग किया गया है, जिससे ये ग्रन्थ प्राचीन गणित के सूत्रो, और उनके क्रम-विकास को समझने मे बडे सहायक होते है। इस विपय के मुख्य ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं —

दिग० परम्परा मे इस विषय का प्रथम ग्रन्थ लोकविभाग प्रतीत होता है। यद्यपि यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है, तथापि इसके पश्चात् कालीन सस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर सिंहसूरि कृत लोक विभाग मे मिलता है। सिंहसूरि ने अपनी प्रशस्ति में स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर महावीर ने जगत् का जो विधान बतलाया उसे सुधर्म स्वामी आदि ने जाना, और वही आचार्य परम्परा से प्राप्त कर सिंह-सूरि ऋषि ने भाषा का परिवर्तन करके रचा। जिस मूलग्रन्थ का उन्होंने यह भाषा परिवर्तन किया, उसका भी उन्होने यह परिचय दिया है कि वह ग्रन्थ काची नरेश सिंहवर्मा के बाइसवें सवत्सर, तदनुसार शक के ३८० वे वर्ष मे सर्वनंदि मुनि ने पाड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम में लिखा था। इतिहास से सिद्ध है कि शक सवत् ३८० में पल्लववशी राजा सिंहवर्मा राज्य करते थे, उनकी राजधानी काची थी। यह मूल ग्रन्थ अनुमानत प्राकृत में ही रहा हो।

कुंदकुंदकृत नियमसार की १७ वी गाथा में जो 'लोयविभागे सुणदव्वं' रूप से उल्लेख किया गया है, उसमें सम्भव है इसी सर्वनंदि कृत लोक विभाग का उल्लेख हो। आगामी तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में लोक विभाग का अनेक वार उल्लेख किया गया है।

सिंहसूरि ऋषि ने यह भी कहा है कि उन्होंने अपना यह रूपान्तर उक्त ग्रंथ पर से समास अर्थात् संक्षेप में लिखा है। जिस रूप में यह रचना प्राप्त हुई है उसमें २२३० श्लोक पाये जाते हैं, और वह जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, द्वीप-समुद्र, काल, ज्योतिर्लोक, भवनवासी लोक, अधोलोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक, और मोक्ष इन ग्यारह विभागों में विभाजित है। ग्रन्थ में यत्र-तत्र तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण, त्रिलोकसार व जम्बूद्वीप-पण्णत्ति ग्रंथो के अवतरण या उल्लेख पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना ११ वी शती के पश्चात् हुई अनुमान की जा सकती है।

त्रैलोक्य सम्बन्धी समस्त विषयो को परिपूर्णता और सुव्यवस्था से प्रतिपादित करने वाला उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति है जिसकी रचना प्राकृत गाथाओ में हुई है। यत्र-तत्र कुछ प्राकृत गद्य भी आया है, एवं अंकात्मक संदृष्टियों की उसमें बहुलता है। ग्रन्थ इन नौ महाधिकारो में विभाजित है— सामान्यलोक, नारकलोक, भवनवासी लोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक। ग्रन्थ की कुल गाथा-संख्या ५६७७ है। बीच बीच में इन्द्रवज्रा, स्रग्धरा, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका और मालिनी छंदो का भी प्रयोग पाया जाता है। ग्रन्थोल्लेखो में अग्गायणी, संगोयणी, संगाहनी, दिट्ठिवाद, परिकम्म, मूलायार, लोयविणिच्छय, लोगाइणी व लोकविभाग नाम पाये जाते हैं। मनुष्य लोकान्तर्गत त्रेसठ शलाका पुरुषो की ऐतिहासिक राजवंशीय परम्परा, महावीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि के काल तक वर्णित है। षट्खंडागम की वीरसेन कृत धवला टीका में तिलोयपण्णत्ति का अनेक वार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखो पर से इस ग्रन्थ की रचना- मूलत: ई० सन् के ५०० और ८०० के बीच हुई सिद्ध होती है। किन्तु उपलभ्य ग्रन्थ मे कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं जो उक्त वीरसेन कृत धवला टीका पर से जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के कर्ता यति वृषभाचार्य हैं, जो कषायप्राभृत की चूर्णि के लेखक से अभिन्न ज्ञात होते हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार १०१८ प्राकृत गाथाओ में समाप्त हुआ है। उसमें यद्यपि कोई अध्यायो के विभाजन का निर्देश नहीं किया गया, तथापि जिन विषयो के वर्णन की आरम्भ में प्रतिज्ञा की गई है, और उसी अनुसार जो वर्णन हुआ है, उस पर से इसके लोक-सामान्य तथा

भवन व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और नर-तियक्लोक ये छह अधिकार पाये जाते हैं। विषय वर्णन प्राय त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार सक्षिप्त रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११ वी शती है।

पद्मनदि मुनि कृत जम्बूद्वीपवपण्णत्ति मे २३८९ प्राकृत गाथाए हैं और रचना तिलोय पण्णति के आधार से हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके तेरह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं– उपोद्घात, भरत-एरावत वर्ष, शैल-नदी-भोगभूमि, सुदर्शन मेरु,मदर जिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्व विदेह, अपर विदेह, लवण समुद्र, द्वीप सागर-अध -ऊर्ध्व-सिद्धलोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद ग्रन्थ के अन्त मे कर्ता ने वतलाया है कि उन्होने जिनागम को ऋषि विजय गुरु के समीप सुनकर उन्ही के प्रसाद से यह रचना माघनदि, के प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनदि गुरु के निमित्त की। उन्होने स्वय अपने को वीरनदि के प्रशिष्य व वलनदि के शिष्य कहा है, तथा गन्थ रचना का स्थान परियात्र देश के अन्तर्गत वारानगर और वहाँ के राजा सति या सत्ति का उल्लेख किया है।

श्वे० परम्परा मे इस विषय की आगमान्तर्गत सूर्य, चन्द्र व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तियों के अतिरिक्त जिनभद्रगणि कृत दो रचनाए क्षेत्रसमास और सग्रहणी उल्लेखनीय है। इन दोनो रचनाओ के परिमाण मे क्रमश. वहुत परिवर्द्धन हुआ है, और उनके लघु और वृहद् रूप सस्करण टीकाकारो ने प्रस्तुत किये हैं, उपलभ्य वृहत्क्षेत्रमास, अपरनाम त्रैलोक्यदीपिका, मे ६५६ गाथाए हैं, जो इन पाच अधिकारो मे विभाजित हैं– जम्बूद्वीप, लवणोदधि, धातकीखड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध। इस प्रकार इसमे मनुष्य लोक मात्र का वर्णन है। उपलभ्य वृहत्सग्रहणी के सकलनकर्ता मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (१२ वी शती) हैं। इसमे ३४९ गाथाए हैं, जो देव, नरक, मनुष्य, और तिर्यच, इन चार गति नामक अधिकारो मे, तथा उनके नाना विकल्पो एव स्थिति, अवगाहना आदि के प्ररूपक नाना द्वारो मे विभाजित है। यहाँ लोको की अपेक्षा उनमे रहने वाले जीवो का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। एक लघुक्षेत्रमास रत्नशेखर सूरि (१४ वी शती, कृत २६२ गाथाओ मे तथा वृहत्क्षेत्र समास सोमतिलक सूरि (१४ वी शती) कृत ४८९ गाथाओ मे, भी पाये जाते हैं। इनमे भी अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है। विचारसार-प्रकरण के कर्ता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि (१३ वी शती)है। इसमें ९०० गाथाओ द्वारा कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य व अनार्य देश, राजधानियाँ, तीर्थंकरो के पूर्व-भव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म आदि एव समवशरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य

कल्कि, शक व विक्रम काल गणना, दशनिन्ह्व, ८४ लाख योनिया व सिद्ध, इस प्रकार नाना विपयो का वर्णन है। इस पर माणिक्यसागर कृत संस्कृत छाया: उपलम्य है। (आ० स० भावनगर, १६८३)।

उक्त समस्त रचनाओ से सभवत प्राचीन 'ज्योतिषकरडक' नामक ग्रन्थ है जिसे मुद्रित प्रति मे 'पूर्वभृद् बालम्य प्राचीनतराचार्य कृत' कहा गया है (प्र० रतलाम १६२८)। इस पर पादलिप्त सूरि कृत टीका का भी उल्लेख मिलता है। उपलम्य ज्योतिषकरडक प्रकीर्णक में ३७६ गाथाए हैं, जिनकी भाषा व शैली जैन महाराष्ट्री प्राकृत रचनाओ से मिलती है। ग्रन्थ के आदि मे कहा गया है कि सूर्यप्रज्ञप्ति में जो विषय विस्तार से वर्णित है उसको यहाँ सक्षेप से पृथक् उद्धत किया जाता है। ग्रन्थ में कालप्रमाण, मान, अधिकमास-निष्पत्ति तिथि-निष्पत्ति, ओमरत्त (हीनरात्रि) नक्षत्र परिमाण, चन्द्र-सूर्य-परिमाण, नक्षत्र चन्द्र-सूर्य गति, नक्षत्रयोग, मडलविभाग, अयन आवृत्ति, मुहूर्तगति, ऋतु, विपुवत (अहोरात्रि- समत्व), व्यतिपात, ताप, दिवसवृद्धि, अमावस-पौर्णमासी, प्रनष्टपर्व और पौरूषी, ये इक्कीस पाहुड हैं।

सस्कृत और अपभ्रश के पुराणो मे, जैसे हरिवशपुराण, महापुराण, त्रिशष्ठि शलाकापुरुष चरित्र, तिसट्ठिदहापुरिसगुणालकार मे भी त्रैलोक्य का वर्णन पाया जाता है। विशेषत जिनसेन कृत सस्कृत हरिवशपुराण (८ वी शती) इसके लिये प्राचीनता व विषय विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसके चौथे से सातवें सर्ग तक क्रमश: अधोलोक, तिर्यग्लोक, ऊर्ध्वलोक और काल का विशद वर्णन किया गया है, जो प्राय: तिलोय-पण्णत्ति से मेल खाता है।

चरणानुयोग-साहित्य

जैन साहित्य के चरणानुयोग विभाग मे वे ग्रन्थ आते है जिनमे आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि द्वादशाग आगम के भीतर ही प्रथम आचाराग मे मुनिधर्म का तथा सातवें अग उपासकाध्ययन मे गृहस्थो के आचार का वर्णन किया गया है। पश्चात्कालीन साहित्य मे इन दोनों प्रकार के आचार पर नाना ग्रन्थ लिखे गये।

मुनिआचार-प्राकृत

सर्वप्रथम कुन्दाकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे हमे मुनि और श्रावक सम्बन्धी आचार का भिन्न-भिन्न निरूपण प्राप्त होता है। उनके प्रवचनसार का तृतीय श्रुतस्कध यथार्थत मुनिआचार सम्बन्धी एक स्वतत्र रचना है जो सिद्धो, तीर्थंकरो और श्रमणो के नमस्कारपूर्वक श्रामण्य का निरूपण करता है। यहाँ ७५

गाथाओ द्वारा श्रमण के लक्षण, प्रवृज्या तथा उपस्थापनात्मक दीक्षा, अट्ठाईस मूलगुणो का निर्देश, छेद का स्वरूप, उत्सर्ग व अपवाद मार्ग का निरूपण, ज्ञानसाधना, शुभोपयोग, सयमविरोधी प्रवृत्तियो का निषेध तथा श्रामण्य की पूर्णता द्वारा मोक्ष तत्व की साधना का प्ररूपण कर अन्तिम गाथा मे यह कहते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है कि जो कोई सागार या अनगार आचार से युक्त होता हुआ इस शासन को समझ जाय, वह अल्पकाल मे प्रवचन के सार को प्राप्त कर लेता है।

नियमसार मे १८७ गाथाए है। लेखक ने आदि मे स्पष्ट किया है कि जो नियम से किया जाय, वही नियम है और वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। 'सार' शब्द से उनका तात्पर्य है कि उक्त नियम से विपरीत बातो का परिहार किया जाय। तत्पश्चात् ग्रन्थ मे उक्त तीनो के स्वरूप का विवेचन किया है। गाथा ७७ से १५७ तक ८१ गाथाओ मे आवश्यको का स्वरूप विस्तार से समझाया है, जिसे उन्होने मुनियो का निश्चययात्मक चारित्र कहा है। यहाँ षड़ावश्यको का क्रम एव उनके नाम अन्यत्र से कुछ भिन्न हैं। जिन आवश्यको का यहाँ वर्णन हुआ है, वे है—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान' आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। उन्होने कहा है—प्रतिक्रमण उसे कहते है जिसका जिनवर-निर्दिष्ट सूत्रो मे वर्णन है (गाथा ८९) और उसका स्वरूप वही है जो प्रतिक्रमण नामके सूत्र मे कहा गया है (गाथा ९४)। यहा आवश्यक निर्युक्ति का स्वरूप भी समझाया गया है। जो अपने वश अर्थात् स्वेच्छा पर निर्भर नही है वह अवश, और अवश करने योग्य कार्य आयश्यक है। युक्ति का अर्थ है उपाय, वही निरवयव अर्थात् समष्टि रूप से निर्युक्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि लेखक के सम्मुख एक आवश्यक निर्युक्ति नाम की रचना की थी और वे उसे प्रामाणिक मानते थे (गाथा १४२)। आवश्यक द्वारा ही श्रामण्य गुण की पूर्ति होती है। अतएव जो श्रमण आवश्यक से हीन है, वह चारित्र-भ्रष्ट होता है (१४७-४८)। आवश्यक करके ही पुराण पुरुष केवली हुए है (गाथा १५७)। इस प्रकार ग्रन्थ का बहुभाग आवश्यको के महत्व और उनके स्वरूप विषयक है। आगे की १०, १२ गाथाओ मे केवली के ज्ञानदर्शन तथा इनके क्रमश पर-प्रकाशकत्व और स्व-प्रकाशकत्व के विषय मे आचार्य ने अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट किये है। यह प्रकरण षट्खडागम की धवला टीका में ज्ञान और दर्शन के विवेचन विषयक प्रकरण से मिलान करने योग्य है। अत मे मोक्ष के स्वरूप पर कुछ विचार प्रकट कर नियमसार की रचना निजभावना निमित्त की गई है, ऐसा कह कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस

ग्रन्थ की १७ वीं गाथा में मनुष्य, नारकी, तिर्यंच व देवों का भेद-विस्तार लोकविभाग में जानना चाहिये, ऐसा कहा है। इस उल्लेख के संबध में विद्वानों में यह मतभेद है कि यहां लोक-विभाग नामक किसी विशेष रचना से तात्पर्य है, अथवा लोकविभाग संबंधी सामान्य शास्त्रों से। ग्रन्थ के टीकाकार मलधारि देव ने तो यहां स्पष्ट कहा है कि पूर्वोक्त जीवों का भेद लोकविभाग नामक परमागम में देखना चाहिये (लोकविभागाभिधान-परमागमे द्रष्टव्य)। लोक-विभाग नामक संस्कृत ग्रन्थ मिलता है, जिसके कर्त्ता सिंहसूरि ने उसमें सर्वनंदि द्वारा शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में लिखित प्राकृत लोकविभाग का उल्लेख किया है। आश्चर्य नहीं जो यही लोक विभाग नियमसार के लेखक की दृष्टि में रहा हो। किसी बाधक प्रमाण के अभाव में इस काल को कुंदकुंद के काल की पूर्वावधि मानना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

नियमसार पर संस्कृत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' पद्मप्रभ मलधारिदेव कृत पाई जाती है। इस टीका के आदि में तथा पांचवें श्रुतस्कंध के अन्त में कर्त्ता ने वीरनंदि मुनि की वन्दना की है। चालुक्यराज त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेव के समय शक सं० ११०७ के एक शिलालेख (एपी० इन्डि० १९१६-१७) में पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु वीरनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती का उल्लेख है। ये ही पद्मप्रभ इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं।

नियमसार में गाथा १३४ से १४० तक परमभक्तिरूप आवश्यकक्रिया का निरूपण है, जिसमें सम्यक्त्व, ज्ञान व चरण में भक्ति, निर्वाणभक्ति, मोक्षगत पुरुषों की भक्ति एवं योगभक्ति का उल्लेख आया है, और अन्त में यह भी कहा गया है कि योगभक्ति करके ही ऋषभादि जिनेन्द्र निर्वाण-सुख को प्राप्त हुए (गा० १४०)। इस प्रसंगानुसार कुंदकुंद द्वारा स्वयं पृथक् रूप से भक्तियां लिखा जाना भी सार्थक प्रतीत होता है। कुंदकुंद कृत उपलभ्य दशभक्तियों के नाम ये हैं —तीर्थंकर भक्ति (गा० ८), सिद्धभक्ति (गा० ११), श्रुतभक्ति (गा ११), चारित्रभक्ति (गा० १२), अनगारभक्ति (गा० २३). आचार्यभक्ति (गा० १०), निर्वाणभक्ति (गा० २७), पंचपरमेष्ठिभक्ति (गा० ७) नंदीश्वरभक्ति और शान्ति भक्ति। ये भक्तियां उनके नामानुसार वन्दनात्मक व भावनात्मक हैं। सिद्धभक्ति की गाथा-संख्या कुछ अनिश्चित है। अन्तिम दो अर्थात् नंदीश्वरभक्ति और शांति-भक्ति जिस रूप में मिलती है, उसमें केवल अन्तिम कुछ वाक्य प्राकृत में हैं। उनका पूर्ण प्राकृत पाठ अप्राप्य है। इनकी प्राचीन प्रतियां एकत्र कर संशोधन किये जाने की आवश्यकता है। ये भक्तियां प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत टीका सहित 'क्रियाकलाप' नाम से प्रकाशित हुई हैं। (प्र० शोलापुर १९२१)।

धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष-प्राप्ति, और मोक्ष का मार्ग है सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन्ही तीन का प्रतिपादन कुन्दकुन्द ने क्रमश अपने दर्शन, सूत्र व चारित्र पाहुडो में किया है उन्होंने दर्शन पाहुड की १५ वी गाथा मे कहा है कि सम्यक्त्व (दर्शन) से ज्ञान और ज्ञान से सब भावो की उपलब्धि तथा श्रेय-अश्रेय का बोध होता है, जिसके द्वारा शील की प्राप्ति होकर अन्तत निर्वाण की उपलब्धि होती है। उन्होने छह द्रव्य और नौ पदार्थों तथा पाच अस्तिकायो और सात तत्वो के स्वरूप में श्रद्धान करने वाले को व्यवहार से सम्यग्दृष्टि तथा आत्म श्रद्धानी को निश्चय सम्यग्दृष्टि कहा है (गाथा १९-२०)।

सूत्र पाहुड में बतलाया गया है कि जिसके अर्थ का उपदेश अर्हत् (तीर्थंकर) द्वारा, एव ग्रथ-रचना गणधरो द्वारा की गई है, वही सूत्र है और उसी के द्वारा श्रमण परमार्थ की साधना करते हैं (गाथा १)। सूत्र को पकड-कर चलने वाला पुरुष ही बिना भ्रष्ट हुए ससार के पार पहुँच सकता है, जिस प्रकार कि सूत्र (धागा) से पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है और बिना सूत्र के खो जाती है (गाथा ३-४)। आगे जिनोक्त सूत्र के ज्ञान से ही सच्ची दृष्टि की उत्पत्ति तथा उसे ही व्यवहार परमार्थ बतलाया गया है। सूत्रार्थपद से भ्रष्ट हुए साधक को मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये (गाथा ५-७)। सूत्र सबधी इन उल्लेखो से प्रमाणित होता है कि कुन्दकुन्द के सम्मुख जिनागम सूत्र थे, जिनका अध्ययन और तदनुसार वर्णन, वे मुनि के लिये आवश्यक समझते थे। आगे की गाथाओ मे उन्होने मुनि के नग्नत्व व तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहितपना बतलाकर स्त्रियो की प्रवृज्या का निषेध किया है, जिससे अनुमान होता है कि कर्ता के समय में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद बद्धमूल हो गया था।

चारित्र पाहुड के आदि मे बतलाया गया है कि जो जाना जाय वह ज्ञान जो देखा जाय वह दर्शन, तथा इन दोनो के सयोग से उत्पन्न भाव चारित्र होता है, तथा ज्ञान-दर्शन युक्त क्रिया ही सम्यक् चारित्र होता है। जीव के ये ही तीन भाव अक्षय और अनन्त हैं, और इन्ही के शोधन के लिये जिनेन्द्र ने दो प्रकार का चारित्र बतलाया है-एक दर्शनज्ञानात्मक सम्यक्त्व चारित्र और दूसरा सयम-चारित्र (गाथा ३-५)। आगे सम्यक्त्व के नि शकादिक आठ अग (गाथा ७) सयम चारित्र के सागार और अनगार रूप दो भेद (गाथा २१), दर्शन, व्रत आदि देशव्रती की ग्यारह प्रतिमाएँ (गाथा २२), अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रत, द्वारा बारह प्रकार का सागारधर्म (गाथा २३-२७) तथा पचेन्द्रिय सवर व पाच व्रत उनकी पच्चीस क्रियाओ सहित, पाच समिति और तीन गुप्ति रूप अनगार सयम का प्ररूपण किया है (गाथा २८ आदि)। बारह

श्रावक व्रतो के सबध मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहा दिशा-विदिशा प्रमाण अनर्थदडवर्जन और भोगोपभोग-प्रमाण ये तीन गुणव्रत तथा सामयिक, प्रोषध, अतिथि पूजा और सल्लेखना, ये चार शिक्षा-व्रत कहे गये हैं। यह निर्देश त० सू० (७, २१) मे निर्दिष्ट व्रतो से तीन बातो मे भिन्न है—एक तो यहा भोगोपभोग-परिमाण को अनर्थदड व्रत के साथ गुणव्रतो मे लिया गया है, दूसरे यहा देशव्रत का कोई उल्लेख नही है, और तीसरे शिक्षाव्रतों मे सल्लेखना का निर्देश सर्वथा नया है। यहा यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि त सू. (७-२१) मे दिग्देशादि सात व्रतो का निर्देश एक साथ किया गया है, उसमें गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो का पृथग् निर्देश नही है। इनका निर्देश हमे प्रथम बार कुन्दकुन्द के इसी पाहुड मे दिखाई देता है। हरिभद्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति में गुणव्रतो का निर्देश कुन्दकुन्द के अनुकूल है, किन्तु शिक्षाव्रतो मे वहा सल्लेखना का उल्लेख न होकर देशावकाशिक का ही निर्देश है। अनगार सयम के सबध मे उल्लेखनीय बात यह है कि यहा पचविंशति क्रियाओ व तीन गुप्तियो का समावेश नया है तथा उसमे लोच आदि सात विशेष गुणो का निर्देश नही पाया जाता, यद्यपि प्रवचनसार (गा० ३, ८) मे उन सातो का निर्देश है, किन्तु तीन गुप्तियो का उल्लेख नही है।

बोध पाहुड (गाथा ६२) मे आयतन, चैत्य-गृह, प्रतिमा, दर्शन, बिंब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह के सच्चे स्वरूप का प्ररूपण किया गया है, और पचमहाव्रतधारी महर्षि को सच्चा आयतन, उसे ही चैत्य-गृह, वन्दनीय प्रतिमा, सम्यक्त्व, ज्ञान व सयम रूप मोक्षमार्ग का दर्शन करानेवाला सच्चा दर्शन, उसी को तप और व्रतगुणो से युक्त सच्ची अर्हंत मुद्रा, उसके ही ध्यान योग मे युक्त ज्ञान को सच्चा ज्ञान, वही अर्थ, धर्म काम व प्रव्रज्या को देनेवाला सच्चा देव, और उसी के निर्मल धर्म, सम्यक्त्व, सयम तप व ज्ञान को सच्चा तीर्थ बतलाया है। जिसने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य और पाप एव समस्त दोषो और कर्मो का नाशकर अपने को ज्ञानमय बना लिया है, वही अर्हत् है, और जिसमे गृह और परिग्रह के मोह से मुक्ति, बाईस परीषह व सोलहकषायो पर विजय तथा पापारभ से विमुक्ति पाई जाती है, वही प्रव्रज्या है। इसमे शत्रु और मित्र, प्रशसा और निंदा, लाभ और अलाभ एव तृण और काचन के प्रति समताभाव पाया जाता है, उत्तम या मध्यम, दरिद्र या धनी के गृह से निरपेक्षभाव से पिण्ड (आहार) ग्रहण किया जाता है, यथा जात (नग्न दिगम्बर) मुद्रा धारण की जाती है, शरीर सस्कार छोड दिया जाता है, एव क्षमा मार्दव आदि भाव धारण किये जाते हैं। इस पाहुड को कर्ता ने छक्काय सुहंकर (षट्काय जीवो के लिये सुखकर-

हितकर) कहा है, और सम्भवत यही इन पाहुड का कर्ता द्वारा निर्दिष्ट नाम है, जिसे उन्होंने भव्यजनों के बोधनार्थ कहा है। इस पाहुड में प्ररूपित उक्त ग्यारह विषयों के विवरण को पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नाना प्रकार के आयतन माने जाते थे, नाना प्रकार के चैत्यों, मन्दिरों, मूर्तियो व चित्रों की पूजा होती थी, नाना मुद्राओं मे साधु दिखलाई देते थे, तथा देव, तीर्थ व प्रव्रज्या के भी नाना रूप पाये जाते थे। अतएव कुन्दकुन्द ने यह आवश्यक समझा कि इन लोक-प्रचलित समस्त विषयों पर सच्चा प्रकाश डाला जाय। यही उन्होंने इस पाहुड द्वारा किया है।

भावपाहुड (गाथा १६५) मे द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणो मे भेद किया गया है और कर्ता ने इस बात पर जोर दिया है कि मुनि का वेष धारण कर लेने, व्रतो और तपो का अभ्यास करने, यहा तक कि शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से आत्मा का कल्याण नही हो सकता। आत्मकल्याण तो तभी होगा जब परिणामों मे शुद्धि आ जाय, राग द्वेष आदि कषायभाव छूट जाय, और आत्मा का आत्मा मे रमण होने लगे (गा० ५६-५६)। इस सबंध मे उन्होंने अनेक पूर्वकालीन द्रव्य और भाव श्रमणो के उल्लेख किये हैं। बाहु-बलि, देहादि से विरक्त होने पर भी मान कषाय के कारण दीर्घकाल तक सिद्धि प्राप्त नही कर सके (गाथा ४४)। मधुपिंग एवम् वशिष्ट मुनि आहारादि का त्याग कर देने पर भी चित्त मे निदान (शल्य) रहने से श्रमणत्व को प्राप्त नहीं हो सके (गाथा ४५-४६)। जिनलिंगी बाहु मुनि आभ्यन्तर दोष के कारण समस्त दडक नगर को भस्म करके रौरव नरक मे गये (गाथा ४६)। द्रव्य श्रमण द्वीपायन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हो गये। भव्यसेन बारह अग और चौदह पूर्व पढकर सकल श्रुतिज्ञानी हो गये, तथापि वे भावश्रमणत्व को प्राप्त न कर सके (गाथा ५२)। इनके विपरीत भावश्रमण शिवकुमार युवती स्त्रियो से घिरे होते हुए भी विशुद्ध परि-णामो द्वारा ससार को पार कर सके, तथा शिवभूति मुनि तुष-माष की घोषणा करते हुए (जिस प्रकार छिलके से उसके भीतर का उडद भिन्न है, उसीप्रकार देह और आत्मा पृथक् पृथक् हैं) भाव विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हो गये। प्रसगवश १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानी, एव ३२ वैनयिक इस प्रकार ३६३ पाषडो (मतो) का उल्लेख आया है (गा० १३७-१४२)। इस पाहुड मे साहित्यिक गुण भी अन्य पाहुडो की अपेक्षा अधिक पाये जाते है। जिसका मति रूपी धनुष, श्रुत रूपी गुण और रत्नत्रयरूपी बाण स्थिर हैं, वह परमार्थ रूपी लक्ष्य से कभी नही चूकता (गा० २३)। जिनधर्म उसी प्रकार सब धर्मों मे श्रेष्ठ है जैसे रत्नो मे वज्र और वृक्षो मे चन्दन (गा० ८२)।

राग-द्वेष रूपी पवन के झकोरों से रहित ध्यान रूपी प्रदीप उसीप्रकार स्थिरता से प्रज्वलित होता है जिस प्रकार गर्भगृह मे दीपक (गा० १२३)। जिस प्रकार बीज दग्ध हो जाने पर उसमे फिर अकुर उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार भाव-श्रमण के कर्मबीज दग्ध हो जाने पर भव (पुनर्जन्म) रूपी अकुर उत्पन्न नही होता, इत्यादि। इस पाहुड के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कर्ता के समय मे साधुलोग बाह्य वेश तथा जप, तप, व्रत आदि बाह्य क्रियाओ मे अधिक रत रहते थे, और यथार्थ आभ्यन्तर शुद्धि की ओर यथेष्ट ध्यान नही देते थे। इसी बाह्याडम्बर से भावशुद्धि की ओर साधुओ की चित्तवृत्तियो को मोडने के लियेयह पाहुड लिखा गया। इसी अभिप्राय से उनका अगला लिंग पाहुड भी लिखा गया है।

लिंगपाहुड. (गा० २२) मे मुनियो की कुछ ऐसी प्रवृत्तियो की निंदा की गई है जिनसे उनका श्रमणत्व सधता नही, किन्तु दूषित होता है। कोई श्रमण नाचता, गाता व बाजा बजाता है (गा० ४)। कोई सचय करता है, रखता है व आर्तध्यान मे पडता है (गा० ५)। कोई कलह, वाद व द्यूत मे अनुरक्त होता है (गा० ६)। कोई विवाह जोडता है और कृषिकर्म व वाणिज्य द्वारा जीवघात करता है (गा० ९)। कोई चोरो लम्पटों के वाद-विवाद मे पडता है व चोपड खेलता है (गा० १०)। कोई भोजन मे रस का लोलुपी होता व काम-क्रीडा मे प्रवृत्त होता है (गा० १२)। कोई बिना दी हुई वस्तुओ को ले लेता है (गा० १४) कोई ईर्यापथ समिति का उल्लघन कर कूदता है, गिरता है, दौडता है (गा० १५)। कोई शस्य (फसल) काटता है, वृक्ष का छेदन करता है या भूमि खोदता है (गा० १६)। कोई महिला वर्ग को रिझाता है, कोई प्रवृज्याहीन गृहस्थ अथवा अपने शिष्य के प्रति बहुत स्नेह प्रकट करता है (गा० १८)। ऐसा श्रमण बडा ज्ञानी भी हो तो भी भाव-विनष्ट होने के कारण श्रमण नहीं है, और मरने पर स्वर्ग का अधिकारी न होकर नरक व तिर्यंच योनि मे पडता है। ऐसे भाव-विनष्ट श्रमण को पासत्थ (पार्श्वस्थ) से भी निकृष्ट कहा है (गा० २०)। अन्त मे भावपाहुड के समान इस लिंग पाहुड को सव्वबुद्ध (सर्वज्ञ) द्वारा उपदिष्ट कहा है। जान पडता है कर्ता के काल मे मुनि सम्प्रदाय मे उक्त दोष बहुलता से दृष्टिगोचर होने लगे थे, जिससे कर्ता को इस रचना द्वारा मुनियो को उनकी ओर से सचेत करने की आवश्यकता हुई।

शीलपाहुड (गा० ४४) भी एक प्रकार से भाव और लिंग पाहुडो के विषय का ही पूरक है। यहा धर्मसाधना मे शील के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिसके बिना ज्ञानकी प्राप्ति भी निष्फल है। यहा सच्चइपुत्त (सात्यकिपुत्र)

का इस बात पर दृष्टान्त दिया गया है कि वह दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी विषयो की लोलुपता के कारण नरकगामी हुआ (गा० ३०-३१)। व्याकरण, छद, वैशेषिक, व्यवहार तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान की सार्थकता तभी वतलाई है जव उसके साथ शील भी हो (गा० १६)। शील की पूर्णता सम्यग्दर्शन के के साथ ज्ञान, ध्यान, योग, विषयो से विरक्ति और तप के साधन मे भी बतलाई गई है। इसी शीलरूपी जल से स्नान करने वाले सिद्धालय को जाते हैं (गा० ३७-३८)।

कु दकु द की उक्त रचनाओ मे से बारह अणुवेक्खा तथा लिंग और शील पाहुडो को छोड, शेष पर टीकायें भी मिलती हैं। दर्शन आदि छह पाहुडो पर श्रुतसागर कृत सस्कृत टीका उपलब्ध है। इन्हीं की एकत्र प्रतिया पाये जाने से उनका सामूहिक नाम षट् प्राभृत (छप्पाहुड) भी प्रसिद्ध हो गया है। श्रुत-सागर देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य तथा विद्यानन्दि के शिष्य थे। अत उनका काल ई० सन् की १५-१६वी शती सिद्ध होता है।

रयणसार (गा० १६२) मे श्रावक और मुनि के आचार का वर्णन किया गया है। आदि में सम्यग्दर्शन की आवश्यकता बतला कर उसके ७० गुणो और ४४ दोषो का निर्देश किया गया है (गा० ७-८)। दान और पूजा गृहस्थ के लिये, तथा ध्यान और स्वाध्याय मुनि के लिये आवश्यक बतलाये गये हैं (गा० ११ आदि), तथा सुपात्रदान की महिमा बतलाई गई है (गा० १७ आदि)। आगे अशुभ और शुभ भावो का निरूपण किया है। गुरुभक्ति पर जोर दिया गया है, तथा आत्म तत्व की प्राप्ति के लिये श्रुताभ्यास करने का आदेश दिया गया है, आगे स्वेच्छाचारी मुनियो की निंदा की गई है, व बहि-रात्म भाव से बचने का उपदेश दिया गया है। अन्त मे गणगच्छ को ही रत्न-त्रय रूप, सघ को ही नाना गुण रूप, और शुद्धात्मा को ही समय कहा गया है। इस पाहुड का अभी तक सावधानी से सम्पादन नही हुआ। उसके बीच मे एक दोहा व छह पद्य अपभ्र श भाषा मे पाये जाते हैं, या तो ये प्रक्षिप्त हैं, या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर किसी उत्तरकालीन लेखक की कृति है। गण-गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते है।

वट्टकेर स्वामी कृत मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदाय मे मुनिधर्म के लिये सर्वो-परि प्रमाण माना जाता है। कहीं कहीं यह ग्रथ कु दाकु दाचार्य कृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नही होती, तथापि उससे इस ग्रथ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है। धवलाकार वीरसेन ने इसे आचारांग नाम से उद्धृत किया हैं। इसमे कुल १२४३ गाथाए है, जो

वृहत्प्रत्याख्यान, सक्षेप प्रत्याख्यान, सामाचार, पचाचार, पिंडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति, इन बारह अधिकारो मे विभाजित हैं। यह सब यथार्थतः मुनि के उन अठ्ठाईस गुणों का ही विस्तार है, जो प्रथम अधिकार के भीतर सक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित हैं। षडावश्यक अधिकार की कोई ८० गाथाए आवश्यक नियुक्ति और उसके भाष्य से ज्यो की त्यों मिलती हैं। इस पर वसुनदि कृत टीका मिलती है। टीकाकार सम्भवत वे ही हैं जिन्होने प्राकृत उपासकाध्यायन (श्रावकाचार) की रचना है।

मुनि आचार पर एक प्राचीन रचना भगवती आराधना है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं। इन्होने ग्रथ के अन्त मे प्रगट किया है कि उन्होंने आर्य जिननदि-गणि, सर्वगुप्तगणि और मित्रनदि के पादमूल मे सूत्र और उसके अर्थ का भले प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, पूर्वाचार्य-निबद्ध रचना के आश्रय से अपनी शक्ति अनुसार इस आराधना की रचना की। इससे सुस्पष्ट है कि उनके सम्मुख इसी विषय की कोई प्राचीन रचना थी। कल्पसूत्र की स्थविरावली मे एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख आया है, तथा आवश्यक मूल भाष्य मे शिवभूति को वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् बोडिक (दिगम्बर) सघ का सस्थापक कहा है। कुदकुदाचार्य ने भावपाहुड मे कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने हरिवशपुराण मे लोहार्य के पश्चाद्-वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणो से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। आदिपुराण में शिवकोटि मुनीश्वर और और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना रूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के आराघना कथाकोश व देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिवकोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। आश्चर्य नही जो इन सब उल्लेखो का अभिप्राय इसी भगवती आराधना के कर्ता से हो। ग्रन्थ सम्भवत ई० की प्रारम्भिक शताब्दियो का है। एक मत यह है कि यह रचना यापनीय सम्प्रदाय की है, जिसमें दिगम्बर सम्प्रदाय का अचेलकत्व तथा श्वेता-म्बर की स्त्री-मुक्ति मान्य थी। इस ग्रथ मे २१६६ गाथाएँ हैं और उनमें बहुत विशदता व विस्तार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन्ही चार आराधनाओ का वर्णन किया गया है, जिनका कुदकुद की रचनाओं में अनेक वार उल्लेख आया है। प्रसगवश जैनधर्म सबधी सभी बातो का इनमें सक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है मुनियो की अनेक साधनाए व वृत्तिया ऐसी वर्णित है, जैसी दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो में अन्यत्र नही पाई जाती। गाथा १६२१ से १८९१ तक की २७१ गाथाओ में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानो

का विस्तार से वर्णन किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य व निशीथ आदि प्राचीन ग्रन्थो से इसकी अनेक गाथाए व वृत्तान्त मिलते हैं। इस पर दो टीकाए विस्तीर्ण और सुप्रसिद्ध है-एक अपराजित सूरि कृत विजयोदया और दूसरी प० आशाधर कृत मूलाराधनादर्पण। अपराजित सूरि का समय लगभग ७ वी, ८ वी शती ई०, तथा प० आशाधर का १३ वी शती ई० पाया जाता है। इस पर एक पजिका तथा भावार्थदीपिका नामकी दो टीकाए भी मिली है।

मुनि आचार पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे हरिभद्रसूरि (८वी शती) कृत पचवत्थुग (पचवस्तुक) नामक ग्रन्थ उपलभ्य है। इसमे १७१४ प्राकृत गाथाए हैं जो विषयानुसार निम्न पाच वस्तु नामक अधिकारो मे विभक्त है— (१) मुनि-दीक्षा, (२) यतिदिनकृत्य, (३) गच्छाचार, (४) अनुज्ञा और (५) सल्लेखना। इनमे मुनि धर्म सवधी साधनाओ का विस्तार तथा ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है। (प्रकाशित १९२७, गुज० अनुवाद, रतलाम, १९३७)। इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। हरिभद्रकृत सम्यक्त्व-सप्तति मे १२ अधिकारो द्वारो सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है और सम्यक्त्व की प्रभावना वढानेवालो मे वज्रस्वामी, मल्लवादी, भद्रवाहु, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि के चरित्र वर्णन किये गये है।

जीवानुशासन मे ३२३ गाथाओ द्वारा मुनिसघ, मासकल्प, वदना आदि मुनि चारित्र सवधी विषयो पर विचार किया गया है। प्रसगवश बिम्ब-प्रतिष्ठा का भी वर्णन आया है। इस ग्रथ की रचना वीरचद्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने वि० स० ११६२ (११०५ ई०) मे की थी।

नेमिचन्द्रसूरि (१३वी शती) कृत प्रवचनसारोद्धार मे लगभग १६०० गाथाए हैं जो १७६ द्वारो मे विभाजित हैं। यहा वदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, महाव्रत, परीषह आदि अनेक मुनिचारित्र सबधी विषयो का वर्णन किया गया है। पूजा-अर्चा के सबध मे तीर्थंकरो के लाछन, यक्ष-यक्षिणी अतिशय, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि का विवरण भी यहा प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। जैन क्रियाकाण्ड समझने के लिये यह ग्रथ विशेष रूप से उपयोगी है। इस पर देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि (१३वी शती) ने तत्वज्ञानविकासिनी नामक सस्कृत टीका लिखी है।

जिनवल्लभसूरि (११-१२वी शती) कृत द्वादशकुलक मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायो के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। इस पर जिनपालकृतवृत्ति है जो वि० स० १२९३ (वम्बई, सन् १२३६) मे पूर्ण हुई थी।

मुनिआचार-संस्कृत :

प्रशमरति प्रकरण उमास्वाति कृत माना जाता है। इसमे ३१३ संस्कृत पद्यो मे जैन तत्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त, साधु व गृहस्थ आचार, अनित्यादि बारह भावनाओं, उत्तमक्षमादि दशधर्मों एव धर्मध्यान, केवलज्ञान, अयोगी, व सिद्धो का स्वरूप सरल और सुन्दर शैली मे वर्णित पाया जाता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इसको विषय की दृष्टि से २२ अधिकारो मे विभाजित किया है। (सटीक हिन्दी अनु० सहित प्रका० बम्बई, १९५०)

मुनि आचार पर एक चारित्रसार नामक संस्कृत ग्रन्थ की पुष्पिका मे कहा गया है कि इस ग्रन्थ को अजितसेन भट्टारक के चरणकमलो के प्रसाद से चारो अनुयोगो रूप समुद्र के पारगामी धर्मविजय श्रीमद् चामुण्डराय ने बनाया। इस पुष्पिका से पूर्व श्लोक मे कहा गया है कि इसमे अनुयोगवेदी रणरंगसिंह ने तत्वार्थ-सिद्धान्त, सभवतः तत्वार्थ (राजवार्तिक,) महापुराण एव आचार शास्त्रो मे विस्तार मे वर्णित चारित्रसार का सक्षेप मे वर्णन किया है। कर्ता के सबध मे इस परिचय से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्ही चामुण्डराय ने अथवा उनके नाम से किसी अन्य ने सग्रहरूप से की है, जिनके द्वारा बाहुबलि की मूर्ति श्रवणबेलगोला मे प्रतिष्ठित की गई थी, तथा जिनके निमित्त से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की थी। अत इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ वी शताब्दी निश्चित है। ग्रन्थ का दूसरा नाम 'भावनासारसग्रह भी प्रतीत होता है।

आचार विषयक ग्रन्थो मे अमृतचन्द सूरि कृत 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' (अपर नाम 'जिन प्रवचन-रहस्य-कोष') कई बातो मे अपनी विशेषता रखता है। यहाँ २२६ संस्कृत पद्यो मे रत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है, जिसमें क्रमश चारित्रविषयक अहिंसादि पाच व्रत, सात शील (३ गुणव्रत-४ शिक्षाव्रत), सल्लेखना, तथा सम्यक्त्व और सल्लेखना को मिलाकर चौदह व्रत-शीलो के ७० अतिचार, इनका स्वरूप समझाया है, और १२ तप ६ आवश्यक ३ दड, ५ समिति, १० धर्म, १२ भावना और २२ परीषह, इन सब का निर्देश किया है। यहा हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है, जैसा अन्यत्र कहीं नही पाया जाता। यही नही, किन्तु शेष व्रतो और शीलो मे भी मूलत. अहिंसा की ही भावना स्थापित की है। आदि मे आत्मा को ही पुरुष और परिणामी-नित्य बतलाकर उसके द्वारा समस्त विवर्तों को पार कर पूर्ण स्व-चैतन्य की प्राप्ति को ही अर्थसिद्धि बतलाया है, और यही ग्रन्थ के नाम की

सार्थकता है। ग्रन्थ के अन्त मे उन्होने एक पद्य मे जैन अनेकान्त नीति को गोपी की उपमा द्वारा बडी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। ग्रन्थ की शैली आदि से अन्त तक विशद और विवेचनात्मक है। इस ग्रन्थ के कोई ६०-७० पद्य जयसेनकृत धर्म-रत्नाकर मे उद्धृत पाये जाते हैं। धर्मरत्नाकर की रचना का समय स्वय उसी की प्रशस्ति के अनुसार वि० स० १०५५ ई० ९९८ है। अतएव यही पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचनाकाल की उत्तरावधि है।

वीरनदि कृत आचारसार मे लगभग १००० सस्कृत श्लोको मे मुनियो के मूल और उत्तर गुणो का वर्णन किया गया है। इसके १२ अधिकारो के विषय है–मूलगुण, सामाचार, दर्शनचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्धयष्टक, षडावश्यक, ध्यान, जीवकर्म और दशधर्मशील। इसकी रचना वट्ट-केर कृत प्राकृत मूलाचार के आधार से की गई प्रतीत होती है। ग्रन्थकर्ता ने अपने गुरु का नाम मेघचन्द्र प्रगट किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख न ५० मे इन दोनो गुरु-शिष्यो का उल्लेख है, एव शिलालेख न ४७ मे मेघचन्द्र मुनि के शक सवत् १०३७ (ई० १११५) मे समाधिमरण का उल्लेख किया गया है। इस पर से प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल उक्त तिथि के आसपास सिद्ध होता है। उक्त लेखो मे वीरनदि को सिद्धान्तवेदी और लोकप्रसिद्ध, अमलचरित, योगि-जनाग्रणी आदि उपाधियो से विभूषित किया गया है।

सोमप्रभ कृत सिन्दूरप्रकर, व शृगार-वैराग्यतरगिणी (१२वी-१३वी शती) ये दो नैतिक उपदेश पूर्ण रचनाए हैं। दूसरी रचना विशेष रूप से प्रौढ काव्यात्मक है और उसमे कामशास्त्रानुसार स्त्रियो के हाव-भाव व लीलाओ का वर्णन कर उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया गया है।

श्रावकाचार-प्राकृत

प्राकृत मे श्रावकधर्म विषयक सर्वप्रथम स्वतत्र रचना सावयपण्णत्ति है, जिसमे ४०१ गाथाओ द्वारा श्रावको के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतो का प्ररूपण किया गया है। प्रथम व्रत अहिंसा का यहाँ सबसे अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन १७१ के लेकर २५९ तक की गाथाओ मे किया गया है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के सम्बन्ध मे मतभेद है। कोई इसे उमास्वातिकृत मानते हैं, और कोई हरिभद्रकृत। उमास्वाति-कर्तृत्व का समर्थन अभयदेवसूरि कृत पचाशकटीका के उस उल्लेख से होता है जहाँ उन्होने कहा है कि 'वाचक-तिलकेन श्रीमदुमास्वतिवाचकेन श्रावकप्रज्ञप्तौ सम्यक्त्वादिः श्रावकधर्मो विस्तरेण

अभिहित-'। उमास्वाति कृत श्रावक प्रज्ञप्ति का उल्लेख यशोविजय के धर्म-सग्रह तथा मुनिचन्द्रसूरि कृत धर्मविंदु-टीका मे वारहवें वृत के सवध मे आया है। किन्तु स्वय अभयदेवसूरि ने हरिभद्रसूरि कृत पचाशक की ही वृत्ति मे प्रस्तुत ग्रथ की सपत्तदसणाइ-आदि दूसरी गाथा को हरिभद्रसूरि के ही निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्राकृत ग्रन्थ तो हरिभद्रकृत ही है। यदि उमास्वाति कृत कोई श्रावक-प्रज्ञप्ति रही हो तो सभव है कि वह सस्कृत मे रही होगी। यही वात प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त परीक्षण से भी सिद्ध होती है। इस ग्रथ मे २८० से ३२८ गाथाओ के बीच जो गुणव्रत और शिक्षाव्रतो का निर्देश और क्रम पाया जाता है वह त० सूत्र के ७,२१ मे निर्दिष्ट क्रम से भिन्न है। त० सूत्र मे दिग्, देश और अनर्थ दड, ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-सविभाग, ये चार शिक्षाव्रत निर्दिष्ट किये हैं। परन्तु यहाँ दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाण और अनर्थदडविरति ये गुणव्रत, तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास एव अतिथिसविभाग ये चार शिक्षाव्रत बतलाये है, जो हरिभद्रकृत समराइच्च-कहा के प्रथम भव मे वर्णित व्रतो के क्रम से ठीक मिलते हैं। यही नही, किन्तु समराइच्चकहा का उक्त समस्त प्रकरण श्रावक-प्रज्ञप्ति के प्ररूपण से बहुत समानता रखता है, यहाँ तक कि सम्यक्त्वोत्पत्ति के सवध मे जिस घसण-घोलन निमित्त का उल्लेख श्रा० प्र० की ३१ वी गाथा मे हैं, वही स० कहा के सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण मे भी प्राकृत गद्य मे प्राय ज्यो का त्यो मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह कृति हरिभद्रकृत ही है। इस पर उन्ही की सस्कृत मे स्वोपज्ञ टीका भी उपलभ्य है।

श्रावकधर्म का प्रारम्भ सम्यक्त्व की प्राप्ति से होता है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति के आदि (गाथा २) मे ही श्रावक का लक्षण यह बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके प्रतिदिन यतिजनो के पास से सदाचारात्मक उपदेश सुनता है, वही श्रावक होता है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति को विधि-वत समझाया गया है। हरिभद्र की एक अन्य कृति दसणसत्तरि अपर नाम 'सम्मत्त-सत्तरि' या 'दसण-सुद्धि' मे भी ७० गाथाओ द्वारा सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाया गया है। इस पर सघतिलक सूरि (१४ वी शती) कृत टीका उपलभ्य है (प्रकाशित १९१६)। हरिभद्र की एक और प्राकृत रचना सावय-धम्मविहि नामक है जिसमे १२० गाथाओ द्वारा श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर मानदेवसूरि कृत विवृत्ति है (भावनगर १९२४)। हरिभद्रकृत १९ प्रकरण ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक मे ५० गाथाए हैं, अतएव जो समष्टि रूप

से पंचासग कहलाते हैं। ये प्रकरण हैं-(१) श्रावकधर्म (२) दीक्षाविधान (३) वन्दनविधि (चैत्यवदन) (४) पूजाविधि (५) प्रत्याख्यानविधि (६) स्तवविधि (७) जिनभवन करण विधि (८) प्रतिष्ठाविधि (९) यात्राविधि (१०) उपासकप्रतिमाविधि (११) साधुधर्म (१२) सामाचारी (१३) पिंडविधि (१४) शीलांगविधि (१५) आलोचना विधि (१६) प्रायश्चित्त (१७) स्थितास्थित विधि (१८) साधु प्रतिमा और (१९) तपोविधि। इन प्रकरणों में श्रावक और मुनि आचार संबंधी प्राय. समस्त विषयों का समावेश हो गया है। पचासग पर अभयदेवसूरि कृत शिष्यहिता नामक सस्कृत टीका है। (भावनगर १९१२. रतलाम १९४१)। पचासग के समान अन्य २० प्रकरण इस प्रकार के हैं जिनमें प्रत्येक मे २० गाथाए है। यह समूह वीसवीसीओ (विंशतिविंशिका) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन विंशिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) अधिकार (२) अनादि (३) कुलनीति (४) चरमपरिवर्त (५) बीजादि (६) सद्धर्म (७) दान (८) पूजाविधि (९) श्रावकधर्म (१०) श्रावकप्रतिमा (११) यतिधर्म (१२) शिक्षा (१३) भिक्षा (१४) तदतराय शुद्धिलिंग (१५) आलोचना (१६) प्रायश्चित्त (१७) योगविधान (१८) केवलज्ञान (१९) सिद्धविभक्ति और (२०) सिद्धसुख। इन विंशिकाओं मे भी श्रावक और मुनिधर्म के सामान्य नियमो तथा नानाविधानो और साधनाओं का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर आनन्दसागर सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है। १७ वी योगविधान नामक विंशिका पर श्री न्या० यशोविजयगणिकृत टीका भी है। (प्र० मूलमात्र पूना, १९३२)

शान्तिसूरि (१२ वी शती) कृत धर्मरत्न प्रकरण में १८१ गाथाओं द्वारा श्रावक पद प्राप्ति के लिये सौम्यता पापभीरुता आदि २१ आवश्यक गुणो का वर्णन किया है तथा भावश्रमण के लक्षणो और शीलों का भी निरूपण किया है। इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

प्राकृत गाथाओं द्वारा गृहस्थधर्म का प्ररूपण करने वाला दूसरा ग्रन्थ वसुनदिकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) है, जिसमें ५४६ गाथाओं द्वारा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं अर्थात् दर्जो का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्ता ने अपना परिचय ग्रंथ की प्रशस्ति में दिया है, जिसके अनुसार उनकी गुरु-परम्परा कुंदकुंदाम्नाय में क्रमश श्रीनंदि, नयनंदि, नेमिचन्द्र और वसुनंदि, इस-प्रकार पाई जाती है। उन्होने यह भी कहा है कि मैंने अपने गुरु नेमिचन्द्र के प्रसाद से इस आचार्य-परम्परागत उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदरभाव

से भव्यो के लिये रचा। ग्रथ के आदि में उन्होने यह भी कहा है कि विपुलाचल पर्वत पर इन्द्रभूति ने जो श्रेणिक को उपदेश दिया था, उसी को गुरु परिपाटी से कहे जाने वाले इस ग्रथ को सुनिये। इस प्रसग मे यह ध्यान देने योग्य है कि द्वादशागान्तर्गत सातवें श्रुतांग 'उपासक दशा' में हमे श्रावक की इन्ही ग्यारह प्रतिमाओ का प्ररूपण मिलता है। भेद यह है कि यह वहाँ विषय आनद श्रावक के कथानक के अन्तर्गत आया है, और यहाँ स्वतन्त्र रूप से। इसमे की २६५-३०१ तक की, तथा इससे पूर्व की अन्य कुछ गाथाए श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र से ज्यो की त्यो मिलती हैं। कुन्द कुन्दाचार्य कृत चारित्र पाहुड (गाथा २२) मे ग्यारह प्रतिमाओ के नाम मात्र उल्लिखित हैं। उनका कुछ विस्तार से वर्णन कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३०५-३९० तक ८६ गाथाओ मे किया गया है। इन सब से भिन्न वसुनदि ने विशेषता यह उत्पन्न की है कि उन्होने निशिभोजन-त्याग को प्रथम दर्शन प्रतिमा मे ही आवश्यक बतलाकर छठवी प्रतिमा मे उसके स्थान पर दिवा-ब्रह्मचर्य का विधान किया है। ग्रथ की रचना का काल निश्चित नही है, तथापि इस ग्रथ की अनेक गाथाए देवसेन कृत भावसग्रह के आधार से लिखी गई प्रतीत होती हैं, जिससे इसकी रचना की पूर्वावधि वि० स ९९० (ई० ९३३) अनुमान की जा सकती हैं। आशाधरकृत सागार-धर्मामृत टीका मे वसुनदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिससे उनके काल की उत्तरावधि वि० स० १२९६ (ई० १२३९) सिद्ध होती है। इन्ही सीमाओ के बीच सम्भवत ११ वी १२वी शती मे यह ग्रथ लिखा गया होगा।

अपभ्रश मे श्रावकाचार विषयक ग्रथ 'सावयधम्मदोहा' है। इसमे २२४ दोहो द्वारा श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओ व बारह व्रतो का स्वरूप समझाया गया है। बारह व्रतो के नाम कुदकुद के अनुसार हैं, जिनमे देशव्रत सम्मिलित न होकर सल्लेखना का समावेश है। सप्तव्यसनो, अभक्ष्यो एव कुसगति, अन्याय, चुगलखोरी, झूठे व्यापार आदि दुर्गुणो के परित्याग का उपदेश दिया गया है। शैली बडी सरल, सुन्दर, व काव्य गुणात्मक है। प्राय. प्रत्येक दोहे की एक पक्ति मे धर्मोपदेश और दूसरी मे उसका कोई सुन्दर, हृदय मे चुभने वाला दृष्टान्त दिया गया है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कुछ विवाद है। प्रकाशित ग्रथ (कारजा १९३२) की भूमिका मे उहापोह पूर्वक इसके कर्ता दसवी शताब्दी मे हुए देवसेन को सिद्ध किया गया है। किन्तु कुछ हस्तलिखित प्राचीन प्रतियो मे इसे योगीन्द्र कृत भी कहा गया है, और कुछ मे लक्ष्मीचन्द्र कृत श्रुतसागर कृत पट्पाहुड टीका मे इस ग्रन्थ के कुछ दोहे उद्धृत पाये जाते है जिन्हे लक्ष्मीचन्द्र कृत कहा गया है। यदि पूर्ण ग्रन्थ के कतर्ता लक्ष्मीचन्द्र है

तो वह १५ वी शती की रचनासिद्ध होती है। ग्रन्थ पर योगीन्द्रकृत परमात्म प्रकाश तथा देवसेन कृत भावसग्रह का बहुत प्रभाव पाया जाता है। इसकी एक प्राचीन प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मदिर मे वि० स० १५५५ (ई० सन् १४९८) की है, और इसकी पुष्पिका मे "इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्र विरचिते दोहक-सूत्राणि समाप्तानि" ऐसा उल्लेख है।

श्रावकाचार-संस्कृत

रत्नकरंड श्रावकाचार—सस्कृत मे श्रावक धर्म विषयक बडी सुप्रसिद्ध रचना है। इसके १५० श्लोको मे क्रमश सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया गया है। चरित्र मे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का विस्तार से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है, और इस प्रकार कुन्दकुन्द के निर्देशानुसार (चरित्र पाहुड गा० २५-२६) सल्लेखना को श्रावक के व्रतो मे स्वीकार कर लिया है। अन्त मे ग्यारह श्रावक-पदो (प्रतिमाओ) का भी निरूपण कर दिया गया है। इस प्रकार यहाँ श्रावक धर्म का प्ररूपण, निरूपण की दोनो पद्धतियो के अनुसार कर दिया गया है। ग्रन्थकर्ता ने इस कृति मे अपना नाम प्रगट नही किया, किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे समन्तभद्र कृत कहा है, और इसी आधार पर यह उन्ही स्वामी समन्तभद्र कृत मान लिया गया है जिन्होने आप्तमीमासादि ग्रन्थो की रचना की किन्तु शैली आदि भेदो के अतिरिक्त भी इसमे आप्तमीमासा सम्मत आप्त के लक्षण मे भेद पाया जाता है, दूसरे वादिराज के पार्श्वनाथ चरित्र की उत्थानिका मे इस रचना को स्पष्टत समन्तभद्र से पृथक् 'योगीन्द्र' की रचना कहा है, तीसरे इससे पूर्व इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही मिलता, और चौथे स्वय ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक मे 'वीतकलक', 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' शब्दो का उपयोग किया गया है जिससे अनुमान होता है कि अकलकृत राजवार्तिक और विद्यानदि कृत श्लोक वार्तिक तथा पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, इन तीनो टीकाओ से ग्रथकार परिचित और उपकृत थे। इसके अनुसार यह रचना विद्यानदि और वादिराज के कालो के बीच अर्थात् आठवी से दसवी-ग्यारहवी शती तक किसी समय हुई होगी।

सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू के पाँच से आठवे तक के चार आश्वासो मे चारित्र का वर्णन पाया जाता है। विशेषत इसके सातवें और आठवे आश्वासो मे श्रावक के बारह व्रतो का विस्तार से प्रौढ शैली मे वर्णन किया है। यह ग्रन्थ शक स० ८८१ (ई० सन् ९५९) मे समाप्त हुआ था।

अमितगति कृत श्रावकाचार लगभग १५०० सस्कृत पद्यो मे पूर्ण हुआ

है, और यह १५ अध्यायों में विभाजित है जिनमें धर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद, मद्य त्याग, अष्ट मूलगुण, बारह व्रत और उनके अतिचार, सामायिक आदि छह आवश्यक, दान पूजा व उपवास, एवं बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। अन्तिम अध्याय में ध्यान का वर्णन ११४ पद्यों में किया गया है, जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल का निरूपण है। अमितगति ने अपने अनेक ग्रंथों में उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है, जिनमें वि० सं० १०५० से १०७३ तक के उल्लेख मिलते हैं। अतएव उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १००० ई० सिद्ध होता है।

आशाधर कृत सागारधर्मामृत लगभग ५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और उसमें आठ अध्यायों द्वारा श्रावक धर्म का सामान्य वर्णन, अष्टमूलगुण तथा ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतों के अतिरिक्त श्रावक की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अन्तिम अध्याय के ११० श्लोकों में समाधि मरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचना शैली काव्यात्मक है। ग्रंथ पर कर्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है, जिसमें उसकी समाप्ति का समय वि० सं० १२९६-ई० १२३९ उल्लिखित है। (प्र० बम्बई, १९१५)

गुणभूषण कृत श्रावकाचार को कर्ता ने भव्यजन-चित्तवल्लभ श्रावकाचार कहा है। इसमें २६९ श्लोको द्वारा दर्शन, ज्ञान और श्रावक धर्म का तीन उद्देश्यो मे सरल रीति से निरूपण किया गया है। इसका रचनाकाल निश्चित नही है, किन्तु उस पर रत्नकरड, वसुनदि श्रावकाचार आदि की छाप पडी दिखाई देती है। अनुमानत यह रचना १४वी १५वी शताब्दी की है।

श्रावकधर्म सम्बन्धी रचनाओ की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है जिसमे १७वी शताब्दी मे अकबर के काल मे राजमल्ल द्वारा रचित लाटीसहिता उल्लेखनीय है।

ध्यान व योग प्राकृत :

मुनिचर्या मे तप का स्थान बडा महत्वपूर्ण है। तप के दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्तादि छह प्रभेदो मे अन्तिम तप का नाम ध्यान है। अर्धमागधी आगम ग्रन्थो मे विशेषत ठाणाग (अ० ४ उ० १) मे आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल इन चारो ध्यानों और उनके भेदोपभेदो का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार निर्युक्तियो मे और विशेषत आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन (गा० १४६२—८६) मे ध्यानो के लक्षण व

भेद-प्रभेद वर्णित पाये जाते हैं। इस आगम-प्रणाली के अनुसार ध्यान का निरूपण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी ध्यानशतक नामक रचना मे किया है।

वैदिक परम्परा मे ध्यान का निरूपण योग दर्शन के भीतर पाया जाता है, जिसके आदि संस्थापक महर्षि पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) माने जाते हैं। पातञ्जल 'योगसूत्र' मे जो योग का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' किया है और उसके प्रथम अग यम के अहिंसादि पाच भेद बतलाये है, उनसे उस पर श्रमण परम्परा की नियम विधि की छाप स्पष्ट दिखाई देती हैं। अष्टाग योग का सातवा अग ध्यान है जिसके द्वारा मुनि अपने चित्त को बाह्य विषयो से खीचकर आत्मचिन्तन मे लगाने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया का योग नाम से उल्लेख हमे कुन्दकुन्द कृत मोक्ष पाहुड मे मिलता है।

मोक्षपाहुड (गाथा १०६) मे कुन्दकुन्द ने आदि मे ही अपनी कृति को परम योगियो के उस परमात्मारूप परमपद का व्याख्यान करने वाली कहा है, जिसको जानकर तथा निरन्तर अपनी साधना मे योजित करके योगी अव्याबाध, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है (गा० २–३)। यहाँ आत्मा के बहि, अन्तर और परम ये तीन भेद किये हैं, जिनके क्रमश इन्द्रिय परायणता, आत्म चेतना और कर्मो से मुक्ति, ये लक्षण है (गा ५)। परद्रव्य मे रति मिथ्यादृष्टि है और उससे जीव की दुर्गति होती है, एव स्व-द्रव्य (आत्मा) मे रति सद्गति का कारण है। स्व-द्रव्य-रत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। तप से केवल स्वर्ग ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शाश्वत सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति ध्यान योग से ही सम्भव है (गा २३)। कषायो, मान, मद राग-द्वेष, व्यामोह एव समस्त लोक-व्यवहार से मुक्त और विरक्त होकर आत्मध्यान मे प्रवृत्त हुआ जा सकता है (गा २७)। साधक को मन, वचन, काय से मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य और पाप का परित्याग कर मौनव्रत धारण करना चाहिये (गा २८)। योग की अवस्था मे समस्त आस्रवो का निरोध होकर सचित कर्मो का क्षय होने लगता है (गा ३०)। लोक व्यवहार के प्रति सुषुप्ति होने पर ही आत्मजागृति होती है (गा ३१)। पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय से युक्त होकर मुनि को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिये (गा ३३)। तभी वह सच्चा आराधक बनता है, आराधना के विधान को साध सकता है और आराधना का केवल ज्ञान रूप फल प्राप्त कर सकता है (गा ३४)। किन्तु कितने ही साधक आत्मज्ञानी होकर भी पुन विषयविमोहित होकर सद्भाव से भ्रष्ट हो जाते हैं। जो विषय-विरक्त बने रहते है, वे चतुर्गति से मुक्त हो जाते हैं (गा ६७–६८)। सम्यक्त्वहीन, चारित्रहीन

अभव्य और अज्ञानी ही कहते है कि यह दुस्समकाल ध्यान करने का नही है (गा ७४–७६)। ध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है, एक तो शुद्ध आत्म-चिन्तन, जिसके द्वारा योगी अपने आप मे सुरक्त हो जाता है। यह निश्चयात्मक ध्यानावस्था हे। जिसमे यह योग्यता नही है वह आत्मा का पुरुषाकार रूप से ध्यान करे (गा. ८३–८४)। यह ध्यान श्रमणो का है। श्रावको को तत्व-चिन्तन रूप सम्यक्त्व का निष्कप रूप से ध्यान करना चाहिये (गा ८६)। ध्यानाम्यास के बिना बहुत से शास्त्रो का पठन, और नानाविध चारित्र का पालन, वाल-श्रुत बाल-चरण ही है (गा १००)। अन्त मे दो गाथाओ (१०४ १०५) मे पच परमेष्ठि, रत्नत्रय व तप की जिस आत्मा मे प्रतिष्ठा है उसकी ही शरण सम्बन्धी भावना का निरूपण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस प्रकार इस पाहुड मे हमे जैन योग विषयक अतिप्राचीन विचार दृष्टिगोचर होते है जिसका परवर्ती योग विपयक रचनाओ से तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। यथार्थत यह रचना योगशतक रूप से लिखी गई प्रतीत होती है। और उसको 'योग-पाहुड' नाम भी दिया जा सकता है। पातजल योग शास्त्र मे योग के जिन यम नियमादि आठ अगो का निरूपण किया गया है, उनमे से प्राणायाम को छोड, शेप सात का विपय यहाँ स्फुटरूप से जैन परम्परानुसार वर्णित पाया जाता है।

बारस अणुवेक्खा (गा० ९०–९१), मे अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व ससार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म, और बोधि इन बारह भावनाओ का आरम्भ मे निर्देश और फिर क्रमश उनका स्वरूप सक्षेप मे वर्णन किया गया है। ग्यारहवी धर्मभावना के निरूपण मे श्रावको के दर्शन व्रतादि ग्यारह प्रतिमाओ (गा० ६९) तथा मुनियो के उत्तम क्षमादि दश धर्मों का (गा० ७०) निर्देश किया गया है, और फिर एक एक गाथा मे इन दशो का स्वरूप बतलाया गया है। अन्तिम ९१वी गाथा मे कुदकुद मुनिनाथ का नामोल्लेख है, किन्तु यह गाथा प्राचीन कुछ प्रतियो मे नही प्रतियो मे नही मिलती। इसकी कुछ गाथाएँ मूलाचार और सर्वार्थसिद्धि मे पाई जाती है। इस रचना मे ऐसी कोई बात दिखाई नही देती जिसके कारण वह कुन्दकुन्द कृत मानी न जा सके। तत्वार्थसूत्रानुसार अनुप्रेक्षा धार्मिक साधना का एक आवश्यक अग है, वहाँ बाहर अनुप्रेक्षाओ का निर्देशन भी किया गया है। अतएव यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है, कि जब कुन्दकुन्द ने चारित्र सम्बन्धी विपयो पर लिखा तब उन्होने बारह अनुप्रेक्षाओ का निरूपण भी अवश्य किया होगा।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे कही सक्षेप और

कही विस्तार से श्रमणो और श्रावको के चारित्र सबधी प्राय सभी विषयो का निर्देश व निरूपण आ गया है। उनकी इन कृतियो का आगे की साहित्य रचनाओ पर पर्याप्त प्रभाव पडा दिखाई देता है, और उनमे उक्त विषयो को लेकर पल्लवित किया गया है।

कत्तिगेयानुवेक्खा (कार्तिकेयानुप्रेक्षा) मे ४९१ गाथाओ द्वारा उन्ही बारह अनुप्रेक्षाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनका सक्षिप्त निरूपण हमे कुन्दकुन्द के बारस अणुवेक्खा मे प्राप्त होता है। किन्तु यहां उनका क्रम कुछ भिन्न प्रकार से पाया जाता है। यहाँ ससार भावना तीसरे, अशुचित्व छठे, और लोक दसवें स्थान मे पाई जाती हैं। लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ११५ से २८३ तक की १६९ गाथाओ मे किया गया है, क्योंकि उसके भीतर समस्त त्रैलोक्य का स्वरूप और उनके निवासी जीवो का, जीवादि छह द्रव्यों का द्रव्यो से उत्पादादि पर्यायोका तथा मति श्रुति आदि पाच ज्ञानो का भी प्ररूपण किया गया है, और इस प्रकार वह प्रकरण तिलोक-प्रज्ञप्ति का सक्षिप्त रूप बन गया है। उसी प्रकार धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन गा० ३०२ से गा० ४८७ तक की १८६ गाथाओ मे हुआ है, क्योकि यहां श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतो का (गा० ३०५-३९१), साधु के क्षमादि दश धर्मो का (गा० ३९२-४०४), सम्यक्त्व के आठ अगो का (गा० ४१४-४२२) एव अनशनादि बारह तपों का (गा० ४४१-४८७) वर्णन भी पर्याप्त रूप से किया गया है। बारह व्रतो के निरूपण मे गुण और शिक्षाव्रतो का क्रम वही है, जो कुन्दकुन्द के चारित्रपाहुड (गा० २५-२६) मे पाया जाता है। भेद केवल इतना है कि यहां अतिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नही, किन्तु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुण और शिक्षाव्रतो की व्यवस्था त० सू० मे गृहीत क्रम से भिन्न है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति की व्यवस्था से मेल खाता है। ग्रन्थ की अन्तिम तीन गाथाओ मे कर्ता ने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए केवल इतना ही कहा है कि स्वामिकुमार ने इन अनुप्रेक्षाओ की रचना परम श्रद्धा से, जिन-वचनो की भावना तथा चचल मन के अवरोध के लिये जिनागम के अनुसार की। अन्तिम गाथा मे उन्होने कुमारकाल मे तपश्चरण धारण करने वाले वासुपूज्य, मल्लि और अन्तिम तीन अर्थात् नेमि, पार्श्व और महावीर की वन्दना की है। इस पर से ग्रन्थकर्ता के विषय मे इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे स्वय (ब्रह्मचारी) थे और उनका नाम स्वामिकुमार (कार्त्तिकेय) था। ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय मे अभी कोई अनुमान लगाना कठिन है। ग्रन्थ पर भट्टारक शुभचन्द्र कृत सस्कृत टीका (वि० स० १६१३-ई० १५५६) मे समाप्त हुई प्राप्त होती है।

कुदकुद के पश्चात् स्वतत्र रूप से योग विपयक ग्रन्थकर्ता आ० हरिभद्र है, जिनकी योग विपयक स्वतत्र तीन रचनाएँ प्राप्त है–योगशतक (प्राकृत), योग–विन्दु (सस्कृत) और योगदृष्टिसमुच्चय (स०) इनके अतिरिक्त उनकी विंशति विंशिका मे एक (१७ वी विंशिका) तथा पोडशक मे १४ वाँ व १६ वाँ ये दो, इस प्रकार तीन छोटे छोटे प्रकरण भी हैं। योगशतक मे १०१ प्राकृत गाथाओ द्वारा मम्यग्दर्शन आदि रूप निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप, योग के अधिकारी, योगाधिकारी के लक्षण एव ध्यान रूप योगावस्था का सामान्य रीति से जैन परम्परानुसार ही वर्णन किया गया है। योगविंशति की बीस गाथाओ मे अतिमक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओ का निरूपण किया गया है, जिसमे कर्ता ने कुछ नये पारिभापिक शब्दो का उपयोग किया हैं। यहाँ उन्होने योग के पाच भेदो या अनुष्ठानो को स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्वन और अन्तर्लम्वन सज्ञाए देकर (गा० २), पहले दो को कर्मयोग रूप और शेप तीन को ज्ञानयोग रूप कहा है (गा० ३)। तत्पश्चात् इन पाँचो योग भेदो के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, ये चार यम नामक प्रभेद किये हैं, और अन्त मे इनकी प्रीति, भक्ति, वचन और असग अनुष्ठान नामक चार चार अवस्थाए स्थापित करके आलम्वन योग का स्वरूप समझाया है।

ध्यान व योग-अपभ्रंश :

यहाँ अपभ्रश भाषा की कुछ रचनाओ का उल्लेख भी उचित प्रतीत होता है, क्योकि वे अध्यात्म विषयक है। योगीन्द्र कृत परमात्म-प्रकाश ३४५ दोहो मे तथा योगसार १०७ दोहो मे समाप्त हुए हैं। इन दोनो रचनाओ मे कुदकुद कृत मोक्षपाहुड के अनुसार आत्मा के बहिरात्म अन्तरात्म और परमात्म इन तीन स्वरूपो का विस्तार से वर्णन किया गया है, और जीवो को ससार के विषयो से चित्त को हटाकर, उसे आत्मोन्मुख बनाने का नानाप्रकार से उपदेश दिया गया है। यह सव उपदेश योगीन्द्र ने अपने एक शिष्य भट्ट प्रभाकर के के प्रश्नो के उत्तर मे दिया हैं। इन रचनाओ का काल सम्पादक ने ई० की छठी शती अनुमान किया है (प्रकाशित बम्बई १९३७)। परमात्म प्रकाश के कुछ दोहे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत पाये जाते है, जिससे इसकी रचना हेमचन्द्र से पूर्व काल की सुनिश्चित है।

रामसिंह मुनि कृत 'पाहुड दोहा' मे २२२ दोहे है, और इनमे योगी रचयिता ने वाह्य क्रियाकाड की निष्फलता तथा आत्म-सयम और आत्मदर्शन मे ही मच्चे कल्याण का उपदेश दिया है। झूठे जोगियो को ग्रन्थ मे खूब फटकारा

गया हैं। देह को कुटी या देवालय और आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियो का शक्ति रूप से सम्बोधन अनेक जगह आया है। शैली मे यह रचना एक ओर बौद्ध दोहाकोशो और चर्यापदो मे समानता रखती है, और दूसरी ओर कबीर जैसे सतो की वाणियो से। दो दोहो (९९-१००) मे देह और आत्मा अथवा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी और प्रेमी के रूपक मे वर्णन किया गया है, जो पीछे के सूफी सम्प्रदाय की काव्य-धारा का स्मरण दिलाता हैं। इसके ४,५ दोहे अत्यल्प परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत पाये जाते हैं। अतएव इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११०० से पूर्व सिद्ध होता है। (प्रकाशित कारजा, १९३३)

ध्यान व योग संस्कृत —कुदकुद के पश्चात् पूज्यपाद कृत योग विषयक दो संक्षिप्त सन्कृत रचनाएं उल्लेखनीय हैं। एक इष्टोपदेश है, जिसमे ५१ श्लोक हैं। यहाँ योग-साधक की उन भावनाओ का निरूपण किया गया है, जिनके द्वारा साधक अपनी इन्द्रियो को सासारिक विषयो से पराङ्-मुख करके मन को आत्मध्यान मे प्रवृत्त करता है, तथा उसमे ऐसी अध्यात्मवृत्ति जागृत हो जाती है कि वह समस्त जगत् को इन्द्रजाल के समान देखने लगता है, एकान्तवास चाहता है, कार्यवश कुछ कहकर तुरन्त भूल जाता है, बोलता हुआ भी नही बोलता, चलता हुआ भी नही चलता, देखता हुआ भी नही देखता, यहाँ तक कि उसे स्वय अपने देह का भी भान नही रहता (श्लोक० ३९-४२)। इस प्रकार व्यवहार से दूर हटकर व आत्मानुष्ठान मे स्थित होकर योगी को परमानन्द प्राप्त होता है (श्लो० ४६)। इस योगावस्था का वर्णन जीवन्मुक्त की अवस्था से मेल खाता है।

पूज्यपाद की दूसरी रचना समाधिशतक है, जिसमे ९०५ संस्कृत श्लोक हैं। इसमे बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म का स्वरूप बतलाकर, अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा के ध्यान का स्वरूप बतलाया गया है। ध्यान-साधना मे अविद्या, अभ्यास व सस्कार के कारण, अथवा मोहोत्पन्न रागद्वेप द्वारा चित्त मे विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्न पूर्वक मन को खीचकर, आत्मतत्व मे नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। साधक को अव्रतो का त्याग कर व्रतो मे निष्ठित होने, और आत्मपद प्राप्त करने पर उन व्रतो का भी त्याग करने को कहा गया है (श्लो० २३) लिंग तथा जाति का आग्रह करने वालो को यहा परमपद प्राप्ति के अयोग्य बतलाया है (श्लोक० ८९)। आत्मा अपने से भिन्न आत्मा की उपासना करके उसी के समान परमात्मा बन जाता है, जिस प्रकार कि एक बाती अन्य दीपक के पास से ज्वाला ग्रहण कर उसी के सदृश भिन्न दीपक बन जाती है (श्लोक० ०७)। इस रचना के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान

देने योग्य है कि विषय की दृष्टि से इसका कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड से बहुत कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओ का यहाँ शब्दश अथवा किंचित् भेद सहित अनुवाद पाया जाता है, जैसा कि मोक्ष पा० गा० ५, ६, ८, ९, १०, ११, २९, ३१, ३२, ४२, व ६२ और समाधिशतक श्लोक ५, ६, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, ४८, ८३, व १०२ का क्रमश मिलान करने पर स्पष्ट पता लग जाता है।

आचार्य हरिभद्र कृत षोडशक के १४ वें प्रकरण मे १६ सस्कृत पद्यो मे योग साधना मे बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद, रुग्, और आसग, इन आठ चित्त-दोषो का निरूपण किया गया है, तथा १६ वे प्रकरण मे उक्त आठ दोषो के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमासा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति इन आठ चित्तगुणो का निरूपण किया है, एव योग साधना के द्वारा क्रमश स्वानुभूति रूप परमानन्द की प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

योगबिंदु मे ५२७ सस्कृत पद्यो मे जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। यहाँ 'मोक्ष प्रापक धर्मव्यापार' को योग और मोक्ष को ही उसका, लक्ष्य बतलाकर, चरमपुद्गलपरावर्त काल मे योग की सम्भावना, अपुनवर्धक भिन्नग्रंथि, देशविरत और सर्वविरत (सम्यग्दृष्टि) ये चार योगाधिकारियो के स्तर, पूजा, सदाचार, तप आदि अनुष्ठान, अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि योग के पाँच भेद, विष, गरलादि पाँच प्रकार के सद् वा असद् अनुष्ठान, तथा आत्मा का स्वरूप परिणामी नित्य बतलाया गया है; और प्रसगानुसार साख्य, बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनो का समालोचन भी किया गया है। पातजल योग और बौद्ध सम्मत योगभूमिकाओ के साथ जैन योग की तुलना विशेष उल्लेखनीय है।

योगदृष्टिसमुच्चय मे २२७ सस्कृत पद्यों मे कुछ योगबिंदु मे वर्णित विषय की सक्षेप मे पुनरावृत्ति की गई है, और कुछ नवीनता भी लाई गई है। यहाँ आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओ का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, एक मित्रा, तारा, बला, दीप्रा स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक आठ योग-दृष्टियो द्वारा, दूसरा इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्य योग इन तीन प्रकार के योग-भेदो द्वारा, तथा तीसरा गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्ध-योगी इन चार योगी भेदो द्वारा। प्रथम वर्गीकरण मे निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियो मे ही १४ गुणस्थानो की योजना कर ली गई है। मुक्त तत्व की विस्तार से मीमासा भी की गई है।

इन रचनाओ द्वारा हरिभद्र ने अपने विशेष चिन्तन, नवीन वर्गीकरण तथा अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली द्वारा जैन परम्परा के योगात्मक विचारो को

कुछ नये रूप मे प्रस्तुत किया है, और वैदिक तथा बौद्ध परम्परा सम्मत योग-धाराओ से उसका मेल बैठाने का प्रयत्न किया है। योगदृष्टि-समुच्चय पर स्वय हरिभद्रकृत, तथा यशोविजयगणि कृत टीका उपलब्ध है। यही नही, किन्तु यशोविजय जी ने मित्रा तारादि आठ योगदृष्टियो पर चार द्वात्रिंशिकाए (२१-२४) भी लिखी है, और सक्षेप मे गुजराती मे एक छोटी सी सज्झाय भी लिखी है।

गुणभद्र कृत **आत्मानुशासन** मे २७० सस्कृत पद्यो द्वारा इन्द्रियो और मन की बाह्य वृत्तियो को रोककर आत्मध्यान परक बनने का उपदेश दिया गया है। और इस प्रकार इसे योगाभ्यास की पूर्व पीठिका कह सकते है। यह कृति रचना मे काव्य गुण युक्त है। इसके कर्ता वे ही गुणभद्राचार्य माने जाते है जो धवला टीकाकार वीरसेन के प्रशिष्य और जिनसेन के शिष्य थे, तथा जिन्होने उत्तर-पुराण की रचना ९ वी शताब्दी के मध्यभाग मे पूर्ण की थी। अतएव प्रस्तुत रचना का भी लगभग यही काल सिद्ध होता है।

अमितगति कृत **सुभाषित-रत्न-सदोह** (१० वी, ११ वी शती) एक सुभाषितो का सग्रह है जिसमे ३२ अध्यायो के भीतर उत्तम काव्य की रीति से नैतिक व धार्मिक उपदेश दिये गये है। प्रसगवश यत्रतत्र अन्यधर्मी मान्यताओ पर आलोचनात्मक विचार भी प्रकट किये गये है। अमितगति की एक दूसरी रचना *योगसार* है, जिसके ९ अध्यायो मे नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये है।

सस्कृत मे आचार सम्बन्धी और प्रसगवश योग का भी विस्तार से वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ ज्ञानार्णव है। इसके कर्ता शुभचन्द्र है, जो राजाभोज के समकालीन ११ वी शताब्दी मे हुए माने जाते हैं। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति पाटन भण्डार से स० १२४८ की लिखी प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ मे २००० से ऊपर श्लोक हैं, जो ४२ प्रकरणो मे विभाजित है। इनमे जैन सिद्धान्त के प्राय सभी विषयो का सक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। आचार सम्बन्धी व्रतो का और भावनाओ आदि का भी विस्तार से प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त आसन, प्राणायाम आदि योग की प्रक्रियाओ का तथा ध्यान के आज्ञा, विपाक व सस्थान विषयो का वर्णन किया गया है। यहा ध्यान के निरुपण मे पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत सज्ञाओ का प्रयोग मौलिक है, और इन ध्यान-भेदो का स्वरूप भी अपूर्व है। इक्कीसवे प्रकरण मे शिव-तत्व, गरुडतत्व और कामतत्व का वर्णन भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थकर्ता ने प्राणायाम का निरूपण तो पर्याप्त किया है, किन्तु उसे ध्यान की सिद्धि मे साधक नही, एक प्रकार से बाधक कहकर उसके अभ्यास का निषेध किया है। यह वर्णन सस्कृत गद्य मे किया गया है और उस पर श्रुतसागर कृत

एक सस्कृत टीका भी उपलब्ध है। इसमे वर्णित विषयो का इतना बाहुल्य है कि वे इसका ज्ञानार्णव नाम सार्थक सिद्ध करते हैं। दिगम्बर परम्परा मे योग विषयक ध्यानसार और योगप्रदीप नामक दो अन्य सस्कृत पद्यपद्ध रचनाए भी मिलती है।

हेमचन्द्र (१२ वी शती ई०) कृत योगशास्त्र मे लगभग १००० सस्कृत श्लोक हैं। इनमे मुनि और श्रावक धर्मो का व तत्सम्वन्धी व्रतो का क्रमवार निरूपण है। तत्पश्चात् यहाँ श्रावक की दिनचर्या, कषाय जय द्वारा मन शुद्धि तथा अनित्य आदि बारह भावनाओ का स्वरूप बतलाकर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत तथा आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, आदि धर्मध्यान, और शुक्लध्यान, के चार भेद, केवलि समुद्घात और मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह प्राय समस्त वर्णन स्पष्ट रूप से शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव से कही शब्दश और कही कुछ हेरफेर अथवा सकोच विस्तार पूर्वक लिया गया है। यहाँ तक कि प्राणायाम का विस्तार पूर्वक कोई ३०० श्लोको मे प्ररूपण करने पर भी उसे ज्ञानार्णव के समान मोक्षप्राप्ति मे बाधक कहा गया है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के काल की दृष्टि से पूर्वापरत्व और एक पर दूसरे की छाप इतनी सुस्पष्ट है कि हेमचन्द्र को शुभचन्द्र का इस विषय मे ऋणी न मानने का कोई अवकाश नही।

आशाधर कृत *अध्यात्म–रहस्य* हाल ही प्रकाश मे आया है। इसमे ७२ सस्कृत श्लोको द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन एव अनुभूति का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगारधर्मामृत की टीका की प्रशस्ति मे इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति की अन्तिम पुष्पिका मे इसे धर्मामृत का 'योगोद्दीपन' नामक अठारहवां अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम योगोद्दीन भी है और इसे कर्ता ने अपने धर्मामृत के अन्तिम उपसहारात्मक अठाहरवें अध्याय के रूप मे लिखा था। स्वय कर्ता के शब्दो मे उन्होने अपने पिता के आदेश से आरब्ध योगियो के लिये इस प्रसन्न, गम्भीर और प्रिय शास्त्र की रचना की थी।

स्तोत्र साहित्य

जैन मुनियो के लिये जो छह आवश्यक क्रियाओ का विधान किया गया है, उनमे चतुर्विशति-स्तव भी एक है। इस कारण तीर्थंकरो की स्तुति की परम्परा प्राय उतनी ही प्राचीन है, जितनी जैन सघ की सुव्यवस्था। ये स्तुतियाँ

पूर्व मे भक्त्यात्मक विचारो के प्रकाशन द्वारा की जाती थी, जैसाकि हम पूर्वोक्त कुदकुदाचार्य कृत प्राकृत व पूज्यपाद कृत सस्कृत भक्तियो मे पाते है। तत्-पश्चात् इन स्तुतियो का स्वरूप दो धाराओ मे विकसित हुआ। एक ओर बुद्धिवादी नैयायिको ने ऐसी स्तुतिया लिखी जिनमे तीर्थंकरो की, अन्यदेवो की अपेक्षा, उत्कृष्टता और गुणात्मक विशेषता स्थापित की गई है। इस प्रकार की स्तुतिया **आप्तीमीमासादि** समन्तभद्र कृत, **द्वात्रिंशिकाए** सिद्धसेन कृत तथा हेमचन्द्र कृत अन्ययोग व अयोग-व्यवच्छेदिकाए आदि है, जिनका उल्लेख ऊपर जैन न्याय के प्रकरण मे किया जा चुका है।

दूसरी धारा का विकास, एक ओर चौबीसो तीर्थंकरो के नामोल्लेख और यत्र तत्र गुणात्मक विशेषणो की योजनात्मक स्तुतियो मे हुआ। इस प्रकार की अनेक स्तुतियाँ हमे पूजाओ की जयमालाओ के रूप मे मिलती हैं। क्रमश स्तोत्रो मे विशेषणो व पर्यायवाची नामो का प्राचुर्य बढा। इस शैली के चरम विकास का उदाहरण हमे जिनसेन (९वी शती) कृत **'जिनसहस्त्रनाम स्तोत्र'** मे मिलता है। इस स्तोत्र के आदि के ३४ श्लोको मे नाना विशेषणो द्वारा पर-मात्म तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है, और फिर दश शतको मे सब मिलाकर जिनेन्द्र के १००८ नाम गिनाये गये है। इन नामो मे प्राय अन्य धर्मो के देवताओ जैसे ब्रह्मा, शिव, विष्णु, बुद्ध, बृहस्पति, इन्द्र आदि के नाम भी आ गये हैं। इसी के अनुसार प० आशाधर (१३वी शती), देवविजयगणि (१६वी शती), विनयविजय उपाध्याय (१७ वी शती) व सकलकीर्ति आदि कृत अनेक जिनसहस्त्रनाम स्तोत्र उपलब्ध है। सिद्धसेन दिवाकर कृत जिन-सहस्त्रनामस्तोत्र का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर काव्य प्रतिभाशाली स्तुतिकारो ने ऐसे स्तोत्र लिखे, जिनमे तीर्थंकरो का गुणानुवाद भक्ति भाव पूर्ण, छन्द, अलकार व लालित्य युक्त कविता मे पाया जाता है और इस प्रकार ये रचनाये जैन साहित्य मे गीति काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। प्राकृत मे इस प्रकार का अति प्राचीन उवसग्गहर स्तोत्र है, जो भद्र बाहु कृत कहा जाता है। इसमे पाच गाथाओ द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई है। धनपाल कृत **ऋषभ पचाशिका** मे ५० पद्यो द्वारा प्रथम तीर्थंकर के जीवन चरित्र सबधी उल्लेख आये है। यह स्तुति कला और कल्पना पूर्ण है, और उसमे अलकारो की अच्छी छटा पायी जाती है। कवि के शब्दो मे जीवन एक महोदधि है, जिसमे ऋषभ भगवान् ही एक नौका हैं। जीवन एक चोर डाकुओ से व्याप्त वन है, जिसमे ऋषम ही एक रक्षक है। जीवन मिथ्यात्व मय एक रात्रि है, जिसमे ऋषभ ही उदीयमान सूर्य है। जीवन वह रगमच है जहा से प्रत्येक पात्र को अन्त मे प्रस्थान करना ही

पड़ता है, इत्यादि । इस पर प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, महीमेरु, धर्मशेखर आदि कृत टीकाए पाई जाती हैं । इसका क्लाट द्वारा जर्मन भाषा मे अनुवाद भी हुआ है । नन्दिषेण (९ वी शती) कृत अजियसंतित्थव (अजित-शान्ति-स्तव) में द्वितीय व सोलहवे तीर्थंकरो की स्तुति की गई है, क्योकि इन दो तीर्थंकरो ने, एक प्राचीन मान्यतानुसार शत्रुजय पर्वत की गुफाओ में वर्षा काल व्यतीत किया था, एव टीकाकार के अनुसार, कवि इसी तीर्थ की यात्रा से इस स्तुति की रचना करने के लिये प्रोत्साहित हुआ था । इन्हीं दो तीर्थंकरो की स्तुति जिनवल्लभ (१२ वी शती) ने उल्लासिक्कमथय द्वारा की है । सुमति गणि के अनुसार जिनवल्लभ पाणिनीय व्याकरण, महाकाव्य, अलकार शास्त्र, नाट्य, साहित्य, ज्योतिष व न्याय के महान् पडित थे । वीर गणि ने भी एक अजियसंतित्थय स्तोत्र की रचना की है । अभयदेव (११वी शती) कृत जयतिहुयण स्तोत्र भी प्राकृत की एक लालित्य व भक्तिपूर्ण स्तुति है, जिसके फलस्वरूप, कहा जाता है, स्तुति-कर्ता को एक व्याधि से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ हुआ था । नेमिजिनस्तव एक छोटा सा स्तोत्र है जिसमे ल और म के अतिरिक्त और किसी व्यजन का उपयोग नहीं किया गया । प्राकृत मे महावीरस्तव शब्दालकार का सुन्दर उदाहरण है, जिसमे एक एक शब्द लगातार तीन तीन बार भिन्न भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है । कुछ स्तुतिया ऐसी है जिनमे अनेक भाषाओ का प्रयोग किया गया है, जैसे धर्मवर्द्धन (१३वी शती) कृत पार्श्वजिनस्तवन, एव जिनपद्म (१४ वी शती) कृत शांतिनाथस्तवन । इनमे सस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसैनी, पैशाची, और अपभ्रश, इन छह भाषाओ के पद्य समाविष्ट किये गये है । कही कही एक ही पद्य आधा सस्कृत और आधा प्राकृत मे रचा गया है । धर्मघोष कृत इसिमडल (ऋषिमडल) स्तोत्र मे जम्बूस्वामी, स्वयभव, भद्रबाहु आदि आचार्यो की स्तुति की गई है । एक समवशरण स्तोत्र धर्मघोष कृत (२४ गाथाओ का) और दूसरा महाव्यकृत (५२ गाथाओ का) पाये जाते है ।

सस्कृत मे काव्य शैली की सर्व प्राचीन दो स्तुतिया समन्तभद्र कृत उपलब्ध है । एक बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, क्योकि वह 'स्वयम्भुवा' शब्द से प्रारम्भ होता है । इसके भीतर २४ तीर्थंकरो की पृथक् पृथक् स्तुतिया आ गई है । अधिकाश स्तव ५, ५ पद्योके हैं, एव समस्त पद्यो की सख्या १४३ हैं । इनमें वशस्थ, इन्द्रवज्रा, वसततिलका आदि १५,१६ प्रकार के छदो का उपयोग हुआ है । अर्थ व शब्दालकार भी खूब आये हैं । तात्त्विक् वर्णन और नैतिक व धार्मिक उपदेश भी खूब आया है इस पर प्रभाचन्द्र कृत सस्कृत टीका मिलती है ।

समन्तभद्रकृत दूसरी स्तोत्रपरक रचना स्तुतिविद्या है,जिसके जिनशतक व जिनशतलकार आदि नाम भी पाये जाते हैं। इसमे कवि का काव्य-कौशल अति उत्कृष्ट सीमा पर पहुचा दिखाई देता है। इसमे ११६ पद्य हैं, जो अल-कारो व चित्रकाव्यो द्वारा कही कही इतने जटिल हो गये है कि विना टीका के उनको भले प्रकार समझना कठिन है। इसपर वसुनदि कृत एक मात्र टीका पाई जाती है। इसी कोटि का पूज्यपाद देवनदि (छठी शती) कृत अलकार प्रचुर सिद्धप्रिय स्तोत्र है, जो २६ पद्यो मे पूरा हुआ है। इसमे चौवीस तीर्थ-करो की स्तुति की गई है, व सिद्धप्रिय शब्द से प्रारम्भ होने के कारण उक्त नाम से प्रसिद्ध है।

सस्कृत मे मानतु गाचार्य (लगभग ५ वी ६ ठवी शती) कृत 'भक्तामर स्तोत्र' वहुत ही लोकप्रिय और सुप्रचलित एवम् प्राय प्रत्येक जैन की जिह्वा पर आरूढ पाया जाता है। दिग० परम्परानुसार इसमे ४८ तथा श्वेताम्वर परम्परा मे ५४ पद्य पाये जाते हैं। स्तोत्र की रचना सिंहोन्नता छद मे हुई है। इसमे स्वय कर्ता के अनुसार प्रथम जिनेन्द्र अर्थात् ऋपभनाथ की स्तुति की गई है। तथापि समस्त रचना ऐसी है कि वह किसी भी तीर्थंकर के लिये लागू हो सकती है। प्रत्येक पद्य मे वड़े सुन्दर उपमा, रूपक आदि अलकारो का समावेश है। हे भगवन् आप एक अद्भुत जगत् प्रकाशी दीपक है, जिसमे न तेल है, न वाती और न धूम, एव जहा पर्वतो को हिलादेने वाले वायु के झोके भी पहुच नही सकते, तथापि जिससे जगत् भर मे प्रकाश फैलता है। हे मुनीन्द्र, आपकी महिमा सूर्य से भी वढकर है, क्योकि आप न कभी अस्त होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघो से निरुद्ध होता, एव एक साथ समस्त लोको का स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। भगवन् आपही वुद्ध है, क्योकि आपकी वुद्धि व वोध की विवुध जन अर्चना करते हैं। आप ही शकर है, क्योकि आप भुवनत्रय का शम् अर्थात् कल्याण करते है। और आप ही विधाता ब्रह्मा हैं, क्योकि आपने शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) की विधि का विधान किया है, इत्यादि। इसका सम्पा-दन व जर्मन भाषा मे अनुवाद डा० जैकोवी ने किया हे। इस स्तोत्र के आधार से वडा विशाल साहित्य निर्माण हुआ है। कोई २०, २५ तो टीकाए लिखी गई हैं एव भक्तामर स्तोत्र कथा व चरित्र, छाया स्तवन, पचाग विधि पादपूर्ति स्तवन, पूजा, माहात्म्य, व्रतोद्यापन आदि रचनाएँ भी २०, २५ से कम नही हैं। प्राकृत मे भी मानतु ग कृत भयहर स्तोत्र पार्श्वनाथ की स्तुति मे रचा गया पाया जाता है।

भक्तामर के ही जोड का और उसी छद व शैली मे, तथा उसी के समान लोकप्रिय दूसरी रचना कल्याण मदिर स्तोत्र है। उसमे ४४ पद्य हैं।

अन्तिम मिश्र छद के एक पद्य मे इसके कर्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्धसेन (लगभग ६ठी शती का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति मे रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओ व शब्द योजना मे मौलिक ही है। हे जिनेन्द्र, आप उन भव्यो को ससार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय मे आपका नाम धारण करते है ? हा जाना, जो एक मशक (दृति) भी जल मे तैर कर निकल जाती है, वह इसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे जिनेश, आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र मे देह को छोडकर परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं, क्यो न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुए अपने पाषाण भाव को छोडकर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं। इस स्तोत्र का भी डा० जैकोबी ने सम्पादन व जर्मन भाषा मे अनुवाद किया है। भक्तामर स्तोत्र के समान इस पर भी कोई २०, २५ टीकाए व छाया स्तोत्र पाये जाते हैं।

धनजय ७वी शती, ८वी शती) कृत विषापहार स्तोत्र मे ४० इन्द्रवज्रा छद के पद्य है। अन्तिम पद्य का छद भिन्न है, और उसमे कर्ता ने अपना नाम सूचित किया है। स्तोत्र के द्वितीय पद्य मे इस स्तुति को प्रथम तीर्थंकर वृषभ की कहा गया है। इसमे अन्य देवो से पृथक् करने वाले तीर्थंकर के गुणो का वर्णन विशेष रूप से आया है। हे देव, जो यह कहकर आपका गुणानुवाद करते हैं कि आप अमुक के पुत्र हैं, अमुक के पिता है, व अमुक कुल के है, वे यथार्थत अपने हाथ मे आये हुए सुवर्ण को पत्थर समझकर फेक देते है। हे देव, मै यह स्तुति करके आपसे दीनता पूर्वक कोई वर नही मागता हू, क्योकि आप उपेक्षा (मध्यस्थ भाव) रखते हैं। जो कोई छाया पूर्ण वृक्ष का आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया मागने से लाभ क्या ? और हे देव यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है, और उसके लिये अनुरोध भी, तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमे भक्ति दृढ बनी रहे। स्तोत्र का नाम उसके १४वें पद्य के आदि मे आये हुए विषापहार शब्द पर से पडा है, जिसमे कहा गया है कि हे भगवन लोग विषापहार मणि, औषधियो, मन्त्र और रसायन की खोज मे भटकते फिरते हैं, वे यह नही जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम है। इस स्तोत्र पर नागचन्द्र और पार्श्वनाथ गोम्मट कृत टीकाए है व एक अवचूरि तथा देवेन्द्रकीर्ति कृत विषापहार व्रतोद्यापन नामक रचनाओ के उल्लेख मिलते हैं।

वादिराज (११वी शती) कृत एकीभाव स्तोत्र मे २६ पद्य मन्द्राक्रान्ता छन्द के है। अन्तिम भिन्न छन्दात्मक पद्य मे कर्ता के नाम के साथ उन्हे एक

उत्कृष्ट शाब्दिक, तार्किक काव्यगत और भव्यसहायक कहा गया है। इस स्तोत्र मे भक्त के मन, वचन और काय को स्वस्थ और शुद्ध करनेवाले तीर्थंकर के गुणों की विशेष रूप से स्तुति की गई है। हे भगवन्, जो कोई आपके दर्शन करता है, वचन रूपी अमृत का भक्तिरूपी पात्रसे पान करता है, तथा मर्मरूपी रत्नसे आप जैसे असाधारण आनन्द के धाम, दुर्वार काम के मदहारी व प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष मे ध्यान द्वारा प्रवेश करता है, उसे क्रूराकार रोग और कंटक कैसे सता सकते है? हे देव, न आपमे कोप का आवेश है, और किसी के प्रति प्रसन्नता, एव आपका चित्त परम उपेक्षा से व्याप्त है। इतने पर भी भुवन मात्र आपकी आज्ञा के वश है, और आपके सामीप्य मात्र से वैर का अपहार हो जाता है, ऐसा भुवनोत्कृष्ट प्रभाव आपको छोड़कर और किसमे है? इस स्तोत्र पर एक स्वोपज्ञ टीका, एक श्रुतसागर कृत टीका व एक अन्य टीका मिलती है, तथा जगत्कीर्ति कृत व्रतोद्यापन का भी उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्तोत्र लिखे गये हैं, जिनकी सख्या सैकडो पर पहुच जाती है, और जिनकी कुछ न कुछ छद, शब्द-योजना, अलंकार व भक्तिभाव सबधी अपनी अपनी विशेषता है। इनमे से कुछ के नाम ये है (१) बप्पभट्टिकृत सरस्वती स्तोत्र (६वीं शती) (२) भूपालकृत जिनचतुर्विंशतिका, (३) हेमचन्द्र कृत वीतराग स्तोत्र (१२वी शती), (४) आशाधर कृत सिद्धगुण स्तोत्र (१३वी शती) स्वोपज्ञ टीका सहित, (५) धर्मघोष कृत यमक स्तुति व चतुर्विंशति जिनस्तुति (६) जिनप्रभ सूरि कृत चतुर्विंशति जिनस्तुति (१४वी शती,) (७) मुनिसुन्दर कृत जिन स्तोत्र रत्नकोष (१४वी शती), (८) सोमतिलक कृत सर्वज्ञ स्तोत्र, (९) कुमारपाल, (१०) सोमप्रभ, (११) जयानद, और (१२) रत्नाकर कृत पृथक् पृथक् 'साधारण जिन स्तोत्र,, (१३) जिन वल्लभ कृत नदीश्वर स्तवन (१४) शन्तिचन्द्रगणि (१६वी शती) कृत ऋषभजिनस्तव' व 'अजितशान्ति स्तव' आदि। धर्मसिंह कृत सरस्वती भक्तामर स्तोत्र तथा भावरत्न कृत नेमिभक्तामर स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योकि इनकी रचना भक्तामर स्तोत्र पर से समस्यापूर्ति प्रणाली द्वारा हुई है, और इनमे क्रमश सरस्वती व नेमि तीर्थंकर की स्तुति की गई है।

प्रथमानुयोग—प्राकृत पुराण

जैनागम के परिचय मे कहा जा चुका है कि बारहवें श्रुतांग दृष्टिवाद के पाच भेदो मे एक भेद प्रथमानुयोग था, जिसमे अरहत व चक्रवर्ती आदि महापुरुषो का चरित्र वर्णन किया गया था। यही जैन कथा साहित्य का आदि

स्तोत्र माना जाता है। चौथे श्रुतांग समवायांग के भीतर २४६ से २७५ वें सूत्र तक जो कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का वर्णन आया है, उसका भी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। समवायांग के उस वर्णन की अपनी निराली ही प्राचीन प्रणाली है। वहा पहले जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र मे वर्तमान अवसर्पिणी काल मे चौवीसो तीर्थंकरो के पिता, माता, उनके नाम, उनके पूर्वभव के नाम, उनकी शिविकाओं के नाम, निष्क्रमण भूमियां, तथा निष्क्रमण करने वाले अन्य पुरुषो की सख्या, प्रथम भिक्षादाताओं के नाम, दीक्षा से प्रथम आहार ग्रहण का कालान्तर, चैत्यवृक्ष व उनकी ऊँचाई तथा प्रथम शिष्य और प्रथम शिष्यनी, इन सबकी नामावलिया मात्र क्रम से दी गई हैं। तीर्थंकरो के पश्चात् १२ चक्रवर्तियो के पिता, माता, स्वय चक्रवर्ती और उनके स्त्रीरत्न क्रमश. गिनाये गये हैं। तत्पश्चात् ९ बलदेव और ९ वासुदेवो के पिता, माता, उनके नाम, उनके पूर्वभव के नाम व धर्माचार्य, वासुदेवो की निदान भूमिया और निदान कारण (स० २६३), इनके नाम गिनाये गये है। विशेषता केवल बलदेवो और वासुदेवो की नामावली मे यह है कि उनसे पूर्व उत्तम पुरुष, प्रधान पुरुष, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी कान्त, सौम्य, सुभग आदि कोई सौ से भी ऊपर विशेषण लगाये गये है। तत्पश्चात् इनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेव) के नाम दिये गये हैं। इसके पश्चात् भविष्य काल के तीर्थंकर आदि गिनाये गये है। यहा यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त नामावलियो मे त्रेसठ पुरुषो का वृत्तान्त दिया गया है, तथापि उससे पूर्व १३२वें सूत्र मे उत्तम पुरुषो की सख्या ५४ कही गई है, ६३ नही, अर्थात् ९ प्रतिवासुदेवो को उत्तम पुरुषो मे सम्मिलित नहीं किया गया।

यतिवृषभ कृत तिलोय पण्णत्ति के चतुर्थ महा अधिकार मे भी उक्त महापुरुषो का वृतान्त पाया जाता है। इस अधिकार मे की गाथा ४२१ से ५०९ तक चौदह मनुओ या कुलकरो का उल्लेख करके क्रमश १४११वी गाथा तक उनका वही वर्णन दिया गया है जो ऊपर बतलाया जा चुका है। किन्तु विशेषता यह है कि यहा अनेक बातो मे अधिक विस्तार पाया जात है, जैसे— तीर्थंकरो की जन्मतिथिया और जन्मनक्षत्र, उनके वशो का निर्देश, जन्मान्तराल आयुप्रमाण, कुमारकाल, उत्सेध, शरीर वर्ण, राज्यकाल चिह्न, राज्य पद, वैराग्य कारण व भावना, दीक्षा स्थान, तिथि, काल व नक्षत्र और वन तथा उपवासो के नाम-निर्देश, दीक्षा के पूर्व की उपवास-सख्या, पारणा के समय नक्षत्र और स्थान, केवलज्ञान का अन्तरकाल, समोसरण की रचना का विस्तार पूर्वक वर्णन (गाथा ७१० से ९३३ तक), यक्ष-यक्षिणी केवलि-काल गणधरो की सख्या, ऋद्धियो के भेद, ऋषियो की सख्या, सात गण, आर्यिकाओ की सख्या,

मुख्य आर्यिकाओ के नाम, श्रावको की सख्या, मुक्ति की तिथि, काल व नक्षत्र तथा साथ मे मुक्त हुए जीवो की सख्या, मुक्ति मे पूर्व का योग-काल, मुक्त होते समय के आसन अनुबद्ध केवलियो की सख्या, अनुत्तर जानेवालो की सख्या मुक्तिप्राप्त यति-गणो की सख्या, मुक्ति-प्राप्त शिष्यगणो का मुक्तिकाल स्वर्ग-प्राप्त शिष्यो की सख्या, सब श्रमणो की सख्या आदि, और अतिम तीर्थंकरो का मुक्तिकाल और परस्पर अन्तराल एव तीर्थ-प्रवर्तन काल। यह सब विस्तार १२७८वी गाथा मे समाप्त होकर तत्पश्चात् चक्रवर्तियो का विवरण प्रारम्भ होता है, जिसमे उनके शरीरोत्सेध, आयु, कुमारकाल, मडलीक-काल, दिग्विजय, विभव, राज्यकाल, संयमकाल और पर्यान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का वर्णन गाथा १४१० तक किया गया है। इसके पश्चात् बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रुओ (प्रतिवासुदेवो) के नामो के अतिरिक्त वे किस-किस तीर्थंकर के तीर्थ मे हुए, इसका निर्देश किया गया है, और फिर उनके शरीर-प्रमाण आयु-कुमारकाल और मडलीक काल, तथा शक्ति, धनुष आदि सात महारत्नो व मुसल आदि चार रत्नो के उल्लेख के पश्चात् गाथा १४३६ मे कहा गया है कि समस्त बलदेव निदान रहित होने से मरण के पश्चात् ऊर्ध्वगामी व सब नारायण निदान सहित होने मे अधोगामी होते हैं। यह गाथा कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ वही है जो समवायाग के २६३ वें सूत्र के अन्तर्गत आई है। इसके पश्चात् उनके मोक्ष, स्वर्ग व नरक गतियो का विशेष उल्लेख है। गा० १४३७ मे यह निर्देश किया गया है कि अन्तिम बलदेव, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, ब्रह्म-स्वर्ग को गये हैं, और अगले जन्म मे वे कृष्ण तीर्थंकर के तीर्थ मे सिद्धि को प्राप्त होगे। इसके पश्चात् ११ रुद्र, ९ नारद और २४ कामदेव, इनका वृतात गा० १४३९ से १४७२वी गाथा तक दिया गया है। और तदनन्तर दुषम काल का प्रवेश, अनुबुद्ध केवली, १४ पूर्वधारी, १० पूर्वधारी, ११ अगधारी, आचारांग के धारक, इनका काल-निर्देश करते हुए, शक राजा की उत्पत्ति, उसके वश का राज्यकाल, गुप्तो और चतुर्मुख के राज्यकाल तक महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष तक की परम्परा, तथा दूसरी ओर महावीर निर्वाण की रात्रि मे राज्याभिषिक्त हुए अवन्तिराज पालक, विजयवश, मुरुण्ड वश, पुष्यमित्र, वसुमित्र, अग्निमित्र, गन्धर्व, नरवाहन, भृत्यान्ध्र और गुप्तवश तथा कल्कि चतुर्मुख के राज्यकाल की परम्परा द्वारा वीर-निर्वाण से वही १००० वर्ष का वृतान्त दिया गया है। बस यही पर तिलोय पण्णत्ति का पौराणिक व ऐतिहासिक वृतात समाप्त होता है (गा० १४७६–१५१४)।

जैन साहित्य मे महापुरुषो के चरित्र को नवीन काव्य शैली मे लिखने का

प्रारम्भ विमलसूरि ने किया। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में आदि काव्य वाल्मीकि कृत रामायण माना जाता है, उसी प्रकार प्राकृत का आदि काव्य भी विमलसूरि कृत पउमचरिय(पद्मचरितम्) है। इस काव्य के अन्त की प्रशस्ति में इसके कर्ता व रचना-काल का निर्देश पाया जाता है। यहां कहा गया है कि स्व-समय और पर-समय अर्थात् अपने धर्म तथा अन्यधर्म के ज्ञायक राहू नामके आचार्य हुए। उनके शिष्य थे नाइल कुलवंशी विजय, और विजय के शिष्य विमलसूरि ने पूर्वगत में से नारायण और सीरि (बलदेव) के चरित्र सुनकर इस काव्य की रचना की, जिसकी समाप्ति महावीर के सिद्ध होने के उपरान्त दुषमाकाल के ५३० वर्ष व्यतीत होने पर हुई। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार वीर निर्वाण से ३ वर्ष ८ मास और १ पक्ष व्यतीत होने पर दुषमाकाल का प्रारम्भ हुआ (ति० प० ४, १४७४)। अब यदि हम पहले कहे अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ की कार्तिक कृष्ण अमावस्या को मानते हैं, तो पउमचरिय की समाप्ति का काल आषाढ शुक्ल पूर्णिमा सन् ७ ई० सिद्ध होता है। किन्तु कुछ विद्वान, जैसे जैकोबी, ग्रन्थ रचना के इस काल को ठीक नहीं मानते, क्योंकि एक तो ग्रन्थ की भाषा अधिक विकसित है, और दीनार, लग्न आदि ऐसे शब्द आये है जो यूनान से लिये गये प्रतीत होते है। दूसरे उसमें कुछ ऐसे छन्दों का उपयोग हुआ है, जिनका आविष्कार सम्भवतः उस समय तक नहीं हुआ था। अतः विद्वान् इसका रचना-काल तीसरी चौथी शती ई० अनुमान करते हैं। यथार्थतः ये मत बहुत कुछ काल्पनिक व अपर्याप्त प्रमाणों पर आधारित है। वस्तुतः अभी तक ऐसा कोई प्रमाण सम्मुख नहीं लाया जा सका, जिसके कारण ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय पूर्णतः असिद्ध किया जा सके। यह बात अवश्य है कि इसकी भाषा में हमें महाराष्ट्री प्राकृत का प्रायः निखरा हुआ रूप दिखाई देता है, और महाराष्ट्री के विकास का काल लगभग ई० की दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी यह बात भी चिन्तनीय है कि जैन साहित्य में अन्य कोई इस शैली का प्राकृत काव्य छठी-सातवीं शती से पूर्व का नहीं मिलता।

पउमचरिय के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ विषयक आदि स्त्रोतों के विषय में यह सूचित किया है कि उन्होंने नारायण और बलदेव (लक्ष्मण और राम) का चरित्र पूर्वगत में से सुना था (उ० ११८, गा० ११८)। यद्यपि पूर्वों के प्राप्त परिचय में कथात्मक साहित्य का उल्लेख नहीं पाया जाता, तथापि १२वें दृष्टिवाद के भेदों में प्रथमानुयोग और पूर्वगत, दोनों साथ साथ निर्दिष्ट हैं। पउमचरिय में यह भी कहा गया है कि जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध और आचार्य, परम्परागत था,

उसे उन्होने अनुपूर्वी से सक्षेप मे कहा है (१, ८)। यहा स्पष्टत कर्ता का सकेत उन नामावली-निबद्ध चरित्रो से है, जो समवायाग व तिलोयपण्णत्ति मे पाये जाते हैं। वे नामावलिया यथार्थत स्मृति-सहायक मात्र हैं। उनके आधार से विशेष कथानक मौखिक गुरु-शिष्य परम्परा मे अवश्य प्रचलित रहा होगा, और इसी का उल्लेख कर्ता ने आचार्य-परम्परागत कहकर किया है। जिन सूत्रो के आधार पर यह गाथात्मक काव्य रचा गया है, उनका निर्देश ग्रन्थ के प्रथम उद्देश मे किया गया है। कवि को इस ग्रन्थ रचना की प्रेरणा कहाँ से मिली इसकी भी सूचना ग्रन्थ मे पाई जाती है। श्रेणिक राजा ने गौतम के सम्मुख अपना यह सन्देह प्रकट किया कि वानरो ने अतिप्रबल राक्षसो का कैसे विनाश किया होगा ? क्या सचमुच रावण आदि राक्षस और मासभक्षी थे ? क्या सचमुच रावण का भाई कुम्भकर्ण छह महीने तक लगातार सोता था ? और निद्रा से उठकर भूखवश हाथी और भैसे निगल जाता था ? क्या इन्द्र सग्राम मे रावण से पराजित हो सका होगा ? ऐसी विपरीत बातो से पूर्ण रामायण कवियो द्वारा रची गई है, क्या यह सच है ? अथवा तथ्य कुछ अन्य प्रकार है १ श्रेणिक के इस सन्देह के समाधानार्थ गौतम ने उन्हे यथार्थ रामायण का कथानक कहकर सुनाया (२, ३)। इस कथन से स्पष्ट है कि पउमचरिय के लेखक के सम्मुख वाल्मीकि कृत रामायण उपस्थित थी और उसी से प्रेरणा पाकर उन्होने अपने पूर्व साहित्य व गुरु परम्परा से प्राप्त कथा-सूत्रो को पल्लवित करके प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया।

पउमचरिय मे स्वय कर्ता के कथनानुसार सात अधिकार है। स्थिति, वशोत्पत्ति, प्रस्थान' रण, लवकुश (लवणाकुश) उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। ये अधिकार उद्देशो मे विभाजित हैं, जिनकी सख्या ११८ है। समस्त रचना प्राकृत गाथाओ मे है, किन्तु उद्देशो के अन्त मे भिन्न भिन्न छन्दो का भी प्रयोग किया गया है। रचना प्राय सर्वत्र सरल, धारावाही कथा-प्रधान है, किन्तु यत्र-तत्र उपमा आदि अलकारो, सूक्तियो व रस-भावात्मक वर्णनो का भी समावेश पाया जाता है। इन विशेषताओ के द्वारा उसकी शैली भाषाभेद होने पर भी सस्कृत के रामायण महाभारत आदि पुराणो की शैली से मेल रखती है। इसमे काव्य का वह स्वरूप विकसित हुआ दिखाइ नही देता जिसमे अलकारिक वर्णन व रस-भाव-निरूपण प्रधान, और कथा भाग गौण हो गया है। प्रथम २४ उद्देशो मे मुख्यत विद्याधर और राक्षस वशो का विवरण दिया गया है। राम के जन्म से लेकर, उनके लका से लौटकर राज्याभिषेक तक अर्थात्, रामायण का मुख्य भाग २५ से ८५ तक के ६१ उद्देशो मे वर्णित है। ग्रन्थ के शेष भाग मे सीता-निर्वासन (उद्देश ९४), लवणकुश-उत्पत्ति, देश-

विजय व समागम, पूर्व भवो का वर्णन आदि विस्तार से करके अन्त मे राम को केवलज्ञान की उत्पत्ति, और उनकी निर्वाण-प्राप्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। यहाँ राम का कथानक कई बातो मे वाल्मीकि रामायण से अपनी विशेषता रखता है। यहाँ हनुमान सुग्रीव आदि वानर नही, किन्तु विद्याधर थे, जिनका ध्वज चिह्न वानर होने के कारण वे वानर कहलाने लगे रावण के दशमुख नही थे, किन्तु उसके गले मे पहनाये गये हार के मणियो मे प्रतिबिम्बित नौ अन्य मुखो के कारण वह दशमुख कहलाया। सीता यथार्थत जनक की ही औरस कन्या थी, और उसका एक भाई भामडल भी था। राम ने बर्बरो द्वारा किये गये आक्रमण के समय जनक की सहायता की, और उसी के उपलक्ष्य मे जनक ने सीता का विवाह राम के साथ करने का निश्चय किया। सीता के भ्राता भामडल को उसके बचपन मे ही विद्याधर हर ले गया था। युवक होने पर तथा अपने सच्चे माता पिता से अपरिचित होने के कारण उसे सीता का चित्रपट देखकर उस पर मोह उत्पन्न हो गया था, और वह उसी से अपना विवाह करना चाहता था। इसी विरोध के परिहार के लिये धनुष-परीक्षा का आयोजन किया गया, जिसमे राम की विजय हुई। दशरथ ने जब वृद्धत्व आया जान राज्यभार से मुक्त हो, वैराग्यधारण करने का विचार किया, तभी गभीर-स्वभावी भरत को भी वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार अपने पति और पुत्र दोनो के एक साथ वियोग की आशका से भयभीत होकर कैकेयी ने अपने पुत्र को गृहस्थी में बाधे रखने की भावना से उसे ही राज्य पद देने के लिये दशरथ से एकमात्र वर मागा, और राम, दशरथ की आज्ञा से नही, किन्तु स्वेच्छा से वन को गये। इस प्रकार कैकेयी को किसी दुर्भावना के कलक से बचाया गया है। रावण के आधिपत्य को स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराकर बालि स्वय अपने लघु भ्राता सुग्रीव को राज्य देकर प्रवृजित हो गया था, राम ने उसे नही मारा। रावण को यहा ज्ञानी और व्रती चित्रित किया गया है। वह सीता का अपहरण तो कर ले गया, किन्तु उसने उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात्कार करने का कभी विचार या प्रयत्न नही किया, और प्रेम की पीडा से वह घुलता रहा। जब स्वय उसकी पत्नी मदोदरी ने रावण के सुधारने का दूसरा कोई उपाय न देख, सच्ची पत्नी के नाते उसे बलपूर्वक भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लेने का सुझाव दिया, तब उसने यह कहकर उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैंने किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी सभोग न करने का व्रत ले लिया है, जिसे मैं कभी भग न करूगा। रावण के स्वय अपने मुख से इस व्रत के उल्लेख द्वारा कवि ने न केवल उसके चरित्र को ऊचा उठाया है, किन्तु सीता के अखण्ड पातिव्रत का भी एक निस्सदेह

प्रमाण उपस्थित कर दिया है। रावण की मृत्यु यहा राम के हाथ से नही, किन्तु लक्ष्मण के हाथ से कही गई है। राम के पुत्रो के नाम यहा लवण और अकुश पाये जाते हैं। इस प्रकार की अनेक विशेषताए इस कथानक मे पाई जाती है, जिनका उद्देश्य कथा को अधिक स्वाभाविक बनाना, और मानव चरित्र को सभी परिस्थितियो मे उचा उठाये रखना प्रतीत होता है। कथानक के बीच मे प्रसगवश नाना अवान्तर कथाए व धर्मोपदेश भी गुथे हुए है। पउमचरिय के अतिरिक्त विमलसूरि की और कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई, किन्तु शक सवत ७०० (ई० सन् ७७८) मे बनी कुवलयमाला मे उसके कर्ता उद्योतनसूरि ने कहा है कि—

बुहयण-सहस्स-दइयं हरिवंसुप्पत्ति-कारयं पढमं ।
वंदामि वंदियं पि हु हरिवंस चेव विमलपयं ॥

अर्थात् मैं सहस्त्रो बुधजनो के प्रिय हरिवशोत्पत्ति के प्रथम कारक अर्थात् रचयिता विमलपद हरिवश की ही वन्दना करता हूँ । इस उल्लेख पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत. विमलसूरि ने हरिवश-कथात्मक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि समवायाग सूत्र मे यद्यपि नामावलिया समस्त त्रेसठ शलाका पुरुषो की निबद्ध की गई हैं, तथापि उनमे से ९ प्रतिवासुदेवो को छोडकर शेष ५४ को ही उत्तमपुरुषो कहा है। इन्ही ५४ उत्तमपुरुषो का चरित्र शीलाकाचार्य ने अपने 'चउपन्नमहापुरिस-चरिय' मे किया है, जिसकी रचना वि० स० ९२५ ई०-सन् ८६८ मे समाप्त हुई। यह ग्रन्थ प्राकृत गद्य मे व यत्र तत्र पद्यो मे रचा गया है। तीर्थंकरो व चक्रवर्तियो का चरित्र यहा पूर्वोक्त नामावलियो के आधार से जैन परम्परानुसार वर्णन किया गया है। किन्तु विशेष तुलना के लिये यहा राम का आख्यान ध्यान देने योग्य है । अधिकाश वर्णन तो सक्षेप से विमलसूरि कृत पउमचरिय के अनुसार ही है, किन्तु कुछ बातो मे उल्लेखनीय भेद दिखाई देता है। जिस रावण की भगिनी को पउमचरिय मे सर्वत्र चन्द्रनखा कहा गया है, उसका नाम यहा सूर्पनखा पाया जाता है। पउमचरिय मे रावण ने लक्ष्मण के स्वर मे सिंहनाद करके राम को धोखा देकर सीता का अपहरण किया, किन्तु यहा स्वर्णमयी मायामृग का प्रयोग पाया जाता है। पउमचरिय मे बालि स्वय सुग्रीव को राज्य देकर प्रवृजित हो गया था, किन्तु यहा उसका राम के हाथ से वध हुआ कहा गया है। यहा सीता को अपहरण के पश्चात् सम्बोधन करने वाली त्रिजटा का उल्लेख आया है, जो पउमचरिय मे नही है। इन भेदो से सुस्पष्ट है कि शीलाक की रचना मे बाल्मीकि कृत रामायण का प्रभाव अधिक पडा है, यद्यपि ग्रन्थ के अन्त मे

शीलाक ने स्पष्टत कहा है कि राम और लक्ष्मण का चरित्र जो पउमचरिय मे विस्तार से वर्णित है, उसे उन्होने सक्षेप से कहा है।

भद्रेश्वर कृत 'कहावलि' मे त्रेसठ महापुरुषो का चरित्र वर्णित है। भद्रेश्वर अभयदेव के गुरु थे। अभयवेद के शिष्य आषाढ का समय लगभग ११९१ ई० पाया जाता है, अतएव यह रचना १२ वी शती के प्रारम्भ की सिद्ध होती है। समस्त रचना प्राकृत गद्य मे लिखी गई है, केवल यत्र तत्र पद्य पाये जाते हैं। ग्रन्थ मे कोई अध्यायो का विभाग नही है, किन्तु कथाओ का निर्देश 'रामकहा भण्णइ' 'वाणारकहा भण्णइ' इत्यादि रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ मे रामायण की कथा विमलसूरि कृत 'पउमचरिय' के ही अनुसार है। जो थोडा-वहुत भेद यत्र-तत्र पाया जाता है, उसमे विशेष उल्लेखनीय सीता के निर्वासिन का प्रसग है। सीता गर्भवती है और उसे स्वप्न हुआ है कि वह दो पराक्रमी पुत्रो को जन्म देगी। सीता के इस सौभाग्य की वात से उसकी सपत्नियो को ईर्ष्या उत्पन्न होती है उन्होने सीता के साथ एक छल किया। उन्होने सीता से रावण का चित्र वनाने का आग्रह किया। सीता ने यह कहते हुए कि मैंने उसके मुखादि अग तो देखे नही, केवल उसके पैरो का चित्र वना दिया। इसे उन सपत्नियो ने राम को दिखाकर कहा कि सीता रावण मे अनुरक्त हो गई है, और उसी की चरण-वदना किया करती है। राम ने इस पर जव तत्काल कोई प्रतिक्रिया नही दिखाई, तव उन सपत्नियो ने जनता से यह अपवाद फैला दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप राम सीता का निर्वासिन करने के लिये विवश हुए। रावण के चित्र का वृत्तान्त हेमचन्द्र ने अपने त्रिशष्टिशला कापुरुपचरित मे भी निवद्ध किया है।

प्राकृत मे तीर्थंकर चरित्र—

शीलाक कृत 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' के पश्चात् आगामी तीन चार शताब्दियो मे नाना तीर्थंकरो के चरित्र प्राकृत मे कही पद्यात्मक, कही गद्यात्मक और कही मिश्रित रूप से काव्यशैली मे लिखे गये। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ नाथ पर अभयदेव के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने सन् ११०३ ई० मे ११००० श्लोक प्रमाण आदिणाह-चरियं की रचना की। पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का चरित्र १२ वी शती के मध्य मे विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ द्वारा लगभग ९००० गाथाओ मे रचा गया। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ का चरित्र देवसूरि द्वारा १३ वी शती मे रचा गया। सातवे तीर्थंकर पर लक्ष्मण गणिकृत 'सुपासणाह-चरियं एव सुविस्तृत और उत्कृष्ट कोटि की रचना है, जो वि० स० ११९९ मे समाप्त हुई है। इसमे लगभग ७० पद्य अपभ्रश के भी समाविष्ट पाये जाते हैं. आठवें तीर्थंकर

चन्द्रप्रभ पर यशोदेव कृत (सं० ११७८) तथा श्रीचन्द्र के शिष्य हरिभद्रकृत (सं० १२२३), ११ वें श्रेयांस पर अजितसिंह कृत और १२ वें वासुपूज्य पर चन्द्रप्रभ कृत चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं। १४ वें तीर्थंकर अनन्तनाथ का चरित्र नेमिचन्द्र द्वारा वि० सं० १२१३ में लिखा गया। १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र देवचन्द्र सूरि द्वारा वि० सं० ११६० में तथा दूसरा मुनिभद्र द्वारा वि० सं० १३५३ में लिखा गया। देवसूरि कृत रचना लगभग १२००० श्लोक प्रमाण है। १९ वें मल्लिनाथ तीर्थंकर के चरित्र पर दो रचनाएं मिलती हैं, एक श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र द्वारा नवदेवगणि की सहायता से, और दूसरी जिनेश्वर सूरि द्वारा। १२ वीं शती में ही २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का चरित्र श्रीचन्द्र द्वारा लगभग ११००० गाथाओं में लिखा गया। २२ वें नेमिनाथ पर भी तीन रचनायें उपलब्ध हैं, एक मलधारी हेमचन्द्र कृत, दूसरी जिनेश्वर सूरि कृत वि० सं० ११७५ की, और तीसरी रत्नप्रभ सूरि कृत वि० संवत् १२३३ की। २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र अभयदेव के प्रशिष्य देवभद्र सूरि द्वारा वि० सं० ११६८ में रचा गया। रचना गद्य-पद्य मिश्रित है। अन्तिम तीर्थंकर पर 'महावीरचि-रय' नामक तीन रचनाए (प्रका० अमदावाद १९४५) उपलब्ध हैं, एक सुमति वाचक के शिष्य गुणचन्द्र गणिकृत, दूसरी देवेन्द्रगणि अपर नाम नेमिचन्द्र, और तीसरी देवभद्र सूरिकृत। इन सबमें प्राचीन महावीर चरित्र आचारांग व कल्पसूत्र में पाया जाता है। कल्पसूत्र में वर्णित चरित्र अपनी काव्यात्मक शैली में ललितविस्तर में वर्णित बुद्ध-चरित से मिलता है। यह रचना भद्रबाहु कृत कही जाती है।

उक्त समस्त रचनाओं की भाषा व शैली प्राय एक सी है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, किन्तु कहीं कहीं शौरसेनी की प्रवृत्तियां भी पाई जाती है। शैली प्राय. पौराणिक है, किन्तु कवि की प्रतिभानुसार उनमें छंद, अलंकार, रस-भाव आदि काव्य गुणों का तरतम भाव पाया जाता है। प्रत्येक रचना में प्राय चरित्रनायक के अनेक पूर्व भवों का वर्णन किया गया है, जो ग्रन्थ के एक तृतीय भाग से कहीं अर्द्ध-भाग तक पहुंच गया है शेष में भी उपाख्यानों और उपदेशों की बहुलता पाई जाती है। नायक के चरित्र वर्णन में जन्म-नगरी की शोभा, माता-पिता, का वैभव, गर्भ और जन्म समय के देव-कृत अतिशय, कुमार-क्रीडा और शिक्षा-दीक्षा, प्रवृज्या और तपस्या की कठोरता, परिषहों और उपसर्गों का सहन, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवशरण-रचना धर्मोपदेश, देश-प्रदेश विहार, और अन्तत निर्वाण, इनका वर्णन कहीं सक्षेप से और कहीं विस्तार कहीं सरल रूप में और कहीं कल्पना, लालित्य और अलकार से भरपूर जाता है।

प्राकृत मे विशेष कथाग्रन्थ-पद्यात्मक–

तीर्थंकरो के चरित्रों के अतिरिक्त प्राकृत मे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमे किसी व्यक्तिविशेष के जीवन-चरित्र द्वारा जैनधर्म के किसी विशेष गुण, जैसे सयम, उपवास पूजा, विधि-विधान, पात्र-दान आदि का माहात्म्य प्रकट किया गया है। ये रचनाए अपनी शैली व प्रमाणादि की दृष्टि से तीन भागो में विभक्त की जा सकती है। एक वे ग्रन्थ है जिनमे प्राकृत पद्यात्मक रचनाए ही पाई जाती हैं, एव जिनमे छद, अलकार आदि का भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है। अतएव इन्हे हम प्राकृत काव्य कह सकते हैं। दूसरी वे रचनाए हैं जिनमें मुख्यत प्राकृत गद्य शैली मे किसी व्यक्ति विशेष का जीवन वृत्तान्त कहा गया है। तीसरे प्रकार वे ग्रन्थ हैं जो बहुधा कथाकोष के नाम से प्रकट किये गये हैं, और जिनमे कही पद्य, और कही मिश्रित रूप से अपेक्षा कृत सक्षेप मे धार्मिक स्त्री-पुरुषो के चरित्र वर्णित किये गये है।

सबसे अधिक प्राचीन प्राकृत काव्य पादलिप्तसूरि कृत तरंगवती कथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों, जैसे अनुयोगद्वारसूत्र, कुवलयमाला, तिलकमजरी आदि मे मिलता हैं। 'विसेसनिसीह् चूर्णि,' मे नरवाहनदत्त की कथा को लौकिक व तरंगवती और मगधसेना आदि कथाओ को लोकोत्तर कहा गया है। हाल-कृत गाथा-सप्तशती मे पादलिप्त कृत गाथाओ का सकलन पाया जाता है। प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र मे (१३ वा शती) पादलिप्तसूरि का जीवनवृत्त पाया जाता है, जिसमे उनके विद्याधर कुल व नागहस्ति गुरु का उल्लेख है। इन उल्लेखो पर से इस रचना का काल ई० सन् ५०० से पूर्व सिद्ध होता है। दुर्भाग्यत यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हो सका, किन्तु लगभग १५ वी शती मे वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने इसका सक्षेप तरंगलोला नाम से १६४३ गाथाओ मे प्रस्तुत किया है, जो प्रकाश मे आ चुका हैं। (नेमिविज्ञान ग्रन्थमाला वि० स० २०००)। इसका जर्मन मे प्रोफेसर लायमन द्वारा, तथा गुजराती मे नरसिंह भाई पटेल द्वारा किये हुए अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। तरग-लोलाकार ने स्पष्ट कहा है कि तरगवती कथा देशी-वचनात्मक, बडी विशाल और विचित्र थी, जिसमे सुन्दर कुलको, कही गहन युगलो और कही दुर्गम षट्कलो का प्रयोग हुआ था। वह विद्वानो के ही योग्य थी, जनसाधारण उससे लाभ नही उठा सकते थे। अतएव उस रचना की गाथाओ को सक्षेपरूप से यहा प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उक्त कथा का लोप न हो। इस कथा मे तरग-वती नामकी एक साध्वी जब भिक्षा के लिये नगर मे गई तब एक सेठानी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर उसका जीवन-वृत्तान्त पूछा। साध्वी ने बतलाया कि जब वह युवती थी, तब एक चकवा पक्षी को देखकर उसे अपने पूर्व जन्म

वृत्तान्त ११ वे परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व हस्तनापुर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृत्तान्त, और अन्तत श्रीदत्ता से विवाह, और उसी घटनाचक्र के बीच विद्याधार चित्रवेग और रत्नमाला, तथा चित्रगति और प्रियगुमजरी के प्रेमाख्यान समाविष्ट हैं। प्राय समस्त रचना गाथा छद मे है, किन्तु यत्र-तत्र अन्य नाना छदो का प्रयोग भी हुआ है। कवि प्रतिभावान् है, और समस्त रचना बडे सरस और भावपूर्ण वर्णनो से भरी हुई है। प्राकृतिक दृश्यो, पुत्रजन्म व विवाहादि उत्सवो, प्रात व सध्या, तथा वन एव सरोवरो आदि के वर्णन बडे कलापूर्ण और रोचक है। नृत्यादि के वर्णनो मे हरिभद्र की समरादित्य कथा की छाप दिखाई देती है।

महेश्वर सूरि कृत 'णाणपचमीकहा' की रचना का समय ई० सन् १०४५ से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस रचना मे स्वतत्र १० कथाएँ समाविष्ट हैं, जिनके नाम हैं–(१) जयसेन, (२) नद, (३) भद्रा, (४) वीर, (५) कमल, (६) गुणानुराग, (७) विमल, (८) धरण, (९) देवी, और (१०) भविष्यदत्त। प्रथम और अन्तिम कथाएं कोई पांच-पाच सौ गाथाओ मे, और शेष कोई १२५ गाथाओ मे समाप्त हुई है। इस प्रकार समस्त गाथाओ की सख्या लगभग २००० है। दसो कथाएँ ज्ञानपचमी व्रत का माहात्म्य दिखलाने के लिये लिखी गई हैं। कथाएँ बडी सुन्दर, सरस और धारावाही रीति से वर्णित है। यथास्थान रसो और भावो एव लोकोक्तियो का भी अच्छा समावेश किया गया है, जिससे इस रचना को काव्य पद प्राप्त होता है।

हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित' आठ सर्गो मे समाप्त हुआ है। हेमचन्द्र का जन्म वि० स० ११४५ मे और स्वर्गवास स० १२२९ मे हुआ। अतएव इसी बीच प्रस्तुत काव्य का रचना-काल आता है। कुमारपाल हेमचन्द्र के समय गुजरात के चालुक्यवशी नरेश थे, और उन्ही के प्रोत्साहन से कवि ने अपनी अनेक रचनाओ का निर्माण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक बहुत बडी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपना एक महान शब्दानुशासन लिखा है, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत के एव अन्तिम अष्टम अध्याय मे प्राकृत के व्याकरण का सूत्रो द्वारा स्वय अपनी वृत्ति सहित निरूपण किया है। इसी व्याकरण के नियमो के उदाहरणो के लिये उन्होने द्वयाश्रय काव्य की रचना की है, जिसमे एक ओर कुमारपाल नरेश के वश का काव्य की रीति से वर्णन किया गया है, और साथ ही साथ अपने सम्पूर्ण व्याकरण के सूत्रो के उसी क्रम से उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे अट्ठाईस सर्ग है, जिनमे प्रथम २० सर्गो कुमारपाल के वश व पूर्वजो का इतिहास, और सस्कृत व्याकरण के उदाह-

के उन्माद से उन्होंने यह स्वीकार नही किया, और उसे अपना अन्तिम आख्यान सुनाने की चुनौती दी। खडपाना ने प्रसग मिलाकर कहा कि उसके जो वस्त्र हवा मे उड गये थे, व उसके चार नौकर भाग गये थे, आज उसकी पहचान मे आ गये। तुम चारो वे ही मेरे सेवक हो, और मेरे उन्ही वस्त्रो को पहने हुए हो। यदि यह सत्य है, तो मेरी चाकरी स्वीकार करो, और यदि यह असत्य है, तो सबको भोजन कराओ। तब सब धूर्तों ने उसे अपनी प्रधान नायिका स्वीकार कर लिया, और उसने स्वय सब धूर्तों को भोजन कराना स्वीकार कर लिया। फिर वह श्मशान मे गई और वहा से एक तत्काल मृतक बालक को लेकर नगर मे पहुँची। एक धनी सेठ से उसने सहायता मागी और उसे उत्तेजित कर दिया। उसके नौकरो द्वारा ताडित होने पर वह चिल्ला उठी कि मेरे पुत्र को तुम लोगो ने मार डाला। सेठ ने उसे धन देकर अपना पीछा छुडाया। उस धन से खडपाना ने सब धूर्तों को आहार कराया। यह रचना भारतीय साहित्य मे अपने ढग की अद्वितीय है, और पुराणो की अतिरजित घटनाओ की व्यग्यात्मक कडी आलोचना है। इसी के अनुकरण पर अपभ्र श मे हरिषेण और श्रुतकीर्ति कृत, तथा सस्कृत मे अमितगति कृत धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थो की रचना हुई। (प्रका० बम्बई, १९४४)।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य धनेश्वर सूरि कृत 'सुरसुन्दरी-चरिय' १६ परिच्छेदो मे, तथा ४००० गाथाओ मे समाप्त हुआ है। इसकी रचना चन्द्रावती नगरी में वि० स० १०९५ मे हुई थी। सुरसु दरी कुशाग्रपुर के राजा नरवाहनदत्त की पुत्री थी। वह पढलिखकर बडी विदुषी युवती हुई। बुद्धिला नामक परिव्राजिका ने उसे नास्तिकता का पाठ पढाना चाहा, किन्तु सुरसुन्दरी के तर्क से पराजित और रुष्ठ होकर उसने उज्जैन के राजा शत्रु जय को उसका चित्रपट दिखाकर उभाडा। शत्रु जय ने उसके पिता से विवाह की माग की, जो अस्वीकार कर दी गई। इस कारण दोनो राजाओ मे युद्ध छिडगया। इसी बीच वैताढ्य पर्वत के एक खेचर ने सुरसुन्दरी का अपहरण कर लिया, और उसे लेजाकर एक कदलीगृह मे रक्खा। सुरसुन्दरी ने आत्मघात की इच्छा से विषफल का भक्षण किया। दैवयोग से उसी बीच उसका सच्चे प्रेमी मकरकेतु ने वहा पहुच कर उसकी रक्षा की, तथा वहा से जाकर उसने शत्रु जय का भी वध किया। किन्तु एक वैरी विद्याधर ने स्वय उसका अपहरण कर लिया। बडी कठिनाईयो और नाना घटनाओ के पश्चात् सुरसुन्दरी और मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। दीर्घ काल तक राज्य भोगकर दोनो ने दीक्षा ली एव केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। यथार्थतः नायिका का नाम व

वृत्तान्त ११ वें परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। इसमें पूर्व हस्तिनापुर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृत्तान्त, और अज्ञात श्रीदत्ता से विवाह, और उसी रत्नशेखर के वीर विद्याधर वियोग और ... तथा निर्गति और प्रियगुमञ्जरी के घटनाजाल समाविष्ट हैं। प्राय समस्त रचना गाथा छंद में है किन्तु यत्र-तत्र अन्य नाना छंदों का प्रयोग भी हुआ है। कवि प्रतिभावान् है, और समस्त रचना बड़े सरस और भावपूर्ण वर्णनों से भरी हुई है। प्राकृतिक दृश्यों, पुत्र-जन्म व विवाहादि उत्सवों, प्रात व सध्या, तथा वन एवं नगरों आदि के वर्णन बड़े कलापूर्ण और रोचक हैं। नगरादि के वर्णनों में हरिभद्र की समरादित्य कथा की छाप दिखाई देती है।

महेश्वर सूरि कृत 'णाणपंचमीकहा' की रचना का समय ई० सन् १०१५ से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस रचना में स्वतत्र १० कथाएं समाविष्ट हैं, जिनके नाम हैं—(१) जयसेन, (२) नद, (३) भद्रा, (४) वीर, (५) कमल, (६) गुणानुराग, (७) विमल, (८) धरण, (९) देवी, और (१०) भविष्यदत्त। प्रथम और अन्तिम कथाएं कोई पांच-पांच सौ गाथाओं में, और शेष कोई १२५ गाथाओं में समाप्त हुई हैं। इस प्रकार समस्त गाथाओं की सख्या लगभग २००० है। इसी कथाएं ज्ञानपंचमी व्रत का माहात्म्य दिखलाने के लिये लिखी गई हैं। कथाएं बडी सुन्दर, सरस और धारावाही रीति से वर्णित हैं। यथा-स्थान रसों और भावों एवं लोकोक्तियों का भी अच्छा समावेश किया गया है, जिससे इस रचना को काव्य पद प्राप्त होता है।

हेमचन्द्र कृत 'कुमारपाल चरित' आठ सर्गों में समाप्त हुआ है। हेमचन्द्र का जन्म वि० स० ११४५ में और स्वर्गवास स० १२२९ में हुआ। अतएव इसी बीच प्रस्तुत काव्य का रचना-काल आता है। कुमारपाल हेमचन्द्र के समय गुजरात के चालुक्यवशी नरेश थे, और उन्ही के प्रोत्साहन से कवि ने अपनी अनेक रचनाओं का निर्माण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक बहुत बडी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपना एक महान शब्दानुशासन लिखा है, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत के एव अन्तिम अष्टम अध्याय मे प्राकृत के व्याकरण का सूत्रो द्वारा स्वय अपनी वृत्ति सहित निरूपण किया है। इसी व्याकरण के नियमो के उदाहरणो के लिये उन्होंने द्वयाश्रय काव्य की रचना की है, जिसमे एक ओर कुमारपाल नरेश के वश का काव्य की रीति से वर्णन किया गया है, और साथ ही साथ अपने सम्पूर्ण व्याकरण के सूत्रो के उसी क्रम से उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे अट्ठाईस सर्ग है, जिनमे प्रथम २० सर्गो मे कुमारपाल के वश व पूर्वजो का इतिहास, और सस्कृत व्याकरण के उदाह-

रण हैं। शेष ८ सर्गों मे राजा कुमारपाल का चरित्र, और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण है। यही भाग कुमारपाल-चरित के नामसे प्रसिद्ध है। इसके प्रथम ६ तथा सातवें सर्ग की ९२ वी गाथा तक प्राकृत व्याकरण के आदि से लेकर चौथे अध्याय के २५९ वें सूत्र तक प्राकृत सामान्य के उदाहरण आये हैं। फिर आठवें सर्ग की पाँचवी गाथा तक मागधी, ११ वी तक पैशाची, १३ वी तक चूलिका पैशाची, और तत्पश्चात् सर्ग के अन्तिम ८३ वें पद्य तक अपभ्रंश के उदाहरण दिये गये हैं। कथा की दृष्टि से प्रथम सर्ग मे अनहिलपुर व राजा कुमारपाल की प्रात क्रिया का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे राजा के व्यायाम, कुंजरारोहण, जिन-मंदिरगमन, पूजन व गृहागमन का वर्णन है। तीसरे सर्ग मे उद्यानक्रीडा का व चौथे मे ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। पाचवें मे वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओ का, छठवें मे चन्द्रोदय का, सातवें मे राजा के स्वप्न व परमार्थ-चिन्तन का, तथा अष्टम सर्ग मे सरस्वती देवी द्वारा उपदेश दिये जाने का वर्णन है। इस प्रकार काव्य मे कथाभाग प्राय नही के बराबर है, किन्तु उक्त विषयो का वर्णन विशद और सुविस्तृत है। काव्य और व्याकरण की उक्त आवश्यकताओ की एक साथ पूर्ति बडा दुष्कर कार्य है। इस कठिन कार्य मे कुछ कृत्रिमता और बोझलपन आ जाना भी अनिवार्य है; और इसे हेमचन्द्र ने अपनी इस कृति मे बडी कुशलता से निबाहा है। इसकी उपमा सस्कृत साहित्य मे एक भट्टीकाव्य मे पाई जाती है, जिसमे कथा के साथ पाणिनीय व्याकरण के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु उसमे वह पूर्णता और क्रम-बद्धता नही है जो हमे हेमचन्द्र की कृति मे मिलती है। (प्रका० पूना, १९३६)

प्राकृत मे एक और कुमारपाल-चरित पृथ्वीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिश्चन्द्र कृत भी पाया जाता है, जो ९५४ श्लोक प्रमाण है।

वीरदेव गणि कृत 'महीवाल कहा' लगातार १८०० गाथाओ मे पूर्ण हुई है। अन्त मे कवि ने अपना इतना परिचय मात्र दिया है कि वे चन्द्र गच्छ के देवभद्र सूरि, उनके शिष्य सिद्धसेन सूरि, उनके शिष्य मुनिचन्द्र सूरि के शिष्य थे। उन्होने अपने को पडिततिलक उपाधि से विभूषित किया है। इस आचार्य-परम्परा का पूरा परिचय तो कही मिलता नही, तथापि एक प्रतिमा-लेख मे देवभद्र सूरि के शिष्य सिंहसेन सूरि का उल्लेख आता है, जिसमे स० १२१३ का उल्लेख है (पट्टा० समु० पृ० २०५)। सम्भव है सिंहसेन और सिद्धसेन के पढने मे भ्राति हुई हो और वे एक ही व्यक्ति के नाम हो। इस आधार पर प्रस्तुत रचना का काल ई० १२ वी शती अनुमान किया जा सकता है। इसी ग्रन्थ का सस्कृत रूपान्तर चरित्र सुन्दर कृत सस्कृत 'महीपाल-चरित्र' मे मिलता है, जिसका रचनाकाल १५ वी शती का मध्य भाग अनुमान किया जाता है।

उज्जैनी के राजा नरसिंह ने अपने ज्ञानी और विनोदी मित्र महीपाल को देश से इस कारण निर्वासित कर दिया कि वह अपना पूरा समय राजा की सेवा मे न विताकर, कुछ काल के लिये कलाओ की उपासना के हेतु अन्यत्र चला जाता था। निर्वासित महीपाल ने नाना द्वीपो व नगरो का परिभ्रमण किया, अपने कोशल, विज्ञान व चातुर्य से नाना राजाओ व सेठो को प्रसन्न कर बहुत सा धन प्राप्त किया व अनेक विवाह किये। लौटकर आने पर पुन वह राजा का कृपा-पात्र बना, और अन्त मे दोनो ने मुनि-उपदेश सुनकर वैराग्य धारण किया। सम्पूर्ण कथा गाथा छद मे वर्णित है, और महीपाल के कला व चातुर्य के उपाख्यानो से भरपूर है। कथा-प्रसग कही बहुत नही टूटने पाया। भाषा सरल, धारावाही है। सरल अलकारो व सूक्तियो का समुचित प्रयोग दिखाई देता है। (प्रका० अमदाबाद, वि० स० १९९८)

देवेन्द्रसूरि कृत 'सुदसणाचरिय' का दूसरा नाम 'शकुनिका-विहार' भी है। कर्ता ने अपने विषय मे कहा है कि वे चित्रापालक गच्छ के भुवनचन्द्र गुरु, उनके शिष्य देवभद्र मुनि, उनके शिष्य जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। उनके एक गुरु-भ्राता विजयचन्द्र सूरि भी थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उक्त देवभद्र आदि मुनि वस्तुपाल मत्री के सम-सामयिक थे, एव वि० स० १३२३ मे देवभद्र सूरि ने विद्यानद को सूरि पद प्रदान किया था। अतएव इसी वर्ष के लगभग प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल सिद्ध है। ग्रन्थ १६ उद्देशो मे समाप्त हुआ है, जिनमे स्वय ग्रन्थकार के अनुसार समस्त गाथाओ की सख्या ४००२ है, और धनपाल, सुदर्शन, विजयकुमार, शीलवती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री, ये ८ अधिकार हैं। सुदर्शना सिंहलद्वीप मे श्रीपुर नगर के राजा चन्द्रगुप्त और रानी चन्द्रलेखा की पुत्री थी। पढ लिखकर वह बडी विदुषी और कलावती निकली। एकवार उसने राजसभा मे ज्ञाननिधि पुरोहित के मत का खडन किया। धर्मभावना से प्रेरित हो वह भृगुकच्छ की यात्रा पर आई, और यहाँ उसने मुनिसुव्रत तीर्थंकर का मदिर तथा शकुनिका विहार नामक जिनालय निर्माण कराये, और अपना शेष जीवन धर्म ध्यान मे व्यतीत किया। सुदर्शना का यह चरित्र हिरण्यपुर के सेठ धनपाल ने रैवतक गिरि की वन्दना से लौटकर अपनी पत्नी धनश्री को सुनाया था, जैसा कि उसने रैवतक गिरि मे ऐक किन्नरी के मुख से सुना था। कथा मे प्रसगवश उक्त पुरुष—स्त्रियो तथा नाना अन्य घटनाओ के रोचक वृतान्त समाविष्ट है। दसवें उद्देश मे ज्ञान व चरित्र के उदाहरण रूप मरुदेवी का तथा उनके पुत्र ऋषभप्रभु का चरित्र वर्णित है। उसी प्रकार नाना धार्मिक नियमो और उनके आदर्श दृष्टान्तो के वर्णन कथा के बीच गुथे हुए है। यत्र-तत्र कवि ने अपना रचना-चातुर्य भी प्रदर्शित किया है। १

उद्देश मे धनपाल ने नेमीश्वर की स्तुति पहले सस्कृत गद्य मे की है जो समास प्रचुर है, और फिर एक ऐसे अष्टक स्तोत्र द्वारा जिसके प्रत्येक पद्य का एक चरण सस्कृत मे, और दूसरा चरण प्राकृत मे रचा गया है। शिक्षात्मक उक्तियो व उपमाओ से तो समस्त रचना भरी हुई है। (प्रका० अमदावाद, वि० स० १९८९)।

देवेन्द्रसूरि कृत कृष्णचरित्र ११६३ गाथाओ मे पूर्ण हुआ है। यथार्थत. यह रचना कर्ता के श्राद्धदिनकृत्य नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत दृष्टान्त रूप से आई है; और वही से उद्धृत कर स्वतन्त्र रूप मे प्रकाशित की गई है। (रतनपुर, मालवा, १९३८)। इसमे वसुदेव के पूर्वभवो के वर्णन से प्रारम्भ कर क्रमश· वसुदेव के जन्म, भ्रमण, कृष्णजन्म, कस-वध, द्वारिका-निर्माण, प्रद्युम्न-हरण, पाडव और द्रौपदी, जरासध-युद्ध, नेमिनाथ-चरित्र, द्रौपदी-हरण, द्वारिका-दाह, वलदेव-दीक्षा, नेमिनिर्वाण और कृष्ण के भावी तीर्थंकरत्व का वर्णन किया गया है। वसुदेव-भ्रमण के वृत्तान्त मे प्रसगवश चारुदत्त और वसन्तसेना का उल्लेख भी आया है। समस्त कथा का आधार वसुदेव हिंडी एव जिनसेन कृत हरिवंश-पुराण है। रचना आद्यन्त कथा-प्रधान है।

रत्नशेखर सूरि कृत श्रीपालचरित्र मे १३४२ गाथाए है। ग्रन्थ के अन्त मे कहा गया है कि इसका सकलन वज्रसेन गणधर के पट्ट शिष्य, व प्रभु हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया, और उनके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने वि० स० १४२८ मे इसको लिपिबद्ध किया। यह कथा सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखी गई है। उज्जैनी की राजकुमारी मदनसुन्दरी ने अपने पिता की दी हुई समस्या की पूर्ति मे अपना यह भाव प्रकट किया कि प्रत्येक को अपने पुण्य-पाप के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त होता है, इसमे दूसरे व्यक्तियो का कोई हाथ नही। पिता ने इसे पुत्री का अपने प्रति कृतघ्नता-भाव समझा, और क्रुद्ध होकर उसका विवाह श्रीपाल नामक कुष्टरोगी से कर दिया। मदन-सुन्दरी ने अपनी पति-भक्ति तथा सिद्ध-चक्र पूजा के प्रभाव से उसे अच्छा कर लिया, और श्रीपाल ने नाना देशो का भ्रमण किया, तथा खूब धन और यश कमाया। ग्रन्थ के बीच-बीच मे अनेक अपभ्रंश पद्य भी आये है, व नाना गद्य छदो मे स्तुतिया निबद्ध है। रचना आदि से अत तक रोचक है।

जिनमाणक्य कृत कुम्मापुत्त-चरिय छोटी सी कथा है जो १८५ गाथाओ मे पूर्ण हुई है। कवि ने अपने गुरु का नाम हेमविमल प्रगट किया है। अतएव तपा-गच्छ पट्टावली के अनुसार वे १६ वी सदी मे हुए पाये जाते है। महावीर तीर्थंकर ने अपने उपदेश मे दान, तप, शील, और भावना, इन चार धर्म के

भेदो मे भावना धर्म का आदर्श उदाहरणकुम्मापुत्त का दिया, तथा इन्द्रभूति के पूछने पर उसका वृत्तान्त सुनाया। पूर्व जन्म मे वह दुर्लभ नाम का राजपुत्र था, जिसे एक यक्षिणी अपने पूर्व जन्म का पति पहचान कर पाताल लोक मे ले गई। वह अपनी अल्पायु समझकर दुर्लभ धर्मध्यान मे लग गया, और दूसरे जन्म मे राजगृह का राजकुमार हुआ। शास्त्र-श्रवण द्वारा उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया, और वह ससार से विरक्त हो गया। तथापि माता-पिता को शोक न हो, इस विचार से प्रवृजित न होकर घर मे ही रहा, और भावकेवली होकर मोक्ष गया। पूर्वभव-वर्णन मे मनुष्य जीवन की चिन्तामणि के समान दुर्लभता के उदाहरण रूप एक आख्यान कहा गया है, जिसमे एक रत्नपरीक्षक पुरुष ने चिन्तामणि पाकर भी अपनी असावधानी से उसे समुद्र मे खो दिया। रचना सरल और सुन्दर है। (प्रका० पूना, ५६३०)।

इन प्रकाशित पद्यात्मक प्राकृत कथाओ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रचनाए जैन शास्त्र भडारो की सूचियो मे उल्लिखित पाई जाती है, जिनमे जिनेश्वर सूरि कृत निर्वाण लीलावती का उल्लेख हमे अनेक ग्र थो मे मिलता है। विशेषत धनेश्वर कृत 'सुरसुन्दरी चरिय' (वि० स० १०६५) मे उसे अति सुललित, प्रसन्न, श्लेषात्मक व विविधालकार-शोभित कहा गया है। दुर्भाग्यत इस ग्र थ की प्रतिया दुर्लभ हो गई है, किन्तु उसका सस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर ६००० श्लोको मे जिनरत्न (१३ वी शती) कृत पाया जाता है, जबकि मूल ग्रन्थ के १८००० श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है।

प्राकृत कथाएं-गद्य-पद्यात्मक—

जैन कथा-साहित्य अपनी उत्कृष्ट सीमा पर उन रचनाओ मे दिखाई देता है। जो मुख्यत. गद्य मे, व गद्य-पद्य मिश्रित रूप मे लिखी गई हैं, अतएव जिन्हे हम चम्पू कह सकते हैं। इनमे प्राचीनतम ग्रन्थ है वसुदेव हिंडी, जो सौ लम्बको मे पूर्ण हुआ है। ये लम्बक दो भागो मे विभक्त हैं। प्रथम खण्ड मे २६ लम्बक हैं, और वह लगभग ११००० श्लोक-प्रमाण है। इसकेकर्ता सघदासगणि वाचक हैं। दूसरे खण्ड मे ७१ लम्बक १७००० श्लोक प्रमाण है और इसके कर्ता धर्मसेन गणि है। ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित नही है, तथापि जिनभद्रगणि ने अपनी विशेषणवती मे इसका उल्लेख किया है, जिससे इसका रचना-काल छठवी शती से पूर्व सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ का अभी तक केवल प्रथम खण्ड ही प्रकाश मे आया है। इसमे भी १६ और २० वें लम्बक अनुपलब्ध हैं तथा २८ वां अपूर्ण पाया जाता है। अधकवृष्णि के पुत्रो मे जेठे समुद्र विजय और सबसे

छोटे वसुदेव थे। समुद्र विजय के राजा होने पर वसुदेव नगर मे घूमा करते थे, किन्तु इनके अतिशय रूप व कला-प्रावीण्य के कारण नगर में अनर्थ होते देख, राजा ने इनका बाहर जाना रोक दिया। इस पर वसुदेव गुप्त रूप से घर से निकलकर देश-विदेश भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण मे उन्हे नाना प्रकार के कष्ट भी हुए व अनेक लोमहर्षक घटनाओ का सामना करना पडा, जिनके वैचित्र्य के वर्णन से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है। प्रसगवश इसमें महाभारत, रामायण एव अन्य विविध आख्यान आये है। यह ग्र थ लुप्त वृहत्कथा के आधार व आदर्श पर रचित अनुमान किया जाता है। भाषा, साहित्य, इतिहास आदि अनेक दृष्टियो से यह रचना बडी महत्वपूर्ण है।

हरिभद्र कृत समरादित्य-कथा (८ वी शती) में ९ 'भव' नामक प्रकरण हैं, जिनमें क्रमश परस्पर विरोधी दो पुरुषो के साथ साथ चलने वाले ९ जन्मातरों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की उत्थानिका में मगलाचरण के पश्चात् कथावस्तु को दिव्य, दिव्य-मानुष के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है। कथा वस्तु चार प्रकार की कथाओ द्वारा प्रस्तावित की जा सकती है-अर्थ, काम, धर्म और सकीर्ण; जिनके अधम, मध्यम और उत्तम, ये तीन प्रकार के श्रोता होते हैं। ग्रन्थकर्ता ने प्रस्तुत रचना को दिव्य-मानुप वस्तुगत धर्म-कथा कहा है, और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आठ चरित्र-सग्रहणी गाथाए उद्धृत की हैं, जिनमें नायक-प्रतिनायक के नौ भवातरो के नाम, उनका परस्पर सम्बन्ध, उनकी निवास-नगरिया एव उनके मरण के पश्चात् प्राप्त स्वर्ग-नरको के नाम दिये गये हैं। अन्तिम भव में नायक समरादित्य मोक्षगामी हुआ और प्रतिनायक गिरिसेन अनन्त ससार-भ्रमण का भागी। प्रथम भव में ही इनके परस्पर वैर उत्पन्न होने का कारण यह बतलाया गया है कि राजपुत्र गुणसेन पुरोहित-पुत्र ब्राह्मण अग्नि-शर्मा की कुरूपता की हसी उडाया करता था, जिससे विरक्त होकर अग्नि शर्मा ने दीक्षा ले ली, और मासोपवास सयम का पालन किया। गुणसेन राजा ने तीन बार उसे आहार के लिये आमन्त्रित किया, किन्तु तीनो वार विशेष कारणो से मुनि को बिना आहार लौटना पडा, जिससे क्रुद्ध होकर उसने मन में यह ठान लिया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं जन्म-जन्मान्तर में इस राजा को क्लेश दू। इसी निदान-बध के कारण उसकी उत्तरोत्तर अधोगति हुई, जब तक कि अन्त में उसे सम्बोधन नही हो गया। इन नौ ही भवो का वर्णन प्रतिभाशाली लेखक ने बडी उत्तम रीति से किया है, जिसमें कथा-प्रसंगों, प्राकृतिक वर्णनो व भाव-चित्रण द्वारा कथानक को श्रेष्ठ रचना का पद पाप्त हुआ है।

उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला की रचना ग्रन्थ के उल्लेखानुसार ही शक सं० ७००(ई० सन् ७७८) में जाबालिपुर (जालोर-राजस्थान) में हुई थी। लेखक ने अपना विरुद दाक्षिण्यचिह्न भी प्रगट किया है। चरित-नायिका कुवलयमाला के वैचित्र्यपूर्ण जीवनचरित्र में गुम्फित नाना प्रकार के उपाख्यान, घटनाएं, सामाजिक व वैयक्तिक चित्रण, इस कृति की अपनी विशेषताएं हैं, जिनकी सम-तोल अन्यत्र पाना कठिन है। प्राकृत भाषा के नाना देशी रूप व शैलियों के प्रचुर उदाहरण इस ग्रन्थ में मिलते हैं। लेखक का ध्येय अपनी कथाओं द्वारा क्रोधादि कषायों व दुर्भावनाओं के दुष्परिणाम चित्रित करना है। घटना-वैचित्र्य व उपाख्यानों की प्रचुरता में यह वसुदेव-हिंडी के समान है। यथास्थान अपनी प्रौढ शैली में वह सुबंधु और बाण की संस्कृत रचनाओं से समता रखती है। समरादित्य कथा का भी रचना में बहुत प्रभाव दिखाई देता है। स्वयं कर्ता ने हरिभद्र को अपना सिद्धान्त व न्याय का गुरु माना है, तथा उनकी समराइच्चकहा (समरादित्य) कथा का भी उल्लेख किया है।

देवेन्द्रगणि कृत रयणचूडरायचरिय में कर्ता ने अपनी गुरु-परम्परा देवसूरि से लेकर उद्योतन सूरि द्वि० तक बतलाई है, और फिर कहा कि वे स्वयं उद्योतन सूरि के शिष्य उपाध्याय अम्बदेव के शिष्य थे जिनका नाम नेमिचन्द्र भी था। उन्होंने यह रचना डिंडिल पदनिवेश में प्रारम्भ की थी, और चड्डावलि पुरी में समाप्त की थी। नेमिचन्द्र अपर नाम देवेन्द्र गणि, ने अपनी उत्तराध्ययन टीका वि० सं० ११२९ में तथा महावीर-चरिय वि० ११४० में लिखे थे। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इसी समय के लगभग की सिद्ध होती है। कथा में राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में गौतम गणधर ने कंचनपुर के बकुल नामक माला-कार के ऋषभ भगवान को पुष्प चढाने के फलस्वरूप गजपुर में कमलसेन राजा के पुत्र रत्नचूड की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनाया। रत्नचूड ने एक मदोन्मत्त गज का दमन किया, किन्तु वह एक विद्याधर निकला, और राजकुमार का अपहरण कर ले गया। रत्नचूड ने नाना प्रदेशों का भ्रमण किया, विचित्र अनु-भव प्राप्त किये, अनेक सुन्दरियों से विवाह किया, और ऋद्धि प्राप्त की, जिसका वर्णन बड़ा रोचक है। अन्त में वे राजधानी में लौट आये, और मुनि का उप-देश पाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए मरणोपरान्त स्वर्गगामी हुए। कथा में अनेक उपाख्यानों का समावेश है। यह कथा 'नायाधम्मकहा' में सूचित देव-पूजा आदि के धर्मफल के दृष्टान्त रूप रची गई है। (प्रका० अमदाबाद, १९४२)

कालकाचार्य की कथा सबसे प्राचीन निशीथचूर्णि, आवश्यक चूर्णि बृहत्कल्प भाष्य आदि अर्द्धमागधी आगम की टीकाओं में पाई जाती है। इस पर स्वतंत्र

रचनाए भी बहुत लिखी गई हैं। जैन ग्रन्थावलि मे प्राकृत मे विनयचन्द्र, भावदेव जयानदि सूरि, धर्मप्रभ देवकल्लोल व महेश्वर, तथा सस्कृत मे कीर्तिचन्द्र और समयसुन्दर कृत कालकाचार्य कथाओं का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन सबमे प्राचीन, और साहित्यिक दृष्टि से अधिक सुन्दर कृति देवेन्द्रसूरि कृत कथानक-प्रकरण-वृत्ति मे समाविष्ट पाई जाती है। इसका रचना काल वि० स० ११४६ है। कालक एक राजपुत्र थे, किन्तु गुणाकर मुनि के उपदेश से वे मुनि हो गये। उनकी छोटी बहन सरस्वती भी आर्यिका हो गई। उस पर उज्जैनी का राजा गर्दभिल्ल मोहित हो गया, और उसने उसे पकडवाकर अपने अन्त पुर मे रक्खा। राजा को समझाकर अपनी बहन को छुडाने के प्रयत्न मे असफल होकर कालकाचार्य शक देश को गये, और गर्दभिल्ल को पकडकर देश से निर्वासित कर दिया गया। कालकाचार्य ने सरस्वती को पुन सयम मे दीक्षित कर लिया। उज्जैन मे एक राजवश स्थापित हो गया, जिसका उच्छेद राजा विक्रमादित्य ने करके अपना सवत् चलाया। कथा मे आगे चलकर कालकाचार्य ने भरुकच्छ ओर वहाँ से प्रतिष्ठान की ओर विहार करने का वृतान्त है। उनकी राजा सातवाहन से भेट हुई, और उनके अनुरोध से उन्होने भाद्रपद शुक्ला ४ से पर्युषण मनाये जाने की अनुमति प्रदान कर दी, क्योकि भाद्रपद शुक्ला ५ को इन्द्रमहोत्सव मनाया जाता था। अपने शिष्यो का सम्बोधन करते हुए अन्त मे का लकाचार्य ने सलेखना विधि से स्वर्गवास प्राप्त किया। इस कथा मे शको के आक्रमण और तत्पश्चात् उनके विक्रमादित्य द्वारा मूलोच्छेदन के वृतान्त मे बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है। (प्रका० अमदावाद, १९४९)

सुमतिसूरि कृत जिनदत्ताख्यान मे कर्ता ने अपना इतना ही परिचय दिया कि पाडिच्छय गच्छ के कल्पद्रुम श्री नेमिचन्द्र सूरि हुए जिन्हे श्री सर्वदेव सूरि ने उतम पद पर स्थापित किया उनके शिष्य सुमति गणि ने यह जिनदत महर्षि चरित्र रचा। ग्रन्थ का रचना काल निश्चिइ नही है, तथापि एक प्राचीन प्रति मे उसके अनहिलपाटन मे स० १२४६ मे लिखाये जाने का उल्लेख है, जिससे ग्रन्थ की रचना उससे पूर्व होनी निश्चित है। कथानायक सेठ द्यूतक्रीडा मे अपना सब धन खोकर विदेश यात्रा को निकल पडा। दधिपुर मे राजकन्या श्रीमती को व्याधि-मुक्त करके उससे विवाह किया। समुद्र यात्रा मे उसे एक अन्य व्यापारी ने समुद्र मे गिरा दिया, और वह एक फलक के सहारे तट पर पहुँचा। वहा से रथनूपुर चक्रवाल मे पहुचकर वहाँ की राज-कन्या से विवाह किया। अन्त मे वह पुन चम्पानगर को लौट आया, और वहा

की राजकन्या रतिसुन्दरी से भी विवाह किया। तत्पश्चात् अनेक सुख भोगकर उसने दीक्षा धारण कर ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया। गद्य और पद्य दोनों में भाषा सुपरिमार्जित पाई जाती है, और यत्र तत्र काव्य गुण भी दिखाई देते हैं।

एक और जिनदत्ताख्यान नामक रचना पूर्वोक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित हुई है (बम्बई, १९५३), जिसमें कर्ता का नाम नहीं मिलता। कथानक पूर्वोक्त प्रकार ही है, किन्तु उसकी अपेक्षा कुछ संक्षिप्त है। पूर्वोक्त कृति से यह प्राचीन हो, तो आश्चर्य नहीं। इसमें जिनदत्त का पूर्वभव अन्त में वर्णित है, प्रारम्भ में नहीं। इसकी हस्तलिखित प्रति में उसके चित्रकूट में मणिभद्र यति द्वारा सं० ११८६ में लिखे जाने का उल्लेख है।

रयणसेहरीकहा के कर्ता जिनहर्षगणि ने स्वयं कहा है कि वे जयचन्द्र मुनि के शिष्य थे, और उन्होंने यह कथा चित्रकूट नगर में लिखी। ग्रन्थ की पाटन भंडार की हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१२ की है, अतएव रचना उससे पूर्व की होनी निश्चित है। यह कथा सांवत्सरिक, चातुर्मासिक एवं चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्वानुष्ठान के दृष्टान्त रूप लिखी गई है। रत्नपुर का राजा किन्नरों से रत्नावती के रूप की प्रशंसा सुनकर उसपर मोहित हो गया। इस सुन्दरी का पता लगाने उनका मंत्री निकला। एक सघन वन में पहुंचकर उसकी एक यक्ष-कन्या से भेंट हुई, जिसके निर्देश से वह एक जलते हुए धूपकड में कूदकर पाताल में पहुंचा और उस यक्ष-कन्या को विवाहा। यक्ष ने रत्नावली का पता बतलाया कि वह सिंहल के राजा जयसिंह की कन्या है। यक्ष ने उसे अपने विद्याबल से सिंहल में पहुंचा भी दिया। वहां वह योगिनी के वेष में रत्नावली से मिला। रत्नावली ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब उसे अपना पूर्व मृग-जन्म का पति मिलेगा, तभी वह उससे विवाह करेगी। योगिनी ने भविष्य का विचार कर बतला दिया कि उसका वही पति उसे शीघ्र ही कामदेव के मंदिर में द्यूतक्रीडा करता हुआ मिलेगा। इस प्रकार रत्नावली को तैयार कर वह उसी यक्ष-विद्या द्वारा अपने राजा के पास पहुंचा, और उसे साथ लाकर कामदेव के मंदिर में सिंहल राजकन्या से उसकी भेंट करा दी। दोनों में विवाह हो गया। एक बार जब वे दोनों गीत काव्य कथादि विनोद में आसक्त थे, तब एक सूआ राजा के हाथ पर आ बैठा, और एक शुकी रानी के हाथ पर। सूए की वाणी से राजा ने जान लिया कि वह कोई विशेष धार्मिक प्राणी है। विद्वत्तापूर्ण वार्तालाप करते हुए शुक और शुकी दोनों मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। एक महाज्ञानी मुनि ने राजा को बतलाया कि वे उसके पूर्व पुरुष थे, जो अपना व्रत खंडित करने के पाप से पक्षियोनि उत्पन्न हुए थे। उस पाप

से मुक्त होकर अब वे धरणेन्द्र और पद्मावती रूप देव-देवी हुए हैं। राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावली धर्मपालन मे उत्तरोत्तर दृढ होते हुये अन्त मे मरकर स्वर्ग मे देव-देवी हुए।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है। यहा नायक रत्नशेखर है, तो वहा रतनसेन, नायिका दोनो मे सिंहल की राजकुमारी है, परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है। यहा मत्री जोगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहा स्वय नायक ही जोगी बनता है। दोनो मे मिलने का स्थान देवालय है। तोता भी दोनो कथाओ मे आता है, यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है। रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड) के थे, और जायसी के नायक ही चित्तौड के राजा थे। रत्नशेखरी मे राजा द्वारा कलिंगराज को जीतने का उल्लेख है, पद्मावत मे कलिंग से जोगियो का जहाज रवाना होता है। दोनो कथानको का रूपक व रहस्यात्मक भाग बहुत कुछ मिलता है। पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय मे होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही हैं, क्योकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० मे प्रारम्भ हुआ था।

जम्बूसामिचरित्त उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रो से अपनी विशेषता रखता है, क्योकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत मे उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमो की, यहा तक कि वर्णन के सक्षेप के लिये यहा भी तदनुसार ही 'जाव', 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस पर से यह रचना वलभी वाचना काल (५वी शती) के आसपास की प्रतीत होती है, जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' मे भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २००४)। किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा में यह कहा गया है कि इसे विजयदया सूरिश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० स० १७८५ से १८०९ के बीच अनुमान किया गया है, क्योकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ वें गुरु विजयादया सूरि का वही समय है। किन्तु सभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो, ग्रन्थ रचना का नही, विशेपत. जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका में पुन अलग से उसके लिखे जाने का काल स० १८१४ निर्दिष्ट है। यदि आगे खोजशोध द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियो के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८ वी शती में आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे, और उनके

निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे। जैन आगम की परम्परा मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि उपलभ्य द्वादशाग का बहुभाग सुधर्म स्वामी द्वारा उन्ही को उपदिष्ट किया गया है। प्रस्तुत रचनानुसार जम्बू का जन्म राजगृह मे हुआ था। उनकी वैराग्य-वृति को रोकने के लिये अनके आठ विवाह किये गये, तथापि उनकी धार्मिक प्रवृति रुकी नही, बढती ही गई। उन्होने अपनी पत्नियो का सबोधन कर, और उनकी समस्त तर्को व युक्तियो का खडन कर दीक्षा ले ली, यहा तक कि जो प्रभव नामक बडा डाकू उनके घर मे चोरी के लिये घुसा था, वह भी चुपचाप उनका उपदेश सुनकर ससार से विरक्त हो गया।

एक और जम्बूचरिय महाराष्ट्री प्राकृत मे है, जो अभी तक प्रकाशित नही हुआ। इसके कर्ता नाइलगच्छीय गुणपाल है, जो सभवत वे ही हैं जिनके प्राकृत ऋषिदत्ता चरित्र का उल्लेख जैनग्रन्थावली मे पाया जाता है, और उसका रचना काल वि० स० १२६४ अकित किया गया है। यह जम्बूचरित्र सोलह उद्देशो मे पूर्ण हुआ है। मुख्य कथा व अवान्तर कथाए भी प्राय वे ही हैं जो पूर्वोक्त कृति मे भी अपेक्षाकृत सक्षेप रूप मे पाई जाती है। पद्मसुन्दर कृत जम्बूचरित अकबर के काल मे स० १६३२ मे रचा गया मिला है।

गुणचन्द्र सूरि कृत णरविक्कमचरिय यथार्थत ग्रन्थकार की पूर्वोक्त रचना 'महावीरचरिय' मे से उद्धत कर पृथक् रूप से सस्कृत छाया सहित प्रकाशित हुआ है (नेमि विज्ञान ग्र० मा० २० वि०स० २००८)। छत्ता नगरी के जित-शत्रु राजा के पुत्र नन्दन को उपदेश देते हुए पोट्टिल स्थाविर ने विषयासक्ति मे धर्मोपदेश द्वारा प्रवृज्या धारण करने वाले राजा नरसिंह और उसके पुत्र नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णन किया। कथा के गद्य और पद्य दोनो भाग रचना की दृष्टि से प्रौढ और काव्य गुणो से युक्त है।

इनके अतिरिक्त इसी तकार की अन्य अनेक प्राकृत रचाये उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नही हुई। इनमे से कुछ के नाम इस तकार हैं—विजयसिंह कृत भुवनसुन्दरी (१०वी शती), वर्धमान कृत मनोरमाचरिय (११वी शती), ऋषिदत्ता चरित (१३वी शती) प्रद्युम्नचरित, मलयसुन्दरी कथा, नर्मदासुन्दरी कथा, धन्यसुन्दरी कथा, और नरदेव कथा। (देखिये जैन ग्रन्थावली)

प्राकृत कथाकोष—

धर्मोपदेश के निमित लघु कथाओ का उपदेश श्रमण-परम्परा मे बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। द्वादशाग आगम के णायाधम्मकहाओ मे

इसका एक रूप यह देखा जाता है कि एकाध गाथा मे कोई उपदेशात्मक बात कही, और उसके साथ ही उसके दृष्टान्त रूप उस नियम को अपने जीवन मे चरितार्थ करने वाले व्यक्ति के जीवन का वृत्तान्त गद्य या पद्य मे विस्तार से कह दिया। यही प्रणाली पालि की जातक कथाओ मे भी पाई जाती है। सस्कृत के हितोपदेश, पचतन्त्रादि प्राचीन लघुकथात्मक ग्रन्थो की भी यही शैली है।

आगमो के पश्चात् इस शैली की स्वतत्र प्राकृत रचना धर्मदास गणी कृत **उपदेशमाला प्रकरण** पाई जाती है। इसमे ५४४ गाथाए हैं। जिनमे विनय, शील, व्रत, सयम, दया, ज्ञान, ध्यानादि विषयक सैकडो पुरुष-स्त्रियो के दृष्टान्त दिये गये हैं, व उनके चरित्र विस्तार से टीकाओ मे लिखे गये है। टीकाए १० वी शती से लेकर १८ वी शती तक अनेक लिखी गई हैं, और वे जैन लघु कथाओ के भडार हैं। कुछ टीकाकारो के नाम है—जयसिंह और सिद्धर्षि (१० वी शती), जिनभद्र और रत्नप्रभ (१२वी शती) उदयप्रभ (१३वी शती), अभयचन्द्र (१५वी शती), जयशेखर, रामविजय, सर्वानन्द, धर्मनन्दन आदि। मूल गाथाओ का रचनाकाल निश्चित नहीं; किन्तु उनका मुनि समाज मे इतना आदर और प्रचार है कि उनके कर्ता तीर्थंकर महावीर के समसामयिक माने जाते हैं। तथापि गाथाओ की भाषा पर से वे ५ वी ६ वी शती से अधिक पूर्वकी प्रतीत नही होती। मूल कर्ता और उसके टीकाकारो के सन्मुख बौद्ध धम्मपद और उसकी बुद्धघोष कृत टीका का आदर्श रहा प्रतीत होता है, जिनमे क्रमश ४२५ गाथाए और ३१० कथानक पाये जाते हैं।

इसी शैली पर ८ वी शती मे हरिभद्र ने अपने **उपदेशपद** लिखे, जिनकी गाथा सख्या १०४० है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि की सुखबोधनी टीका (१२ वी शती) और वर्धमान कृत वृत्ति (१३ वी शती) पाई जाती है।

कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंह ने वि० स० ९१५ मे धर्मदास की कृति के अनुकरण पर ९८ गाथाए लिखी, और उनपर स्वय विवरण भी लिखा। उनकी पूरी रचना **धर्मोपदेश-माला-विवरण** के नाम से प्रकाशित है (बम्बई, १९४९)। इसमे १५६ कथाए समाविष्ट हैं, जिनमे शील, दान, आदि सद्गुणो का माहात्म्य तथा राग-द्वेषादि दुर्भावो के दुष्परिणाम से लेकर चोर, जुवाडी, शराबी तक सभी स्तरो के व्यक्ति हैं, जिनसे समाज का अच्छा चित्रण सामने आता है। प्राकृतिक भावात्मक व रसात्मक वर्णन भी सुन्दर और साहित्यिक हैं।

जयसिंह सूरि के शिष्य जयकीर्तिकृत **शीलोपदेश-माला** भी इसी प्रकार की ११६ गाथाओ की रचना है, जिसपर सोमतिलक कृत टीका (१४वी शती) पाई

जाती है। जिनेश्वर सूरि कृत कथाकोष–प्रकरण (वि० स० ११०८) मे ३० गाथाओ के आधार से लगभग ४० कथाएँ वर्णित है, जिनमे सरल भाषा द्वारा जिनपूजा, सुपात्रदान आदि के सुफल बतलाये गये है, और साथ ही राजनीति समाज आदि का चित्रण भी किया गया है। जिनेश्वर कृत ६० गाथात्मक उपदेशरत्नकोष और उस पर २५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति देवभद्रकृत भी मिलती है। देवेन्द्रगणिकृत आख्यान मणिकोष (११ वी शती), मलधारी हेमचन्द्र कृत भवभावना और उपदेशमाला प्रकरण (१२ वी शती) लघु कथाओ के इसी प्रकार के सग्रह है। सोमप्रभकृत कुमारपाल-प्रतिबोध (वि० स० १२४१) मे प्राकृत के अतिरिक्त कुछ आख्यान सस्कृत व अपभ्रश मे भी रचे गये है। इसमे कुल पाच प्रस्ताव है, जिनके द्वारा ग्रन्थकार के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को जैन धर्मावलम्बी बनाया। पाचो प्रस्तावो मे सब मिलाकर ५४ कथानक है, जो बहुत सुन्दर और साहित्यिक है। मानतुग सूरि कृत जयन्ती-प्रकरण की रचना भगवती सूत्र के १२ वे शतक के दूसरे उद्देश के आधार से हुई हैं। तदनुसार श्रमणोपासिका जयन्ती कौशाम्बी के राजा शतानीक की बहिन थी। उसने तीर्थंकर महावीर से धर्मसम्बन्धी नाना प्रश्न किये थे। इसी आधार पर कर्ता ने २८ गाथाये रची है, और उनके शिष्य मलयप्रभ सूरि ने वि० स० १२६० के लगभग उस पर वृत्ति लिखी, जिसमे अनेक कथाये वर्णित है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजा चेटक की पुत्री व राजा शतानीक की पत्नी मृगावती पर आसक्त था। इस पर तीर्थंकर महावीर ने उसे परस्त्रीत्याग का उपदेश दिया। अन्य कथाये शील, सुपात्रदान व तप आदि गुणो का फल दिखलाने वाली है, जिनमे ऋषभदेव, भरत व बाहुबली का वृत्तात भी आया है।

गुणचन्द्र कृत कथारत्नकोष (१२वी शती) मे पचास कथानक हैं, जिनमे कही कही अपभ्रश का उपयोग किया गया है। अन्य कथाकोषो मे चन्द्रप्रभ महत्तर कृत विजयचन्द्र केवली (११वी शती) जिनचन्द्रसूरि कृत सवेग-रगशाला और आसाढ कृत विवेक-मजरी एव उपदेश-कदली (१२ वी शती), मुनिसुन्दरकृत उपदेश-रत्नाकर (१३वी शती), सोमचन्द्र कृत कथामहोदधि और शुभवर्धनगणि कृत वर्धमान देशना तथा दशश्रावक-चरित्र (१५ वी शती) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट अनेक लघु कथाएँ है, जिनमे विशेष व्रतो के द्वारा विशिष्ट फल प्राप्त करने वाले पुरुष स्त्रियो के चरित्र वर्णित है, जैसे अजना सुन्दरी कथा, शीलवती, सर्वांग-सुन्दरी आदि कथाएँ। इस प्रकार की कोई २०–२५ प्राकृत कथाओ का उल्लेख जैन-ग्रन्थावली मे किया गया है।

अपभ्रंश भाषा का विकास—

भारत मे आर्य भाषा का विकास मुख्य तीन स्तरो मे विभाजित पाया जाता है। पहले स्तर की भाषा का स्वरूप वेदो, ब्राह्मणो, उपनिषदो व रामायण, महाभारत आदि पुराणो व काव्यो मे पाया जाता है, जिसे भाषा-विकास का प्राचीन युग माना जाता है। ईस्वी पूर्व छठवी शती मे महावीर और बुद्ध द्वारा उन भाषाओ को अपनाया गया जो उस समय पूर्व भारत की लोक भाषाये थी; और जिनका स्वरूप हमे पालि त्रिपिटिक व अर्धमागधी जैनागम मे दिखाई देता है। तत्पश्चात् की जो शौरसेनी व महाराष्ट्री रचनायें मिलती है उनकी भाषा को मध्ययुग के द्वितीय स्तर की माना गया है, जिसका विकास काल ईस्वी की दूसरी शती से पाँचवी शती तक पाया जाता है। तत्पश्चात् मध्ययुग का जो तीसरा स्तर पाया है, उसे अपभ्रंश का नाम दिया गया है। भाषा के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम अपभ्रंश का उल्लेख पातजल महाभाष्य (ई० पू० दूसरी शती) मे मिलता है, किन्तु वहाँ उसका अर्थ कोई विशेष भाषा न होकर शब्द का वह रूप है जो सस्कृत से अपभ्रष्ट, विकृत या विकसित हुआ है, जैसे गौ का गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि देशी रूप। इसी मतानुसार दण्डी (छठी शती) ने अपने काव्यादर्श मे कहा है शास्त्र मे सस्कृत से अन्य सभी शब्द अपभ्रंश कहलाते हैं, किन्तु काव्य मे आभीरो आदि की बोलियो को अपभ्रंश माना गया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी के काल अर्थात् ईसा की छठी शती मे अपभ्रंश काव्य-रचना प्रचलित थी। अपभ्रंश का विकास दसवी शती तक चला और उसके साथ आर्य भाषा के विकास का द्वितीय स्तर समाप्त होकर तृतीय स्तर का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी प्रतिनिधि हिन्दी, मराठी, गुजराती बगाली आदि आधुनिक भाषाएँ है। इसप्रकार अपभ्रंश एक ओर प्राचीन प्राकृतो और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओ के बीच की कडी है। वस्तुत अपभ्रंश से ही हिन्दी आदि भाषाओ का विकास हुआ है, और इस दृष्टि से इस भाषा के स्वरूप का बडा महत्व है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश का मुख्य लक्षण यह है कि जहाँ अकारान्त शब्दो के कर्ता कारक की विभक्ति सस्कृत के विसर्ग व प्राकृत मे ओ पाई जाती है, और कर्म कारक मे अम् दोनों भाषाओ मे होता है, वहाँ अपभ्रंश मे वह 'उ' के रूप मे परिवर्तित हो गई, जैसे सस्कृत का 'राम. वन गत.', प्राकृत मे 'रामो वण गओ' व अपभ्रंश मे 'राम वणु गयऊ' के रूप मे दिखाई देता है। इसीलिये भारत मुनि ने इस भाषा को 'उकार-बहुल कहा है। दूसरी विशेषता यह भी है कि अपभ्रंश मे कुछ-कुछ परसगो का उपयोग होने लगा, जिसके प्रतीक 'तण' और 'केर' बहुतायत से दिखाई देते हैं। भाषा यद्यपि अभी भी प्रधानतया योगात्मक है, तथापि

अयोगात्मकता की ओर उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। कारक विभक्तियाँ तीन चार ही रह गई हैं, और क्रियाओं का प्रयोग बन्द सा हो गया है। उनके स्थान पर क्रियाओं से सिद्ध विशेषणों का उपयोग होने लगा है। व्याकरण की इन विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य रचना की बिलकुल नई प्रणालियां और नये छन्दों का प्रयोग पाया जाता है। दोहा और पद्धतियाँ छंद अपभ्रंश काव्य की अपनी वस्तु है, और इन्हीं से हिन्दी के दोहों व चौपाइयों का आविष्कार हुआ है। इस भाषा का प्रचुर साहित्य जैन साहित्य की अपनी विशेषता है।

अपभ्रंश पुराण—

जिस प्रकार प्राकृत में प्रथमानुयोग काव्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है, उसी प्रकार अपभ्रंश में भी। अब तक प्रकाश में आये हुए अपभ्रंश कथा साहित्य में स्वयम्भू कृत पउमचरिउ सर्वप्रथम है। इसमें विद्याधर अयोध्या, सुन्दर युद्ध और उत्तर, ये पाँच कांड हैं, जिनके भीतर की समस्त संधियों (परिच्छेदों) की संख्या ९० है। ग्रंथ के आदि में कवि ने अपने पूर्ववर्ती भरत पिंगल, भामह, और दंडी एवं पांच महाकाव्य, इनका उल्लेख किया है। यह भी कहा है कि वह रामकथा रूपी नदी वर्द्धमान के मुख कुहर से निकली, और गणधर देवों ने उसे बहते हुए देखी। पश्चात् वह इन्द्रभूति आचार्य, फिर सुधर्म व कीर्तिधर द्वारा प्रवाहित होती हुई, रविषेणाचार्य के प्रसाद से कविराज (स्वयम्भू) को प्राप्त हुई। अपने वैयक्तिक परिचय में कवि ने अपनी माता पद्मिनी और पिता मारुतदेव तथा अमृताम्बा और आदित्याम्बा, इन दो पत्नियों का उल्लेख किया है, और यह भी बतला दिया है कि वे शरीर से कृश और कुरूप थे, तथा उनकी नाक चपटी और दाँत विरल थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता धनंजय का भी उल्लेख किया है। पुष्पदंत कृत महापुराण में जहाँ स्वयंभू का उल्लेख आया है, वहाँ पर प्राचीन प्रति में 'सयभुहु पद्धडिबंधकर्ता आपलीसंघीयह' ऐसा टिप्पण पाया जाता है, जिससे अनुमान होता है कि वे यापिनीयसंघ के अनुयायी थे। कवि द्वारा उल्लिखित रविषेणाचार्य ने अपना पद्मचरित वीर नि० सं० १२०३ अर्थात् ई० सन् ६७६ में पूर्ण किया था, एवं स्वयंभूदेव का उल्लेख सन् ९५९ ई० में प्रारम्भ किये गये अपभ्रंश महापुराण में उसके कर्ता पुष्पदंत ने किया है। अतएव पउमचरिउ की रचना इन दोनों अवधियों के मध्यकाल की सिद्ध होती है। उनकी कालावधि को और भी सीमित करने का एक आधार यह भी है कि जैसा उन्होंने अपने पउमचरिउ में रविषेण का उल्लेख किया है, वैसा संस्कृत हरिवंशपुराण व उसके कर्ता जिनसेन का नहीं किया, अतएव सम्भवतः

वे सस्कृत हरिवश के रचनाकाल, अर्थात् इ० सन् ७८३ के पूर्व ही हुए होगे। अत प्रस्तुत ग्रथ का रचनाकाल ई० सन्७०० के लगभग सिद्ध होता है। स्वयम्भूदेव ने यह रचना ८२ या ८३वी सधि पर्यंत ही की है, और सम्भवत वहीं उन्होने अपनी रचना को पूर्ण समझा था। किन्तु उनके सुपुत्र त्रिभुवन स्वयभू ने शेष रूप से सात-आठऔर सर्ग रचकर उसे पद्मचरित मे वर्णित विषयो के अनुसार पूर्ण किया। समस्त ग्रथ का कथाभाग सस्कृत पद्मचरित के ही समान है। हाँ, इस रचना मे वर्णन विशेषरूप से काव्यात्मक पाये जाते है। स्थान स्थान पर छदो का वैचित्र्य, अलकारो की छटा, रसभाव-निरूपण आदि सस्कृत काव्यशैली की उत्कृष्ट रीति के अनुसार हुआ है।

स्वयम्भू की दूसरी अपभ्र श कृति 'रिट्ठणेमि चरिउ' या हरिवंशपुराण है। इसकी उत्थानिका मे कवि ने भरत, पिंगल, भामह और दडी के अतिरिक्त व्याकरण ज्ञान के लिये इन्द्र का, घन-घन अक्षराडम्बर के लिये बाण का, तथा पद्धडिया छद के लिये चतुर्मुख का ऋण स्वीकार किया है। अन्त मे कथा की परम्परा को महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्म, विष्णु, नदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु से होती हुई सक्षेप मे सूत्र रूप सुनकर, उन्होने पद्धडिया बध मे मनोहरता से निबद्ध की, ऐसा कहा है। ग्रन्थ मे तीन काड है – यादव, कुरु और युद्ध, और उनमे कुल ११२ सधियाँ हैं। इसकी भी प्रथम ९९ सधिया स्वयभू कृत हैं; और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयभूकृत। इन अन्तिम सन्धियो मे से चार की पुष्पकाओं मे मुनि यश कीर्ति का भी नाम आता है, जिससे भी अनुमान होता है कि उन्होंने भी इस ग्रन्थ मे कुछ सशोधन, परिवर्द्धन किया होगा। ग्रन्थ का कथाभाग प्राय वही है जो जिनसेन कृत हरिवश मे पाया जाता है। यादव काड मे कृष्ण के जन्म, बाल-क्रीडा, विवाह आदि सम्बन्धी वर्णन बडी काव्यरीति से किया गया है। उसी प्रकार कुरु-काड मे कौरवो-पाडवो के जन्म, कुमारकाल, शिक्षण, परस्पर विरोध, द्यूतक्रीडा व वनवास का वर्णन तथा युद्धकाण्ड मे कौरव–पाण्डवो के युद्ध का वर्णन रोचक व महाभारत के वर्णन से तुलनीय है।

अपभ्र श मे एक और हरिवशपुराण धवल कवि कृत मिला है, जो १२२ सन्धियो में समाप्त हुआ है। कवि विप्र वर्ण के थे, और उनके पिता का नाम सूर, माता का केसुल्ल और गुरु का नाम अवसेन था। ग्रथ की उत्थानिका मे उन्होने अनेक आचार्यों और उनकी ग्रथ-रचनाओ का उल्लेख किया है, जिनमें महासेन कृत सुलोचनाचरित, रविषेणकृत पद्मचरित, जिनसेन कृत हरिवश,

जटिलमुनि कृत वरागचरित, असगकृत वीरचरित, जिनरक्षित श्रावक द्वारा विख्यापित जयधवल एव चतुर्मुख और द्रोण के नाम सुपरिचित, तथा कवि के काल-निर्णय मे सहायक होते हैं। उनमे काल की दृष्टि से सबसे अन्तिम असग कवि हैं, जिन्होंने अपना वीरचरित शक सवत् ९१० अर्थात् ई० सन् ९८८ में समाप्त किया था। अतएव यही कवि के काल की पूर्वावधि है। उनकी उत्तरावधि निश्चित करने का कोई साधन प्राप्त नही है। सम्भवतः इस रचना का काल १० वी, ११ वी शती होगा। विशेष उल्लेखनीय एक बात यह है कि अपने कवि-कीर्तन में कवि ने महान् श्वेताम्बर कवि गोविन्द और उनके सनत्-कुमार चरित का उल्लेख किया है (सणकुमार जें विरइउ मणहरु, कइगोविंदु पवरु सेयवरु)। अपने विषय वर्णन के लिये कवि ने जिनसेन कृत हरिवंश पुराण का आश्रय लिया है, और इस ऋण का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है (जह जिणसेणेण कय, तह विरयमि किं पि उद्देसं)। सन्धियों की संख्या सस्कृत हरिवश से दुगुनी से कुछ कम है, किन्तु निर्दिष्ट प्रमाण ठीक इतना है, क्योंकि सस्कृत हरिवश पुराण का प्रमाण १२ हजार श्लोक और इसका १८००० आका गया है। अधिक विस्तार वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रंश काव्य परम्परानुसार काव्यगुणों की भी इस ग्रन्थ में अपनी विशेषता है। छन्द-वैचित्र्य भी बहुतायत से पाया जाता है।

अपभ्रंश में और भी अनेक कवियो द्वारा हरिवंश पुराण की रचना की गई है। ऊपर स्वयम्भू कृत हरिवश पुराण के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ की अन्तिम सन्धियो में यशःकीर्ति द्वारा भी कुछ सवर्द्धन किया गया है। यशःकीर्ति कृत एक स्वतन्त्र हरिवंशपुराण भी वि० सम्वत् १५०० या १५२० मे रचित पाया जाता है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) में अग्रवाल वशी व गर्गगोत्री दिउढा साहू की प्रेरणा से लिखा गया था। यह ग्रन्थ १३ सन्धियो या सर्गों मे समाप्त हुआ है। कथानक का आधार जिनसेन व स्वयम्भू तथा पुष्पदन्त की कृतिया प्रतीत होती हैं। एक और हरिवंश पुराण श्रुतिकीर्ति कृत मिला है; जो वि० स० १५५३ में पूर्ण हुआ है। इसमे ४४ सन्धियो द्वारा पूर्वोक्त कथा-वर्णन पाया जाता।

जिस प्रकार प्राकृत मे 'चऊपन्न-महापुरुषचरित' की तथा सस्कृत मे त्रेसठ शलाका पुरुष चरितो की रचना हुई, उसी प्रकार अपभ्रंश में महाकवि पुष्पदन्त द्वारा 'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालकारु' महापुराण की रचना पाई जाती है। इसकी रचना शक स० ८८१ सिद्धार्थ संवत्सर से प्रारम्भ कर ८८७ क्रोधन सम्वत्सर तक ६ वर्ष में पूर्ण हुई थी। उस समय मान्यखेट में राष्ट्रकूट

राजा कृष्ण (तृतीय) का राज्य था। उन्ही के मन्त्री भरत की प्रेरणा से कवि ने इस रचना मे हाथ लगाया था। महापुराण की एक सधि के प्रारम्भ में कवि ने मान्यखेट पुरी को धारानाथ द्वारा जलाये जाने का उल्लेख किया है। धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' के अनुसार धारानगरी धाराधीश हर्षदेव द्वारा वि० स० १०२९ मे लूटी और जलाई गई थी। इस प्रकार इस दुर्घटना का काल महापुराण की समाप्ति के छह-सात वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। अतएव अनुमानत' सन्धि के प्रारम्भ मे उक्त सस्कृत श्लोक ग्रन्थ रचना के पश्चात् निवद्ध किया गया होगा। इस ग्रन्थ में तथा अपनी अन्य रचनाओ मे कवि ने वहुत कुछ अपना वैयक्तिक परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार उनके पिता का नाम केशव और माता का नाम मुग्धा देवी था, जो प्रारम्भ मे शैव थे, किन्तु पीछे जैन धर्मावलम्वी हो गये थे। कवि कहीं अन्यत्र से भटकते हुए मान्यखेट पहुँचे, और वहाँ भरत ने उन्हे आश्रय देकर काव्य-रचना के लिये प्रेरित किया। वे शरीर से कृश और कुरूप थे; किन्तु उनकी कव्व-पिसल्ल (काव्य पिशाच) कवि कुलतिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती निलय आदि उपाधियाँ उनकी काव्य-प्रतिभा की परिचायक हैं,जो रचना के सौन्दर्य और सौष्ठव को देखते हुए सार्थक सिद्ध होती है। समस्त महापुराण १०२ सन्धियो में पूर्ण हुआ है। प्रथम ३७ सन्धियो का कथाभाग उतना ही है, जितना सस्कृत आदि पुराण का, अर्थात् प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का जीवन चरित्र। शेष सन्धियो मे उत्तरपुराण के समान अन्य शलाका पुरुषो का जीवनचरित्र वर्णित है। सन्धि ६९ से ७९ तक की ११ सन्धियो मे राम की कथा आई है, जिसमे उत्तर पुराण में वर्णित कथा का अनुसरण किया गया है। किन्तु यहाँ आदि मे गौतम द्वारा रामायण के विषय मे वे ही शकाएँ उठाई गई हैं, जो प्राकृत पउमचरिय व सस्कृत पद्मपुराण तथा स्वयम्भू कृत पउमचरिउ मे पाई जाती है। सन्धि ८१ से ९२ तक की १२ सन्धियो मे कृष्ण और नेमिनाथ एव कौरव-पाण्डवो का वृत्तान्त सस्कृत हरिवन्श पुराण के अनुसार वर्णित है। किन्तु यह समस्त वर्णन कवि की असाधारण काव्य-प्रतिभा द्वारा बहुत ही सुन्दर, रोचक और मौलिक वन गया है। इसमे आये हुए नगरो पर्वतो, नदियो, ऋतुओ, सूर्य, चन्द्र के अस्त व उदय, युद्धो, विवाहो, वियोग के विलापो, विवाहादि उत्सव एव श्रृगारादि रसो के वर्णन किसी भी स स्कृत व प्राकृत के उत्कृष्टतम काव्य से हीन नहीं उतरते। कवि ने स्वय एक स स्कृत पद्य द्वारा अपनी इस रचना के गुण प्रगट किये हैं, वे कहते हैं—

अत्र प्राकृत-लक्षणानि सकला नीति. स्थितिश्छन्दसा-
मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतयः ॥

किंचान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते ।
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्ध ययोरीदृशम् ॥

यहा कवि ने जो यह दावा किया है कि अन्यत्र ऐसी कोई वस्तु नही है, जो इस जैन चरित्र मे न आ गई हो, वह उनके विषय और काव्य की सीमाओ को देखते हुए असिद्ध प्रतीत नही होता है।

अपभ्रंश मे तीर्थंकर-चरित्र--

पुष्पदत कृत महापुराण के पश्चात् सस्कृत के समान अपभ्रंश मे भी विविध तीर्थंकरो के चरित्र पर स्वतत्र काव्य लिखे गये। 'चदप्पह चरिउ' यश कीर्ति द्वारा हुमड कुल के सिद्धपाल की प्रार्थना से ११ सधियो मे रचा गया है। ये यश कीर्ति वे ही हैं, जिनके हरिवशपुराण का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। अतएव इसका रचना काल भी वही १५ वी शती ई० है। 'सातिनाह चरिउ' की रचना महीचन्द्र द्वारा वि० स० १५८७ मे योगिनीपुर (दिल्ली) मे बाबर बादशाह के राज्यकाल मे हुई। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा मे माथुर सघ, पुष्करगण के यश कीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रसूरि का उल्लेख किया है, तथा अग्रवाल वश के गर्ग-गोत्रिय भोजराज के पोत्र, व ज्ञानचन्द्र के पुत्र 'साधारण के कुल का विस्तार से वर्णन किया है। णेमिणाह चरिउ की रचना हरिभद्र ने वि० १२१६ मे की। इसका अभीतक केवल एक अन्श 'सनत्कुमार चरित' सुसपादित होकर प्रकाश मे आया है,। एक और णेमिणाह चरिउ लखमदेव (लक्ष्मणदेव) कृत पाया जाता है, जिसमे चार सधिया व ८३ कडवक हैं। कवि ने आरम्भ मे अपने निवास-स्थान मालव देश व गोनद नगर का वर्णन, और अपने पुरवाड वश का उल्लेख किया है। रचनाकाल का निश्चय नही है, किन्तु इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति वि० स० १५१० की मिली है, जिससे उसके रचनाकाल की उत्तरावधि सुनिश्चित हो जाती है। पासणाह चरिउ की रचना पद्मकीर्ति ने वि० स० ९९२ मे १८ सधियो मे पूर्ण की थी। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा मे सेन सघ के चन्द्रसेन, माधवसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है। दूसरा पासणाह चरिउ १२ सधियो मे कवि श्रीधर द्वारा वि०स० ११८९ मे रचा गया है। कवि के पिता का नाम गोल्ल और माता का नाम वील्हा था। वे हरियाणा से चलकर जमना पार दिल्ली आये, और वहा अग्रवाल वशी नट्टल साहू की प्रेरणा से उन्होने यह रचना की। तीसरा पासणाह चरिउ कवि असवाल कृत पाया जाता है, जो सधियो मे समाप्त हुआ है। सधि के अन्त मे उल्लेख मिलता हे कि यह ग्रथ सघाधिप सोनी (सोणिय ?)

के कर्णाभरणरूप अर्थात् उनकी प्रेरणा से उन्हे सुनाने के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल अनुमानत १५ वी शती या उसके आसपास होगा। अतिम तीर्थंकर पर जयमित्र हल्ल कृत वड्ढमाण-कव्वु मिलता है, जिसमे ११ सधिया है। यह काव्य देवराय के पुत्र सघाधिप होलिवर्म के लिये लिखा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १५४५ की मिली है, अतएव ग्रथ इससे पूर्व रचा गया है। इस काव्य की अंतिम ६ सधियो मे राजा श्रेणिक का चरित्र वर्णित है, जो अपने रूप मे पूर्ण है और पृथक् रूप से भी मिलता है। रयधू-कृत सम्मइणाह चरिउ दस सधियो मे समाप्त हुआ है। इसमे कवि ने अपने गुरु का नाम यश-कीर्ति प्रकट किया है, अतएव इसका रचनाकाल वि० स० १५०० के आसपास होना चाहिये। नरसेन कृत वड्ढमाणकहा वि० स० १५१२ के लगभग लिखी गई है। जैन ग्रथावली मे जिनेश्वर सूरि के शिष्य द्वारा रचित अपभ्रश महावीर-चरित का उल्लेख है।

अपभ्रंश चरितकाव्य—

तीर्थंकरो के चरित्रो के अतिरिक्त अपभ्रश मे जो अन्य चरित्र काव्य की रीति से लिखे गये, वे निम्नप्रकार हैं —

'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालकार' के महाकवि पुष्पदंत कृत अन्य रचनाए हैं—जसहर-चरिउ और णायकुमार-चरिय। यशोधर का चरित्र जैन साहित्य मे हिंसा के दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखलाने के लिये बडा लोकप्रिय हुआ है, और उस पर सस्कृत मे सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर, १७वी शती तक लगभग ३० ग्रथ रचे गये पाये जाते हैं। इनमे काव्यकला की दृष्टि से सस्कृत मे सोमदेव की कृति और अपभ्रंश मे पुष्पदत कृत जसहर चरिउ सर्व-श्रेष्ठ है। ये दोनो रचनाएँ १० वीं शताब्दि मे पाच-सात वर्ष के अन्तर से प्राय एक ही समय की हैं। जसहरचरिउ चार सन्धियों मे विभाजित है। यौधेय देश की राजधानी राजपुर मे मारिदत्त राजा की एक कापालिकाचार्य भैरवानद से भेट हुई, और उनके आदेशानुसार आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने के लिये राजा ने नरबलि यज्ञ का आयोजन किया। इसके लिए राजा के सेवक जैन मुनि सुदत्त के रुचि शिष्य अभय और उसकी बहन अभयमती को पकड लाये। राजा ने उनके रूप से प्रभावित होकर उनका वृतात पूछा। इस पर अभयरुचि ने अपने पूर्व जन्मो का वृतात कहना प्रारम्भ किया.—अवन्ती देश मे उज्जैनी के राजा यशोवधुर का पौत्र व यशोर्ह का पुत्र मैं यशोधर नामका राजा था (१ स ०)। यशोधर ने अपनी रानी अमृतमति को एक कुबडे से व्यभिचार करते देखा, और विरक्त होकर

मुनिदीक्षा लेने का विचार किया, किन्तु उसकी मा ने उसे रोका। अमृतमति ने दोनो को विष देकर मार डाला। तत्पश्चात् मा-बेटो ने नाना पशु-योनियो मे परिभ्रमण किया, जिनमे स्वय उसके पुत्र जसवइ व व्याभिचारिणी पत्नी ने उनका घात किया (२ स०)। अनेक पशुयोनियो मे दु ख-भोग कर अन्त मे वे दोनो जसवइ के पुत्र और पुत्री रूप से उत्पन्न हुए। एक बार जसवइ आखेट करने वन मे गया था, वहा उसे सुदत्त मुनि के दर्शन हुए, और उसने उन पर अपने कुत्ते छोड़े। किन्तु मुनि के प्रभाव से कुत्ते उनके सम्मुख विनीतभाव से नमन करने लगे। एक सेठ ने राजा को मुनि का माहात्म्य समझाया, तब राजा को सम्बोधन हुआ। मुनि को अवधिज्ञानी जान राजा ने उनसे अपने पूर्वभूत माता-पिता व मातामही का वृत्तात पूछा। मुनि ने उनके भव-भ्रमण का सब वृत्तान्त सुनाकर बतला दिया कि उनका पिता और उसकी मातामहि ही अब अभयरुचि और अभयमति के रूप मे उसके पुत्र-पुत्री हुए है (३ स०)। यह वृत्तान्त सुनकर और सन्सार की विचित्रता एव असारता को समझकर जसवइ ने दीक्षा ले ली। उसके पुत्र-पुत्रियो को भी अपने पूर्वभवो का स्मरण हो आया, और वे क्षुल्लक के व्रत लेकर सुदत्त मुनि के साथ विहार करते हुए मारिदत्त के राजपुरुषो द्वारा पकड कर वहाँ लाये गये। यह वृतान्त सुनकर राजा मारिदत्त उनकी देवी चडमारी व पुरोहित भैरवानद आदि सभी को वैराग्य हो गया, और उन्होंने सुदत्त मुनि से दीक्षा ले ली (स० ४)। इस कथानक को पुष्पदंद ने वडे काव्य-कौशल क साथ प्रस्तुत किया है। (कारजा, १९३२)

णायकुमार-चरिउ में पुष्पदत ने श्रुत-पचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र ९ सन्धियो में मे वर्णन किया है। मगधदेश के कनकपुर नगर में राजा जयधर और रानी विशालनेत्रा के श्रीधर नामक पुत्र हुआ। पश्चात् राजा ने सोराष्ट्र देश में गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र देख, और उस पर मोहित हो, उसे भी विवाह लिया (स० १)। यथा समय पृथ्वीदेवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जो शैशव मे जिनमदिर की वापिका मे गिर पडा। वहा नागो ने उसकी रक्षा की, और उसीसे उसका नाम नागकुमार रखा गया नागकुमार नाना विद्याए सीखकरयौवन को प्राप्त हुआ। उस पर मनोहारी और किन्नरी नामक नर्तकिया मोहित हो गई, और उसने उन्हे विवाह लिया। उसकी माता और विमाता में विद्वेष बढा, और उसका सौतेला भाई श्रीधर भी उससे द्वेष करके उसे मरवा डालने का प्रयत्न करने लगा। इसीसमय एक मदोन्मत हाथी के आक्रमण से समस्त नगर व्याकुल हो उठा। श्रीधर उसे दमन करने में असफल रहा,

किन्तु नागकुमार ने अपने पराक्रम द्वारा उसे वश में कर लिया। इससे दोनो का विद्वेष और अधिक बढा (स० ३)। नागकुमार के पराक्रम की ख्याति बढी और मथुरा का राजकुमार व्याल एक भविष्य वाणी सुनकर उसका अनुचर बन गया। श्रीधर ने अब नागकुमार को अपना परमशत्रु समझ मार डालने की चेष्टा की। पिता ने सकट-निवारणार्थ नागकुमार को कुछ काल के लिये देशान्तर गमन का आदेश दे दिया (स० ४)। नागकुमार राजधानी से निकलकर मथुरा पहुचा, जहा उसने कान्यकुब्ज के राजा विनयपाल की कन्या शीलवती को बदीगृह से छुडाकर उसके पिता के पास भिजवा दिया। यहा से चलकर वह काश्मीर गया, जहा उसने राजा नद की पुत्री त्रिभुवनरति को वीणावाद्य मे पराजित करके विवाहा। यहा से वह रम्यक वन मेगया, और वहा कालगुफावासी भीमासुर ने उसका स्वागत किया (स० ५)। अपने पथ-प्रदर्शक शबर की सहायता से वह काचन गुफा मे पहुचा, जहा उसने नाना विद्याए प्राप्त की, व काल-वैताल गुफा से राजा जितशत्रु द्वारा सचित विशाल धनराशि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी भेंट गिरिशिखर के राजा वनराज से हुई, जिसकी पुत्री लक्ष्मीमति से उसने विवाह किया। यहा मुनि श्रुतिधर से उसने सुना कि वनराज किरात नही, किन्तु पुण्ड्रवर्द्धन के राजवश का है, जहा से तीन पीढी पूर्व उसके पूर्वजो को उनके एक दायाद ने निकाल भगाया था। नागकुमार के आदेश से व्याल पुन्ड्रवर्द्धन गया, और वनराज पुन वहा का राजा बना दिया गया, (स० ६)। तत्पश्चात् नागकुमार ऊर्जयन्त पर्वत की ओर गया। बीच मे गिरिनगर पर सिंध के राजा चडप्रद्योत के आक्रमण का समाचार पाकर वहा गया, और वहाँ उसने अपने मामा की शत्रु से रक्षा की, एव उसकी पुत्री गुणवती से विवाह किया। वहाँ से निकलकर उसने अलघनगर के अत्याचारी राजा सुकठ का वध किया, और उसकी पुत्री रूक्मिणी को विवाहा। वहा से चलकर वह गजपुर आया, और वहाँ राजा अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा से विवाह किया (स ७)। महाव्याल के द्वारा उज्जैन की अद्वितीय राजकन्या का समाचार पाकर नागकुमार वहा आया, और उस राजकन्या से विवाह किया। वहा से वह फिर किष्किन्धमलय को गया, जहा मृदग वाद्य मे राजकन्या को पराजित कर विवाहा। वहाँ से वह तोयावली द्वीप को गया, और अपनी विद्याओ की सहायता से वहाँ की बदिनी कन्याओ को छुडाया (स० ८)। पाड्य देश से निकलकर नागकुमार आन्ध्रदेश के दन्तीपुर मे आया और वहा की राजकन्या से विवाह किया। फिर उसकी भेंट मुनि पिहिताश्रव से हुई जिनके मुख से उसने अपने व अपनी प्रिय पत्नी लक्ष्मीमति के पुर्वभव की कथा तथा श्रुतपचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय उसके पिता का मत्री

नयधर उसे लेने आया। उसके भ्राता श्रीधर ने दीक्षा ले ली थी। माता-पिता भी नागकुमार को राजा बनाकर दीक्षित हो गये। नागकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। अन्त मे अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर उसने व्याल आदि सुभटो सहित दिगम्बरी दीक्षा ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया (स० ९)। पुष्पदंत ने इस जटिल कथानक को नाना वर्णनो, विविध छद-प्रयोगो एव रसो और भावो के चित्रणो सहित अत्यन्त रोचक बनाकर उपस्थित किया है। (कारजा, १९३३)

भविसयत्त-कहा (भविष्यदत्त कथा) के कर्त्ता धनपाल वैश्य जाति के धक्कड वश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (महेश्वर ?) और माता का नाम धनश्री था। इनके समय का निश्चय नही, किन्तु दसवी शती अनुमान किया जाता है। यह कथा २२ स धियो मे विभाजित है। चरित्रनायक भविष्यदत्त एक वणिक् पुत्र है। वह अपने सौतेले भाई बधुदत्त के साथ व्यापार हेतु परदेश जाता है, धन कमाता है, और विवाह भी कर लेता है। किन्तु उसका सौतेला भाई उसे बार-बार धोका देकर दु ख पहुचाता है, यहा तक कि उसे एक द्वीप मे अकेला छोडकर उसकी पत्नी के साथ घर लौट आता है, और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु इसी बीच भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से घर लौट आता है, अपना अधिकार प्राप्त करता, और राजा को प्रसन्न कर राजकन्या मे विवाह करता है। अन्त मे मुनि के द्वारा धर्मोपदेश व अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर, विरक्त हो, पुत्र को राज्य दे, मुनि हो जाता है। यह कथानक भी श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिये लिखा गया है। ग्रन्थ के अनेक प्रकरण बडे सुन्दर और रोचक है। बाल क्रीडा, समुद्र-यात्रा, नौका-भग, उजाड नगर, विमान यात्रा, आदि वर्णन पढने योग्य है। कवि के समय में विमान हो या न हो, किन्तु उसने विमान का वर्णन बहुत सजीव रूप में किया है। (गायकवाड ओरि सीरीज, बडौदा)

करकडचरीउ के कर्त्ता मुनि कनकामर ने अपना स्वय परिचय दिया है कि वे द्विजवशी व चन्द्रर्षि गोत्रीय थे। वे वैराग्य से दिगम्बर हो गये थे उनके गुरु का नाम बुध मगलदेव था, तथा उन्होने आसाई नगरी में एक राजमत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। राजमत्री के विषय में उन्होने यह भी कहा है कि वह विजयपाल नराधिप का स्नेहभाजन, नृपभूपाल या निजभूपाल का मनमोहक व कर्णनरेन्द्र का आशयरजक था, उसके आहुल, रल्हु और राहुल, ये तीन पुत्रीभी मुनि के चरणो के भक्त थे। सम्भवत, मुनि द्वारा उल्लिखित कर्ण

उस नामका कलचुरि वशीय राजा व विजयपाल उसका सम-सामयिक चदेल वशीय राजा था। तदनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल १०५० ई० के लगभग सिद्ध होता है। कवि ने जो स्वयभू और पुष्पदन्त का उल्लेख किया है, उससे उनका ई० सन् ९६५ के पश्चात् होना निश्चित है। यह रचना १० सधियो मे पूर्ण हुई है। कथानायक करकडु जैन व बौद्ध परम्परा में एक प्रत्येक बुद्ध माने गये हैं। वे अग देश में चपानगरी के राजा धाडीवाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे, किन्तु एक दुष्ट हाथी द्वारा रानी के अपहरण के कारण उनका जन्म दन्तीपुर के समीप श्मशान-भूमि मे हुआ था। उसका परिपालन व शिक्षण एक मातग के द्वारा हुआ। दन्तीपुर के राजा के मरने पर दैवयोग से वह वहा का राजा बनाया गया। चपा के राजा धाडीवाहन ने उसके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा, जिसे ठुकरा कर उसने चपापुर पर आक्रमण किया। पिता-पुत्र के बीच जब घमासान युद्ध हो रहा था, तब उसकी माता पद्मावती ने प्रकट होकर युद्ध का निवारण और पिता-पुत्र की पहचान कराई। अब करकडु चपापुर का राजा बन गया। उसने दक्षिण के चोड, चेर व पाड्य देशों की विजय के लिये यात्रा की। मार्ग मे तेरापुर के समीप की पहाडी पर एक प्राचीन जैन गुफा का पता लगाया व एक दो नये लयण बनवाये। फिर उन्होंने सिहल द्वीप तक विजय की,और नाना राजकुमारियो से विवाह किया अत मे शीलगुप्त मुनि से धर्म श्रवण कर, तपस्या धारण की, और मोक्ष प्राप्त किया। इस कथानक मे अनेक छोटी-छोटी उपकथाए करकडु के शिक्षण के लिये मातग द्वारा सुनाई गई हैं। तीन अवान्तर कथाए इतनी बडी बडी हैं कि वे पूर्ण एक-एक सधि को घेरे हुए है। पाचवी सधि में तेरापुर की प्राचीन गुफा बनने व पहाडी पर जिनमूर्ति के स्थापित किये जाने का वृत्तान्त है। छठी सधि में करकड की प्रिय पत्नी मदनावली का एक दुष्ट हाथी द्वारा अपहरण होने पर उनकी वियोग-पीडा के निवारणार्थ राजा नरवाहनदत्त का आख्यान कहा गया है, एव आठवी सधि मे करकड की पत्नी रतिवेगा को उसके पतिवियोग मे सबोधन के लिये देवी द्वारा अरिदमन और रत्नलेखा के वियोग और पुनर्मिलन का आख्यान सुनाया गया है। ग्रन्थ मे श्मशान का, गगानदी का, प्राचीन जिन-मूर्ति के भूमि से निकलने का एव रतिवेगा के विलाप आदि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पडा है। (कारजा, १९३४)

पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री चरित) के कर्ता धाहिल ने अपने विषय मे इतना बतलाया है कि उनके पिता का नाम पार्श्व व माता का महासती सूराई (सूरा-देवी ?) था, और वे शिशुपाल काव्य के कर्ता माघ के वश मे उत्पन्न हुए थे। समय का निश्चय नही, किन्तु इस कृति की जो एक प्राचीन प्रति वि० स०

११९९ की मिली है, उससे इस रचना की उत्तरावधि भी निश्चित हो जाती है। यह रचना चार संधियो मे पूर्ण हुई है। नायिका पद्मश्री अपने पूर्व जन्म मे एक सेठ की पुत्री थी, जो बाल विधवा होकर अपना जीवन अपने दो भाइयो और उनकी पत्नियो के बीच एक ओर ईर्ष्या और सन्ताप, तथा दूसरी ओर धर्मसाधना मे बिताती रही। दूसरे जन्म मे पूर्व पुण्य के फल से वह राजकुमारी हुई। किन्तु जो पापकर्म शेष रहा था, उसके फलस्वरूप उसे पति द्वारा परित्याग का दुख भोगना पडा। तथापि सयम और तपस्या के बल से अन्त मे उसने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया। काव्य मे देशो व नगरो का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण, सन्ध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन बहुत सुन्दर है। (सिंघी जैन सीरीज, बम्बई)

सणकुमार-चरिउ (सनत्कुमार चरित) के कर्ता हरिभद्र श्रीचन्द्र के शिष्य व जिनचन्द्र के प्रशिष्य थे, और उन्होने अपने णेमिणाह-चरिउ की रचना वि० स० १२१६ मे समाप्त की थी। प्रस्तुत रचना उसी के ४४३ से ७८५ तक के ३४३ रड्डा छदात्मक पद्यो का काव्य है, जो पृथक् रूप से सुसपादित और प्रकाशित हुआ है। कथा-नायक सनत्कुमार गजपुर नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। वे एक बार मदनोत्सव के समय वेगवान् अश्व पर सवार होकर विदेश मे जा भटके। राजधानी मे हाहाकार मच गया। उनके मित्र खोज में निकले और मानसरोवर पर पहुचे। वहा एक किन्नरी के मुख से अपने मित्र का गुणगान सुनकर उन्होने उनका पता लगा लिया। इसी बीच सनत्कुमार ने अनेक सुन्दर कन्याओ से विवाह कर लिया था। मित्र के मुख से माता पिता के शोक-सताप का समाचार पाकर वे गजपुर लौट आये। पिता ने उन्हे राज्य सौपकर दीक्षा ले ली। सनत्कुमार ने अपने पराक्रम और विजय द्वारा चक्रवर्तीपद प्राप्त किया व अन्त में तपस्या धारण कर ली। इसी सामान्य कथानक को कर्ता ने अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा खूब चमकाया है। यहा ऋतुओ आदि का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। (डॉ जैकोबी द्वारा रोमन लिपि मे सम्पादित, जर्मनी)

इन प्रकाशित चरित्रो के अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश चरित ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियो के रूप में नाना जैन शास्त्रभडारो में सुरक्षित पाये जाते है, और सम्पादन प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। इनमें कुछ विशेष रचनाए इस प्रकार है। वीर कृत जबूस्वामि-चरीउ (वि० स० १०७६), नयनंदि कृत 'सुदसण-चरीउ' (वि० स० ११००), श्रीधर कृत सुकुमाल-चरिउ। (वि० स० १२०८), देवसेन गणि कृत सुलोचना-चरित, सिंह (या सिद्ध) कृत पज्जुण्ण-चरिउ (१२वी १३वी शती), लक्ष्मणकृत जिनदत्त-चरिउ (वि० स० १२७५), धनपाल कृत बाहुबली-चरिउ (वि० स० १४५४), रयधू कृत सुकोसल-चरिउ, धन्नकुमार-चरिउ, मेहे-

सर-चरिउ और श्रीपाल-चरिउ (१५ वी शती), नरसेन कृत सिरिवाल-चरिउ (वि० स० १५७६) व णायकुमार च० (वि० स० १५७६), तथा भगवतीदास कृत ससिलेहा या मृगाअलेखा-चरिउ (वि० स० १७००) उल्लेखनीय है। हरिदेव कृत मयण-पराजय और जिनप्रभसूरि कृत मोहराज-विजय ऐसी कविताए हैं, जिनमे तप, सयम आदि भावो को मूर्तिमान् पात्रो का रूप देकर मोहराज और जिनराज के बीच युद्ध का चित्रण किया गया है।

अपभ्रंश लघुकथाएं—

जैसा पहले कहा जा चुका है, ये चरित्र-काव्य किसी न किसी जैन व्रत के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं। इसी उद्देश्य से अनेक लघु कथाए भी लिखी गई है। विशेष लघुकथा-लेखक और उनकी रचनाए ये हैं — नयनदि कृत 'सकलविधिविधानकहा' (वि० स० ११००), श्रीचन्द्र कृत कथाकोष और रत्नकरडशास्त्र (वि० स० ११२३), अमरकीर्ति कृत छक्कम्मोवएसु (वि० स० १२४७), लक्ष्मण कृत अणुवय-रयण-पईउ (वि० स० १३१३), तथा रयधू कृत पुण्णासवकहाकोसो (५ वी शती)। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतकथाए स्फुट रूप से भी मिलती है जैसे बालचन्द्र कृत सुगधदहमीकहा एव णिद्दहसत्तमीकहा, विनयचन्द्र कृत णिज्झरपचमीकहा, यश कीर्ति कृत जिणरत्तिविहाणकहा व रविव्रतकहा, तथा अमरकीर्ति कृत पुरदरविहाणकहा, इत्यादि। इनमें से कुछ जैसे विनयचन्द्र कृत णिज्झर-पचमी-कहा, अपभ्र श मे गीतिकाव्य के बहुत सरस और सुन्दर उदाहरण हैं।

एक अन्य प्रकार की अपभ्र श कथाए भी उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र ने प्राकृत मे धूर्ताख्यान नामसे जो कथाएँ लिखी हैं, उनमे अनेक पौराणिक अतिरजित वातो पर व्यगात्मक आख्यान लिखे हैं। इसके अनुकरण पर अपभ्र श मे हरिषेण ने धम्मपरिक्खा नामक ग्रन्थ ११ सधियो मे लिखा है, जिसकी रचना वि० स० १०४४ मे हुई है। इसी के अनुसार श्रुतकीर्ति ने भी धम्मपरिक्खा नामक रचना १५ वी शती मे की।

प्रथमानुयोग-सस्कृत—

जिस प्रकार प्राकृत मे कथात्मक साहित्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है उसी प्रकार स स्कृत मे भी पाया जाता है। रविषेण कृत पद्मचरित की रचना स्वय ग्रन्थ के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण के १२०३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् ६७६ मे हुई। यह ग्रन्थ विमलसूरि कृत 'पउमचरिय' को सम्मुख रखकर रचा

गया प्रतीत होता है। इसकी रचना प्राय अनुष्टुप् श्लोको मे हुई है। विषय और वर्णन प्राय ज्यो का त्यो अध्याय-प्रतिअध्याय और बहुतायत से पद्य-प्रति-पद्य मिलता जाता है। हाँ, वर्णन-विस्तार कही कही पद्मचरित मे अधिक दिखाई देता है, जिससे उसका प्रमाण प्राकृत पउमचरिय से ड्यौढे से भी अधिक हो गया है। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

पद्मचरित् के पश्चात् सस्कृत मे दूसरा पौराणिक रचना जिनसेन कृत हरिवश पुराण है, जो शक स० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ मे समाप्त हुई थी, जबकि उत्तर भारत मे इन्द्रायुध, दक्षिण मे कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व में अवन्ति नृप तथा पश्चिम में वत्सराज, एव सौरमडल में वीरवराह राजाओ का राज्य था। इसमें ६६ सर्ग हैं, जिनका कुल प्रमाण १२००० श्लोक है। यहा भी सामान्यत अनुष्टुप छद का प्रयोग हुआ है। किन्तु कुछ सर्गों के अन्त मे द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि छदो का प्रयोग भी हुआ है। ग्रन्थ का मुख्य विषय हरिवश मे उत्पन्न हुए २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है किन्तु इसके प्रस्तावना रूप से ग्रन्थ में अन्य सभी शलाका पुरुषो का कीर्तन किया गया है, तथा त्रैलोक्य व जीवादि द्रव्यो का वर्णन भी आया है। हरिवश की एक शाखा यादवो की थी। इस वश मे शौरीपुर के एक राजा वसुदेव की रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियो से क्रमश बलदेव और कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव के भ्राता समुद्रविजय की शिवा नामक भार्या ने अरिष्टनेमि को जन्म दिया। युवक होने पर इनका विवाह-सम्बन्ध राजीमती नामक कन्या से निश्चित हुआ। विवाह के समय यादवो के मास भोजन के लिये एकत्र किये गये पशुओ को देखकर करुणा से नेमिनाथ का हृदय विह्वल और ससार से विरक्त हो गया, और बिना विवाह कराये ही उन्होने प्रव्रज्या धारण कर ली। ये ही केवलज्ञान प्राप्त करके २२ वे तीर्थंकर हुए। प्रसगवश कौरवो और पाण्डवो का, तथा बलराम और कृष्ण के वशजो का भी वृत्तान्त आया है। ग्रथ में वसुदेव के भ्रमण का वृतान्त विस्तार से आया है जो वसुदेव-हिंडी का स्मरण कराता है। किन्तु नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन इससे पूर्व अन्यत्र कही स्वतत्र ग्रन्थ के रूप में दिखाई नही देता। उत्तराध्ययन सूत्र के 'रहनेमिज्ज' नामक २२ वें अध्ययन में अवश्य यह चरित्र वर्णित पाया जाता है किन्तु वह अति सक्षिप्त केवल ४६ गाथाओ मे है। विमलसूरि कृत पउम-चरिय के परिचय में ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवत उसी ग्रथकार की एक रचना 'हरिवश चरित्र' भी थी जो अब अप्राप्य है। यदि वह रही हो तो प्रस्तुत रचना उस पर आधारित अनुमान की जा सकती है। ग्रथ मे जो चारु-दत्त और वसन्तसेना का वृत्तान्त विस्तार से आया है, आश्चर्य नहीं, वही मृच्छ-

कटिक नाटक का आधार रहा हो। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

सकलकीर्ति (वि० स० १४५०-१५१०) कृत हरिवश पुराण ३९ सर्गो मे समाप्त हुआ है। इसके १५ मे अन्त तक के सर्ग उनके शिष्य जिनदास द्वारा लिखे गये है। इसमे रविषेण और जिनसेन का उल्लेख है, और उन्ही की कृतियो के आधार से यह ग्रथ-रचना हुई प्रतीत होती है। शुभचन्द्र कृत पाण्डव-पुराण (१५५१ ई०) जैन महाभारत भी कहलाता है, और उसमे जिनसेन व गुणभद्र कृत पुराणो के आधार से कथा वर्णन की गई है।

मलधारी देवप्रभसूरि कृत पाण्डव-चरित्र (ई० १२०० के लगभग) मे १८ सर्ग है, और उनमे महाभारत के १८ पर्वो का कथानक सक्षेप मे वर्णित है। छठे सर्ग मे द्यूत-क्रीडा का वर्णन है, और यहा विदुर द्वारा द्यूत के दुष्परिणाम के उदाहरण रूप नल-कूवर (नल-दमयन्ती) की कथा कही गई है। कूवर नल का भाई था। १६ वें सर्ग मे अरिष्टनेमि तीर्थंकर का चरित्र आया है, और १८ वे में उनके व पाण्डवो के निर्वाण तथा बलदेव के स्वर्ग-गमन का वृत्तान्त है। इस पुराण का गद्यात्मक रूपान्तर राजविजय सूरि के शिष्य देवविजय गणी (१६० ई०) कृत पाया जाता है। इसमे यत्र-तत्र देवप्रभ की कृति से तथा अन्यत्र से कुछ पद्य भी उद्धत किये गये है।

सस्कृत मे तीसरी महत्वपूर्ण पौराणिक रचना महापुराण है। इसके दो भाग है—एक आदिपुराण और दूसरा उत्तरपुराण। आदिपुराण मे ४७ पर्व या अध्याय हैं, जो समस्त १२००० श्लोक प्रमाण हैं। इनमे के ४२ पर्व और ४३ वे पर्व का कुछ भाग जिनसेन कृत है, और शेष आदि पुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र द्वारा की गई है। यह समस्त रचना शक सवत् ८२० से पूर्व समाप्त हो चुकी थी। आदिपुराण की उत्थानिका मे पूर्वगामी सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रीदत्त, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटाचार्य, काणभिक्षु, देव (देवनदि पूज्यपाद) भट्टाकलंक, श्रीपाल, पात्रकेसरि, वादीभसिह, वीरसेन, जयसेन और कवि परमेश्वर, इन आचार्यो की स्तुति की गई है। गुणाढ्य कृत वृहत्कथा का भी उल्लेख आया है। आदिपुराण पूरा ही प्रथम तीर्थंकर आदि-नाथ के चरित्र-वर्णन मे ही समाप्त हो गया है। इसमे समस्त वर्णन बडे विस्तार से हुए हैं, तथा भाषा और शैली के सौष्ठव एव अलकारादि काव्य गुणो से परिपूर्ण है। जैनधर्म सम्बन्धी प्राय समस्त जानकारी यहा निबद्ध कर दी गई है, जिसके कारण ग्रथ एक ज्ञानकोष ही बन गया है। शेष तेईस तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषो का चरित्र उत्तरपुराण मे अपेक्षाकृत सक्षेप से वर्णित है। इस

प्रकार मर्वप्रथम इस ग्रथ मे त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित्र विधिवत् एक साथ वर्णित पाया जाता है। उत्तर पुराण के ६८ वे पर्व मे राम का चरित्र आया है, जो विमलसूरि कृत पउमचरिय के वर्णन से वहुत वोतो में भिन्न है। उत्तर पुराण के अनुमार राजा दशरथ काशी देश मे वाराणसी के राजा थे, और वही राम का जन्म रानी सुबाला से तथा लक्ष्मण का जन्म कैकेयी के गर्भ से हुआ था। सीता मदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, किन्तु उसे अनिष्टकारिणी जान रावण ने मजूषा मे रख कर मरीचि के द्वारा मिथिला मे जमीन के भीतर गडवा दिया, जहा से वह जनक को प्राप्त हुई। दशरथ ने पीछे अपनी राजधानी अयोध्या मे स्थापित कर ली थी। जनक ने यज्ञ मे निमत्रित करके राम के साथ सीता का विवाह कर दिया। राम के वनवास का यहा कोई उल्लेख नही। राम अपने पूर्व पुरुषो की भूमि वनारस को देखने के लिये सीता सहित वहा आये, और वहा के चित्रकूट वन से रावण ने सीता का अपहरण किया। यहा सीता के आठ पुत्रो का उल्लेख है, किन्तु उनमे लव-कुश का कही नाम नहीं। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए, तव राम ने उन्ही के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजा तथा अपने पुत्र अजितजय को युवराज वनाकर मीतासहित जिन दीक्षा धारण कर ली। इस प्रकार इस कथा का स्रोत पउमचरिय से सर्वथा भिन्न पाया जाता है। इसकी कुछ वाते वौद्ध व वैदिक परम्परा की रामकथाओ मे मेल खाती हैं, जैसे पालि की दशरथ जातक मे भी दशरथ को वाराणसी का राजा कहा गया है। अद्भुत रामायण के अनुसार भी सीता का जन्म मदोदरी के गर्भ से हुआ था। किन्तु यह गर्भ उसे रावण की अनुपस्थिति मे उत्पन्न होने के कारण, छुपाने के लिये वह विमान मे वैठकर कुरुक्षेत्र गई, और उस गर्भ को वहा जमीन मे गडवा दिया। वही से वह जनक को प्राप्त हुई। उत्तरपुराण की अन्य विशेष वातो के स्रोतो का पता लगाना कठिन है। इस रचना मे समव जितने महापुरुषो के नाम वैदिक पुराणो के अनुसार ही हैं, और नाना सस्कारो की व्यवस्था पर भी उस परम्परा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। जयधवला की प्रशस्ति मे जिनसेन ने अपना वडा सुन्दर वर्णन दिया है। उनका कर्ण-छेदन ज्ञान की शलाका से हुआ था। वे शरीर से कृश थे, किन्तु तप से नही। वे आकार से वहुत सुन्दर नही थे, तो भी सरस्वती उनके पीछे पडी थी, जैसे उसे अन्यत्र कही आश्रय न मिलता हो। उनका समय निरन्तर ज्ञान की आराधना मे व्यतीत होता था, और तत्वदर्शी उन्हे ज्ञान का पिंड कहते थे। इत्यादि। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, से प्रकाशित)

इसके पश्चात् हेमचन्द्र द्वारा त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष-चरित

काव्य की रचना हुई। यह गुजरात नरेश कुमारपाल की प्रार्थना से लिखा गया था, और ई० सन् ११६० व ११७२ के बीच पूर्ण हुआ। इसमे दस पर्व हैं, जिनमे उक्त चौबीस तीर्थंकरादि त्रेसठ महापुरुषो का चरित्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के सातवें पर्व मे राम-कथा वर्णित है, जिसमे प्राकृत 'पउमचरिय तथा सस्कृत पद्मपुराण का अनुसरण किया गया है। दसवें पर्व मे महावीर तीर्थंकर का जीवन चरित्र वर्णित है, जो स्वतत्र प्रतियो के रूप मे भी पाया जाता है। इसमे सामान्यत' आचाराग व कल्पसूत्र मे वर्णित वृत्तान्त समाविष्ट किया गया है। हा, मूल घटनाओं का विस्तार व काव्यत्व हेमचन्द्र का अपना है। यहा महावीर के मुख से वीर निर्वाण से १६६६ वर्ष पश्चात् होने वाले आदर्श नरेश कुमारपाल के सम्बन्ध की भविष्य वाणी कराई गई है। इसमे राजा श्रेणिक, युवराज अभय एव रौहिणेय चोर आदि की उपकथाए भी अनेक आई हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग परिशिष्ट पर्व यथार्थत , एक स्वतत्र ही रचना है, और वह ऐतिहासिक दृष्टि से बडी महत्वपूर्ण है। इसमे महावीर के पश्चात् उनके केवली शिष्यो तथा दशपूर्वी आचार्यों की परम्परा पाई जाती है। इस भाग को 'स्थविरावली चरित' भी कहते हैं। यह केवल आचार्यों की नामावली मात्र नही है, किन्तु यहां उनसे सबद्ध नाना लम्बी लम्बी कथाए भी कही गई हैं, जो उनसे पूर्व आगमो की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि टीकाओ से और कुछ सम्भवत मौखिक परम्परा पर से सकलित की गई है। इनमे स्थूलभद्र और कोषा वेश्या का उपाख्यान, कुवेरसेना नामकगणिका के कुवेरदत्त और कुवेरदत्ता नामक पुत्र-पुत्रियो मे परस्पर प्रेम की कथा, आर्य स्वयम्भव द्वारा अपने पुत्र मनक के लिये दशवैकालिका सूत्र की रचना का वृत्तान्त, तथा आगम के सकलन से सबध रखनेवाले उपाख्यान, नद राजवश सबधी कथानक, एव चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा उस राजवश के मूलोच्छेद का वृत्तान्त आदि अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकर्ता ने अपने इस पुराण को महाकाव्य कहा है। यद्यपि रचना बहुभाग कथात्मक है, और पुराणो की स्वाभाविक सरल शैली का अनुसरण करता है, तथापि उसमे अनेक स्थानो पर रस, भाव व अलकारो का ऐसा समावेश है, जिससे उसका महाकाव्य पद भी प्रमाणित होता है।

तेरहवी शती मे मालवा के सुप्रसिद्ध लेखक पडित आशाधर कृत 'त्रिषष्ठि-स्मृति-शास्त्र' मे भी उपर्युक्त ६३ शलाका पुरुषो का चरित्र अपेक्षाकृत सक्षेप से वर्णन किया गया है, जिससे प्रधानत जिनसेन और गुणभद्र कृत महापुराण का अनुसरण पाया जाता है।

वायडगच्छीय जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत चतुर्विंशति-जिनचरित

(१३ वी शती) में १८०२ श्लोक २४ अध्यायो में विभाजित है, और उनमे क्रमश २४ तीर्थकरो का चरित्र वर्णन किया गया है। अमरचन्द्र की एक और रचना बालभारत भी है (प्र० बम्बई, १९२६)।

मेरुतु ग कृत महापुराण-चरित के पाच सर्गो में ऋषभ, शाति, नेमि, पार्श्व और वर्द्धमान, इन पाच तीर्थंकरो का चरित्र वर्णित है। इस पर एक टीका भी है, जो सम्भवत स्वोपज्ञ है और उसमें उक्त कृति को 'काव्योपदेश शतक' व 'धर्मोपदेश शतक' भी कहा गया है। मेरुतु ग की एक अन्य रचना प्रबन्ध-चिन्तामणि १३०६ ई० मे पूर्ण हुई थी, अतएव वर्तमान रचना भी उसी समय के आसपास लिखी गई होगी। पद्मसुन्दर कृत रायमल्लाभ्युदय (वि० स० १६१५ अकबर के काल में चौधरी रायमल्ल की प्रेरणा से लिखा गया है, और उसमें २४ तीर्थंकरो का चरित्र वर्णित है। एक दामनन्दि कृत पुराणसार-सग्रह भी अभी दो भागो मे प्रकाशित हुआ है, जिसमे शलाका पुरुषो का चरित्र अतिसक्षेप में सस्कृत पद्यो मे कहा गया है। तीर्थंकरो के जीवन-चरित सम्बन्धी कुछ पृथक-पृथक सस्कृत काव्य इस प्रकार है :—प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जीवन-चरित्र चतुर्विशति-जिनचरित के कर्ता अमरचन्द्र ने अपने पद्मानद काव्य मे १९ सर्गो मे लिखा है। काव्य को उक्त नाम देने का कारण यह है कि वह पद्म नामक मत्री की प्रार्थना से लिखा गया था। काव्य मे कुल ६२८१ श्लोक हैं। (प्र० बडौदा, १९३२) आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर वीरनदि, वासुपूज्य पर वर्द्धमान सूरि और विमलनाथ पर कृष्णदास रचित काव्य मिलते है। १५ वे तीर्थंकर धर्मनाथ पर हरिचन्द्र कृत 'धर्मशर्माभ्युदय' एक उत्कृष्ट सस्कृत काव्य है, जो सुप्रसिद्ध सस्कृत काव्य माघकृत 'शिशुपाल वध' का अनुकरण करता प्रतीत होता है, तथा उस पर प्राकृत काव्य 'गउडवहो' एव सस्कृत 'नैषधीय चरित' का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह रचना ११ वी-१२ वी शती की अनुमान की जाती है। १६ वें तीर्थंकर शातिनाथ का चरित्र असग कृत (१० वी शती), देवसूरि (१२८२ ई०) के प्रशिष्य अजितप्रभ कृत, माणिक्यचन्द्र कृत (१३ वी शती) सकलकीर्ति कृत (१५ वी शती), तथा श्रीभूषण कृत (वि० स० १६५९) उपलब्ध हैं। विनयचन्द्र कृत मल्लिनाथ चरित ४००० से अधिक श्लोकप्रमाण पाया जाता है। २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र सूराचार्य कृत (११ वी शती) और मलधारी हेमचन्द्र कृत (१३ वी शती) पाये जाते है। वाग्भट्ट कृत नेमि-निर्वाण काव्य (१२ वी शती) एक उत्कृष्ट रचना है, जो १५ सर्गो में समाप्त हुई है। सगन के पुत्र विक्रम कृत नेमिदूतकाव्य एक विशेष कलाकृति है, जिसमें राजीमती के विलाप का वर्णन किया गया है। यह एक

समस्यापूर्ति काव्य है, जिसमें कालिदास कृत मेघदूत की पंक्तियां प्रत्येक पद्य के अन्तचरण में निबद्ध कर ली गई है। पार्श्वनाथ पर प्राचीन संस्कृत काव्य जिन-सेन कृत (९ वीं शती) पार्श्वाभ्युदय है। इसमें उत्तम काव्य रीति से समस्त मेघदूत के एक-एक या दो-दो चरण प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिये गये हैं। पार्श्वनाथ का पूर्ण चरित्र वादिराजकृत (१०२५ ई०) पार्श्वनाथ चरित में पाया जाता है। इसी चरित्र पर १३ वीं व १४ वीं शती में दो काव्य लिखे गये, एक माणिक्यचन्द्र द्वारा (१२१९ ई०) और दूसरा भावदेव सूरि द्वारा (१३५५ ई०)। भावदेव कृत चरित का अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है। १५ वीं शती में सकलकीर्ति ने व १६ वीं शती में पद्मसुन्दर और हेमविजय ने संस्कृत में पार्श्वनाथ चरित्र बनाये। १६ वीं शती में ही श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पार्श्वपुराण की रचना की। विनयचन्द्र और उदयवीरगणि कृत पार्श्वनाथ चरित्र मिलते हैं। इनमें से उदयवीर की रचना संस्कृत गद्य में हुई है। महावीर के चरित्र पर १८ सर्गों का सुन्दर संस्कृत काव्य वर्धमान चरित्र (शक ९१०) असग कृत पाया जाता है। गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में तथा हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठि शलाका पुरुष च० के दशवें पर्व में जो महावीर चरित्र वर्णित है, वह स्वतन्त्र प्रतियों में भी पाया और पढ़ा जाता है। सकलकीर्ति कृत वर्धमानपुराण (वि० सं० १५१८) १९ सर्गों में है। पद्मनन्दि, केशव और वाणीवल्लभ कृत वर्धमान पुराण भी पाये जाते हैं।

जैन तीर्थंकरों के उपर्युक्त चरित्रों में से अधिकांश संस्कृत महाकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी विषयात्मक रूप-रेखा का विवरण उनके प्राकृत चरित्रों के प्रकरण में दिया जा चुका है। भाव और शैली में वे उन सब गुणों से संयुक्त पाये जाते हैं, जो कालिदास, भारवि, माघ, आदि महाकवियों की कृतियों में पाये जाते हैं, तथा जिनका निरूपण काव्यादर्श आदि साहित्य-शास्त्रों में किया गया है, जैसे, उनका सर्गबन्ध होना, आशी:, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश पूर्वक उनका प्रारम्भ किया जाना, तथा उनमें नगर, वन, पर्वत, नदियों तथा ऋतुओं आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों एवं रसों, श्रृंगारात्मक हाव, भाव, विलासों; तथा सम्पत्ति-विपत्ति में व्यक्ति के सुख-दुःखों चढ़ाव-उतार का कलात्मक हृदयग्राही चित्रण का समावेश किया जाना। विशेषता इन काव्यों में इतनी और है कि उनमें यथास्थान धार्मिक उपदेश का भी समावेश किया गया है। तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त नाना अन्य सामाजिक महापुरुषों व स्त्रियों को चरित्र-चित्रण के नायक-नायिका बनाकर व यथासम्भव भाषा, शैली व भावों में काव्यत्व की रक्षा करते हुए जो अनेक रचनायें

जैन साहित्य मे पाई जाती हैं, वे कुछ पूर्णरूप से पद्यात्मक हैं, कुछ गद्य और पद्य दोनो के उपयोग सहित चम्पू की शैली के हैं, और कुछ बहुलता से गद्यात्मक हैं, जिनका सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक चम्पू (शक ८८१) उत्कृष्ट सस्कृत गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसका कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है, और पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश-जसहर चरिउ के परिचय मे दिया जा चुका है। अन्तिम तीन अध्यायो मे गृहस्थ धर्म का सविस्तार निरूपण है, और उपासकाध्ययन के नाम से एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसी कथानक पर वादिराज सूरि कृत यशोधर चरित (१० वी शती) चार सर्गात्मक काव्य, तथा वासवसेन (१३ वी शती) सकलकीर्ति (१५ वी शती) सोमकीर्ति (१५ वी शती) और पद्मनाभ (१६-१७ वी शती) कृत काव्य पाये जाते हैं। मणिक्यसूरि (१४ वी शती) ने भी यशोधर-चरित सस्कृत पद्य मे रचा है, और अपनी कथा का आधार हरिभद्र कृत कथा को बतलाया है। क्षमाकल्याण ने यशोधर-चरित की कथा को सस्कृत गद्य मे सवत् १८३९ मे लिखा और स्पष्ट कहा है कि यद्यपि इस चरित्र को हरिभद्र मुनीन्द्र ने प्राकृत मे तथा दूसरो ने सस्कृत पद्य मे लिखा है, किन्तु उनमे जो विषमत्व है, वह न रहे, इसलिये मैं यह रचना गद्य मे करता हू। हरिभद्र कृत प्राकृत यशोधर चरित के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि कर्ता के सम्मुख वह रचना थी, किन्तु आज वह अनुपलभ्य है। हरिचन्द्र कृत जीवधर चम्पू (१५ वी शती) में वही कथा काव्यात्मक सस्कृत गद्य-पद्य में वर्णित है, जो गुणभद्र कृत उत्तरपुराण (पर्व ७५), पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश पुराण (सधि ९८), तथा ओडेयदेव वादीभसिंह कृत गद्यचिन्तामणि एव वादीभसिंह कृत क्षत्रचूडामणि मे पाई जाती है। इस अन्तिम काव्य के अनेक श्लोक प्रस्तुत रचना मे प्राय ज्यो के त्यो भी पाये जाते हैं। अन्य बातो मे भी इस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि के कर्ता दोनो वादीभसिंह एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न, यह अभी तक निश्चयत नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे कुछ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमे कर्ता के नाम के साथ ओडेयदेव का व गुरुपुष्पसेन का उल्लेख नही है। रचनाशैली व शब्द-योजना भी दोनों ग्रन्थो की भिन्न है। गद्यचिन्तामणि की भाषा ओजपूर्ण है, जबकि क्षत्रचूडामणि की बहुत सरल, प्रसादगुणयुक्त है, और प्राय प्रत्येक श्लोक के अर्धभाग मे कथानक और द्वितीयार्ध मे नीति का उपदेश रहता है।

विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र कृत जीवधर-चरित्र (वि० स० १५९६) पाया

जाता है । देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि कृत सनत्कुमार-चरित्र (वि० स० १२१४) मे उन्ही चक्रवर्ती का चरित्र वर्णित है, जिनका उल्लेख उक्त नाम की प्राकृत रचना के सम्बन्ध मे किया जा चुका है । इसी नाम का एक और सस्कृत काव्य जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य तथा जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपाल कृत प्रकाश मे आ चुका है । मलधारी देवप्रभ कृत मृगावती-चरित्र (१२वी शती) सस्कृत पद्यात्मक रचना है और उसमे उदयन-वासवदत्ता का कथानक वर्णित है। मृगावती उदयन की माता, राजा चेटक की पुत्री थी, और महावीर तीर्थंकर की उपासिका थी । उसकी ननद जयन्ती ने तो महावीर से नाना प्रश्न किये थे और अन्त मे प्रवृज्या ले ली थी । जिसका वृत्तान्त भगवती के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश मे पाया जाता है उक्त कथा के आश्रय से प्रस्तुत ग्रन्थ मे नाना उपकथाएँ वर्णित हैं । मलधारी देवप्रभ पाण्डव-चरित्र के भी कर्ता है । जिनपति के शिष्य पूर्णभद्र कृत धन्य-शालिभद्र चरित्र (वि० स० १२८५) ६ परिच्छेदों व १४६० श्लोको मे समाप्त हुआ है । इस रचना मे कवि की सर्वदेवसूरि ने सहायता की थी । इस काव्य मे धन्य और शालिभद्र के चरित्रो का वर्णन किया गया है । धन्य-शालि चरित्र भद्रगुप्त कृत (वि० स० १४२८), जिनकीर्ति कृत (१५वी शती) व दयावर्द्धन कृत (१५वी शती) भी पाये जाते हैं । धर्मकुमार कृत शालिभद्र-चरित (१२७७ ई०) मे ७ सर्ग हैं । कथानक हेमचन्द्र के महावीरचरित मे से लिया गया है, और काव्य की रीति से छन्द व अलकारो के वैशिष्टय सहित वर्णित है । लेखक की कृति को प्रद्युम्न सूरि ने सशोधित करके उसके काव्य-गुणो को और भी अधिक चमका दिया है । शालिभद्र महावीर तीर्थंकर के समय का राजगृह-निवासी धनी गृहस्थ था, जो प्रत्येक बुद्ध हुआ । चन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि कृत वसन्त-विलास (वि० स० १२९६) १४ सर्गो मे समाप्त हुआ है, और इसमे गुजरात नरेश वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का चरित्र वर्णन किया गया है (बडौदा, १९१७) । इसी के साथ श्रीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखर कृत वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध भी प्रकाशित है । वस्तुपाल मन्त्री और उनके भ्राता तेजपाल ने आबू के मन्दिर बनवा कर, तथा अन्य अनेक जैनधर्म के उत्थान सम्बन्धी कार्यो द्वारा अपना नाम जैन सम्प्रदाय मे अमर बना लिया है । उक्त रचनाओ के द्वारा उनके चरित्र पर जयचन्द्र के शिष्य जिनहर्ष गणि कृत (वि० स० १४९७, प्रका० भावनगर, १९७४) तथा वर्धमान, सिंहकवि, कीर्तिविजय आदि कृत रचनाएँ भी मिलती हैं । इनके अतिरिक्त उनकी संस्कृत प्रशस्तिया जयसिंह, बालचन्द्र, नरेन्द्रप्रभ आदि द्वारा रचित मिलती हैं ।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य चन्द्रतिलक कृत अभयकुमार-चरित्र (वि० स०

१३१२) नौ सर्गों मे समाप्त हुआ है। कवि के उल्लेखानुसार उन्हे सूरप्रभ ने विद्यानन्द व्याकरण पढाया था। (प्र० भावनगर, १९१७)।

सकलकीर्ति कृत अभयकुमार-चरित का भी उल्लेख मिलता है। धनप्रभ सूरि के शिष्य सर्वानन्द सूरि कृत जगडु-चरित्र (१३ वी शती) ७ सर्गों का काव्य है, जिसमे कुल ३८८ पद्य हैं। इस काव्य का विशेष महत्व यह है कि उसमे वीसलदेव राजा का उल्लेख है, तथा वि० स० १३१२-१५ के गुजरात के भीषण दुर्भिक्ष का वर्णन किया गया है। रचना उस काल के समीप ही निर्मित हुई प्रतीत होती है।

कृष्णर्षि गच्छीय महेन्द्रसूरि के शिष्य जयसिंहसूरि कृत (वि० स० १४२२) कुमारपाल-चरित्र १० सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमे उन्ही गुजरात के राजा कुमारपाल का चरित्र व धार्मिक कृत्यों का वर्णन किया गया है, जिन पर हेमचन्द्र ने अपना कुमारपाल चरित नामक द्वयाश्रय प्राकृत काव्य लिखा। सस्कृत में अन्य कुमारपाल चरित रत्नसिंह सूरि के शिष्य चारित्रसुन्दर गणि कृत (वि० स० १४८७), धनरत्नकृत (वि० स० १५३७) तथा सोमविमल कृत और सोमचन्द्र गणि कृत भी पाये जाते है। मेरुतुंग के शिष्य माणिक्यसुन्दर कृत महीपाल-चरित्र (१५ वी शती) एक १५ सर्गात्मक काव्य है जिसमें वीरदेवगणि कृत प्राकृत महिवालकहा के आधार पर उस ज्ञानी और कलाकुशल महीपाल का चरित्र वर्णन किया गया है, जिसने उज्जैनी मे निर्वासित होकर नाना प्रदेशो मे अपनी रत्न-परीक्षा, वस्त्र-परीक्षा व पुरुष-परीक्षा मे निपुणता के चमत्कार दिखा कर धन और यश प्राप्त किया। वृत्तान्त रोचक और शैली सरल, सुन्दर और कलापूर्ण है।

भक्तिलाभ के शिष्य चारुचन्द कृत उत्तमकुमार-चरित्र ६८६ पद्यो का काव्य है जिसमे एक धार्मिक राजकुमार की नाना साहसपूर्ण घटनाओ और अनेक अवान्तर कथानकों का वर्णन है। इसके रचना-काल का निश्चय नही हो सका। इसी विषय की दो और पद्यात्मक रचनायें मिलती है। एक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जिनकीर्ति कृत और दूसरी सोमसुन्दर के प्रशिष्य व रत्नशेखर के शिष्य सोममण्डन गणी कृत। ये आचार्य तपागच्छ के थे। पट्टावली के अनुसार सोम-सुन्दर को वि० स० १४५७ मे सूरिपद प्राप्त हुआ था। एक और इसी विषय की काव्यरचना शुभशीलगणी कृत पाई जाती है। चारुचन्द्र कृत उत्तमकुमार-कथा का एक गद्यात्मक रूपान्तर भी है। वेबर ने इसका सम्पादन व जर्मन भाषा मे अनुवाद सन् १८८४ मे किया है।

कृष्णर्षि गच्छ के जयसिंहसूरि की शिष्य-परम्परा के जयचन्द्रसूरि (१५ वी

शती) कृत हम्मीर-काव्य १४ सर्गो मे समाप्त हुआ है, और उसमे उस हम्मीर वीर का चरित्र वर्णन किया गया है, जो सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ सन् १३०१ मे वीरगति को प्राप्त हुआ। काव्य लिखने का कारण स्वय कवि ने यह बताया है कि तोमर वीरम की सभा मे यह कहा गया था कि प्राचीन कवियो के समान काव्य-रचना की शक्ति अब किसी मे नही है। इसी बात के खडन के लिये कवि ने शृ गार, वीर और अद्भुत रसो से पूर्ण तथा अमरचन्द्र के सदृश लालित्य व श्रीहर्ष की वक्रिमा से युक्त यह काव्य लिखा। जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि कृत चतुर्विंशति-जिन-चरित, पद्मानन्द-काव्य और बाल भारत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

ब्रम्हनेमिदत्त कृत श्रीपाल-चरित (सन् १५२८ ई०) मे ६ सर्गो में राजकुमारी मदनसुन्दरी के कुष्ट व्याधि से पीडित श्रीपाल के साथ विवाह, और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उसके निरोग होने की कथा है, जिसका परिचय उसी नामके प्राकृत काव्य के सम्बन्ध मे दिया जा चुका है। श्रीपाल का कथानक जैन समाज मे इतना लोकप्रिय हुआ है कि उस पर प्राकृत, अपभ्र श और सस्कृत की कोई ३०-४० रचनायें मिलती हैं। (देखिये जिनरत्नकोश- डॉ वेलकर कृत)

नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरि के शिष्य उदयप्रभ कृत धर्माभ्युदय चौदह सर्गो का महाकाव्य है, जिसमे गुजरात के राजा वीरधवल के सुप्रसिद्ध मत्री वस्तुपाल के चरित्र का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। सिद्धर्षि कृत उपमितिभव-प्रपचकथा (९०६ ई०) सस्कृत गद्य की एक अनुपम रचना है, जिसमे भावात्मक सज्ञाओ को मूर्तिमान् स्वरूप देकर धर्मकथा व नाना अवान्तर कथाए कही गई हैं। उदाहरण के लिये-- यहा नगर मनन्तपुर व निवृत्तिपुर है, राजा कर्मपरिणाम, रानीकाल परिणति, साधु सदागम; व अन्य व्यक्ति ससारी निष्पुण्यक आदि। इसे पढते हुए अग्रेजी की जॉन बनयन कृत 'पिल्ग्रिम्सप्रोग्रेस' का स्मरण हो आता है, जिसमे रूपक की रीति से धर्मवृद्धि, और उसमे आने वाली विघ्न-बाधाओ की कथा कही गई है। इस कृति का जैन ससार मे बडा आदर व प्रचार हुआ, और उसके सार रूप अनेक रचनाए निर्मित हुई, जैसे वर्धमानसूरि कृत उपमिति-भवप्रपचा-सार-समुच्चय (११वी शती) देवेन्द्रकृत उ० सारोद्धार (१३ वी शती), हसरत्नसूरि कृत सारोद्धार आदि।

सस्कृत गद्यात्मक आख्यानो मे धनपाल कृत तिलकमजरी (९७० ई०) की भाषा व शैली बडी ओजस्विनी है। अमरसुन्दर कृत अबडचरित्र बडी विलक्षण कथा है। कथानायक अबड शैवधर्मी है और मत्र-तत्र के बल से गोरखा

देवी द्वारा निर्दिष्ट सात दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाता, ३२ सुन्दरियों से विवाह करता और अपार धन व राज्य पाता है। अतत उपदेश पाकर वह जैन धर्म मे दीक्षित और प्रवृजित होकर सल्लेखना विधि से मरण करता है। अवड नाम के तात्रिक का नाम ओवाइय उपाग मे आता है, किन्तु उक्त कथानक इसी कर्ता की कल्पना है। अमरसुन्दर का नाम वि० स० १४५७ मे सूरिपद प्राप्त करनेवाले सोमसुन्दर गणी के शिष्यो मे आता है, और वहा उन्हे 'सस्कृत-जल्प पटु' कहा गया है। इस कथानक का जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। यही कथा हर्ष समुद्र वाचक (१६ वी शती) व जयमेरु कृत भी मिलती है।

ज्ञानसागर सूरि कृत रत्नचूड कथा (१५वी शती) का यद्यपि देवेन्द्रसूरि कृत प्राकृत कथा से नामसाम्य है, तथापि यह कथा उससे सर्वथा भिन्न है। यहा अनीतपुर के अन्यायी राजा और दुर्बुद्धि मत्री का वृत्तान्त है। उस नगरी मे चोरो और धूर्तों के सिवाय कोई धार्मिक व्यक्ति नही रहते। कथा मे नाना उपकथानक भरे है। रोहक अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा जैसे दुष्कर कार्य करके दिखलाता है, उनसे पालि की महा-उम्मग्ग जातक में वर्णित महोसध नामक पुरुष के अद्भुत कारनामो का स्मरण हो आता है। रत्नचूड के विदेश के लिये प्रस्थान करते समय उसके पिता के द्वारा दिये गये उपदेशो में एक ओर व्यवहारिक चातुरी, और दूसरी ओर अन्धविश्वासो का मिश्रण है। महापुरुष के ३२ चिह्न भी इसमें गिनाये गये हैं।

अघटकुमार-कथा में जिनकीर्ति कृत चम्पक श्रेष्ठि-कथानक के सदृश पत्र-विनिमय द्वारा नायक के मृत्यु से बचने की घटना आई है। इसका जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। इसके दो पद्यात्मक सस्करण भी मिलते हैं, किन्तु किसी के भी कर्ता का नाम नही मिलता, और रचना काल भी अनिश्चित है। यह अनुमानत १५-१६ वी शती की रचना है।

जिनकीर्ति कृत चम्पकश्रेष्ठिकथानक (१५ वी शती) का आख्यान सुप्रसिद्ध है। इसमें ठीक समय पर पत्र मिल जाने से सौभाग्यशाली नायक मृत्यु के मुख मे से बच जाता है। कथा के भीतर तीन और सुन्दर उपाख्यान हैं। यह कथा मेरुतु ग की प्रबन्ध चिन्तामणि व अन्य कथाकोषो में भी मिलती है। इसका सम्पादन व प्रकाशन अग्रेजी मे हर्टेल द्वारा हुआ है। जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जिनकीर्ति की इसीप्रकार की दूसरी रचना पाल-गोपालकथानक है, जिसमे उक्त नाम के दो भ्राताओ के परिभ्रमण व नानाप्रकार के साहसो व प्रलोभनो को पार कर, अन्त में धार्मिक जीवन व्यतीत करने का रोचक वृत्तान्त है।

माणिक्यसुन्दर कृत महाबल-मलयसुन्दरी कथा (१५वीं शती) संस्कृत गद्य मे लिखी गई है और उपाख्यानो का भडार है।

जयविजय के शिष्य मानविजय कृत पापबुद्धि-धर्मबुद्धि-कथा का दूसरा नाम कामघट कथा है इस स स्कृत गद्यात्मक कथानक के रचयिता हीरविजय सूरि द्वारा स्थापित विजयशाखा में हुए प्रतीत होते है, अतएव उनका काल १६-१७ वी शती अनुमान किया जा सकता है। इसके कथानायक सिद्धर्षिकृत उपमिति भव प्रपचा कथा के अनुसार भावात्मक व कल्पित हैं। वे क्रमश राजा और मत्री हैं। राजा धन और ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझता है, और मंत्री धर्म को। अन्तत मुनि के उपदेश से वे सम्बोधित और प्रव्रजित होते हैं। यह कथानक यथार्थत कर्ता की बडी रचना धर्म-परीक्षा का एक खडमात्र है। इसका सम्पादन व इटैलियन अनुवाद लोवरिनी ने किया है।

कुछ रचनाए पृथक उल्लेखनीय हैं क्योंकि उनमे तीर्थ आदि स्थानो व पुरुषो के सम्बन्ध मे कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त भी पाया जाता है जो प्राचीन इतिहास-निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसी कुछ कृतिया निम्नप्रकार है –

धनेश्वरसूरि कृत शत्रु जय-माहात्म्य (७-८वी शती) स्वय कर्ता के अनुसार सौराष्ट्र नरेश शीलादित्य के अनुरोध से वलभी मे लिखा गया था। इसमे १४ सर्ग है, और वैदिक परम्परा के पुराणो की शैली पर शत्रु जय तीर्थ का माहात्म्य वर्णन किया गया है। लोक-वर्णन के पश्चात् तीर्थंकर ऋषभ व उनके भरत और बाहुबली पुत्रो का तथा भरत द्वारा मन्दिरो की स्थापना का वृत्तान्त है। ९ वें सर्ग मे रामकथा व १० से १२ वे सर्ग तक पाडवो, कृष्ण और नेमिनाथ का चरित्र, और १४ वें मे पार्श्व और महावीर का चरित्र आया है। यहा भीमसेन के सबध का बहुत सा वृत्तान्त ऐसा है, जो महाभारत से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

प्रभाचन्द्र कृत प्रभवाक-चरित्र (१२७७ ई०) मे २२ जैन आचार्यो व कवियो के चरित्र वर्णित हैं, जिनमे हरिभद्र, सिद्धर्षि, बप्पभट्टि, मानतु ग, शान्तिसूरि और हेमचन्द्र भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व की पूरक रचना कही जा सकती है, और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी हैं। इस का भी सशोधन प्रद्युम्न सूरि द्वारा किया गया था।

प्रभाचन्द्र के प्रभावक-चरित्र की परम्परा को मेरुतु ग ने अपने प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०६ ई०) तथा राजशेखर ने प्रबन्धकोष (१३४९ ई०) द्वारा प्रचलित रखा। इनमे बहुभाग तो काल्पनिक है, तथापि कुछ महत्वपूर्ण ऐति-

हासिक बातें भी पाई जाती है, विशेषत लेखकों के समीपवर्ती काल की। राजशेखर की कृति मे २४ व्यक्तियो के चरित्र वर्णित हैं, जिनमे राजा श्रीहर्ष और आचार्य हेमचन्द्र भी हैं, जिसप्रकार प्रभाचन्द्र, मेरुतुग और राजशेखर के प्रबन्धो मे हमे ऐतिहासिक पुरुषो का चरित्र मिलता है, उसी प्रकार जिनप्रभसूरि कृत तीर्थकल्प या कल्पप्रदीप और राजप्रासाद (लगभग १३३० ई०) मे जैन तीर्थों के निर्माण, उनके निर्माता व दानदाताओ आदि का वृत्तान्त मिलता है। रचना मे सस्कृत व प्राकृत का मिश्रण है।

जैन लघुकथाओ का सग्रह बहुलता से कथा-कोषो मे पाया जाता है, और उनमे पद्य, गद्य या मिश्ररूप से किसी पुरुष-स्त्री का चरित्र सक्षेप मे वर्णित कर, उसके सासारिक सुख-दुखों का कारण उसके स्वय कृत पुण्य-पापो का परिणाम सिद्ध किया गया है। ऐसे कुछ कथाकोष ये हैं —

हरिषेण कृत कथाकोष (शक ८५३) सस्कृत पद्यो मे रचा गया है, और उपलभ्य समस्त कथाकोषों मे प्राचीन सिद्ध होता है। इसमे १५७ कथायें है। जिनमे चाणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि, स्वामी कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इस कथा के अनुसार भद्रबाहु उज्जैनी के समीप भाद्रपद (भदावर ?) मे ही रहे थे, और उनके दीक्षित शिष्य राजा चन्द्रगुप्त, अपरनाम विशाखाचार्य, सघ सहित दक्षिण के पुन्नाट देश को गये थे। कथाओ मे कुछ नाम व शब्द, जैसे मेदज्ज (मेतार्य) विज्जदाढ (विद्युद्दष्ट्र), प्राकृत रूप मे प्रयुक्त हुए हैं, जिससे अनुमान होता है कि रचयिता कथाओं को किसी प्राकृत कृति के आधार से लिख रहा है। उन्होने स्वय अपने कथाकोष को 'आराधनोद्धृत' कहा है जिससे अनुमानत भगवती-आराधना का अभिप्राय हो। हरिषेण उसी पुन्नाट गच्छ के थे, जिसके आचार्य जिनसेन, और उन्होने उसी वर्धमानपुर मे अपनी ग्रथ-रचना की थी, जहा हरिवशपुराण की रचना जिनसेन ने शक ७०५ मे की थी। इससे सिद्ध होता है कि वहा पुन्नाट सघ का आठवी शताब्दी तक अच्छा केन्द्र रहा। यह कथाकोष बृहत्कथाकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अनुमानत उसके पीछे रचे जाने वाले कथाकोषो से पृथक करने के लिये यह विशेषण जोडा गया है।

अमितगति कृत धर्मपरीक्षा की शैली का मूल स्रोत यद्यपि हरिभद्र कृत प्राकृत धूर्ताख्यान है, तथापि यहा अनेक छोटे-बडे कथानक सर्वथा स्वतत्र व मौलिक हैं। ग्रथ का मूल उद्देश्य अन्य धर्मों की पौराणिक कथाओ की असत्यता को उनसे अधिक कृत्रिम, असभव व ऊटपटाग आख्यान कह कर सिद्ध करके, सच्चा धार्मिक श्रद्धान उत्पन्न करना है। इनमे धूर्तता और मूर्खता की कथाओ का बाहुल्य है।

प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष (१३ वी शती) सस्कृत गद्य मे लिखा गया है। इसमे भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलक के चरित्र भी वर्णित है। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष (१६ वी शती) पद्यात्मक है, और प्रभाचन्द्र कृत कथाकोप का कुछ विस्तृत रुपान्तर है। इसी प्रकार का एक अन्यसग्रह रामचन्द्र मुमुक्षु, कृत पुण्याश्रव कथाकोष है।

राजशेखर कृत अन्तर्कथा-सग्रह् (१४ वी शती) की कथाओ का सकलन आगम की टीकाओ पर से किया गया है। इसकी ८ कथाए पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा मे अनुवादित हुई है। इसकी एक कथा का 'जजमेट ऑफ सोलोमन' नाम से टेसीटोरी ने अग्रेजी अनुवाद किया है। (इ० एन्टी० ४२) उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, और वतलाया है कि उक्त कथा का ही यूरोप की कथाओ मे रूपान्तर हुआ है ।

लक्ष्मीसागर के शिष्य शुभशीलगणी (१५ वी शती) कृत पचशती प्रबोध-सम्बन्ध मे लगभग ६०० धार्मिक कथाए हैं, जिनमे नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि ऐतिहासिक पुरुषो के चरित्र भी है। इसी कर्ता का एक अन्य कथाकोष 'भरतादिकथा' नामक है।

जिनकीर्ति कृत दानकल्पद्रुम (१५वी शती मे दान की महिमा वतलाने वाली रोचक और विनोदपूर्ण अनेक लघु कथाओ का सस्कृत पद्यो मे सग्रह है। उदय धर्म कृत धर्मकल्पद्रुम (१५ वी शती) मे पद्यात्मक कथाए है।

सम्यकत्व-कौमुदी लघु कथाओ का एक कोप है। अर्हद्दास सेठ अपनी आठ पत्नियो को सुनाता है कि उसे किसप्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, और वे फिर पति को अपने अनुभव सुनाती है। इस चौखट्टे के भीतर बहुत से कथानक गूंथे गये है। सम्यत्व-कौमुदी नामकी अनेक रचनाये उपलब्ध है, जैसे जयचन्द्र-सूरि के शिष्य जिनहर्ष गणी कृत (वि० स० १४८७), गुणकरसूरि कृत (वि० स० १५०४) मल्लिभूषण कृत (वि० स० १५४४ के लगभग) सिहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि कृत (वि० स० १५७३) शुभचन्द्र कृत (वि० स० १६८० के लगभग), एव अज्ञात समय की वत्सराज, धर्मकीर्ति, मगरस, यश कीर्ति व वादिभूपण कृत।

हेमविजय कृत कथा-रत्नाकर (१६०० ई०) मे २५८ कथानक है जिनमें अधिकाश उत्तम गद्य मे, और कुछ थोडे से पद्य मे वर्णित है। यत्र-तत्र कृप्रात और अपभ्र श पद्य भी पाये जाते है। इस रचना की विशेषता यह है कि प्राय. आदि अन्त मे धार्मिक उपदेश की कडी जोडनेवाले पद्यो के अतिरिक्त कथाओ मे

जैनत्व का उल्लेख नही पाया जाता। कथाए व नीति वाक्य पचतत्र के ढाचे के हैं।

नाटक—

जैन मुनियो के लिये नाटक आदि विनोदो मे भाग लेना निषिद्ध है, और यही कारण है कि जैन साहित्य में नाटक की कृतिया बहुत प्राचीन नही मिलती। पश्चात् जब उक्त मुनि-चर्या का बधन उतना दृढ नही रहा, अथवा गृहस्थ भी साहित्य-रचना मे भाग लेने लगे, तब १३ वी शती से कुछ सस्कृत नाटको का सर्जन हुआ, जिनका कुछ परिचय निम्नप्रकार है —

रामचन्द्रसूरि (१३ वी शती) हेमचन्द्र के शिष्य थे। कहा जाता है कि उन्होने १०० प्रकरणो (नाटको) की रचना की, जिनमे से निर्भय-भीम-व्यायोग, नलविलास, और कौमुदी-मित्रानन्द प्रकाशित हो चुके हैं। रघुविलास नाटक की प्रतिया मिली हैं, तथा रोहिणीमृगांक व वनमाला के उल्लेख कर्ता की एक अन्य रचना नाट्यदर्पण में मिलते हैं। निर्भय-भीम-व्यायोग एक ही अक का है, और इसमें भीम द्वारा बक के वध की कथा है। नलविलास १० अको का प्रकरण हैं, जिसमें नल-दमयन्ती का चरित्र चित्रण किया गया है। तीसरे नाटक मे नायिका कौमुदी और उसके पति मित्रानन्द सेठ के साहसपूर्ण भ्रमण का कथानक है। यह मालती-माधव के जोड का प्रकरण है।

हस्तिमल्ल कृत (१२ वी शती) चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं–विक्रान्त-कौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण, और अजनापवनजय। कवि ने प्रस्तावना मे अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पिता गोविन्द, समन्तभद्र कृत देवागमस्तोत्र (आप्तमीमासा) के प्रभाव से, जैन-धर्मी हो गये थे। कवि ने अपने समय के पाण्ड्य राजा का उल्लेख किया है, पर नाम नही दिया। इतना ही कहा है कि वे कर्नाटक पर शासन करते थे। प्रथम दो नाटक महाभारत और शेष दो रामायण पर आधारित हैं, तथा कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के चरित्रानुसार है। हस्तिमल्ल के उदयनराज, भरत-राज, अर्जुनराज और मेघेश्वर, इन चार अन्य नाटको के उल्लेख मिलते है।

जिनप्रभ सूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वी शती) द्वारा रचित प्रबुद्ध-रौहि-णेय के छह अको मे नायक की चौर-वृत्ति व उपदेश पाकर धर्म में दीक्षित होने का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। यह नाटक चाहमान (चौहान) नरेश समर-सिंह द्वारा निर्मापित ऋषभ जिनालय मे उत्सव के समय खेला गया था।

यश पाल कृत मोहराज-पराजय (१३ वी शती) मे भावात्मक पात्रो के अति-

रिक्त राजा कुमारपाल भी आते हैं। राजा धर्मपरिवर्तन द्वारा जैन धर्म मे दीक्षित व कृपासुन्दरी से विवाहित होकर राज्य मे अहिंसा की घोषणा, तथा निस्सतान व्यक्तियो के मरने पर उनके धनके अपहरण का निषेध कर देता है राजा का विवाह करानेवाले पुरोहित हेमचन्द्र हैं। यह नाटक शाकबरी के चौहान राजा अजयदेव के समय मे रचा गया है।

वीरसूरि के शिष्य जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमदमर्दन के पाच अको मे राजा वीरधवल द्वारा म्लेच्छ राजा हम्मीर (अमीर-शिकार-सुल्तान सुमसुद्दुनिया) की पराजय का, और साथ ही वस्तुपाल और तेजपाल मन्त्रियो के चरित्र का वर्णन है। इसमे राजनीति का घटनाचक्र मुद्राराक्षस जैसा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १२८६ की मिली है, अत रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का सिद्ध होता है।

पद्मचन्द्र के शिष्य यशश्चन्द्र कृत मुद्रित-कुमुदचन्द्र नाटक मे पाच अक हैं, जिनमे अणहिलपुर मे जयसिंह चालुक्य की सभा मे (वि० स० ११८१) श्वेताम्बराचार्य देवसूरि व दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ कराया गया है। वाद के अन्त मे कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रित हो गया। रचनाकाल का निश्चय नही। सभवत कर्ता के गुरु वे ही पद्मचन्द्र है, जिनका नाम लघु पट्टावली (पट्टावली-समुच्चय, पृ० २०४) मे आया है, और जिनका समय अनुमानत १४- १५ वी शती है।

मुनिसुन्दर के शिष्य रत्नशेखर सूरि कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक मे भावात्मक पात्रो द्वारा चित्रण किया गया है। यह इसी नामके कृष्ण मिश्र रचित नाटक (११ वी शती) का अनुकरण प्रतीत होता है इसमे प्रबोध, विद्या विवेक आदि नामक पात्र उपस्थित किये गये हैं।

मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय स्वय कर्ता के उल्लेखानुसार एक छाया नाट्य प्रबन्ध है, जो पार्श्वनाथ जिनालय मे महोत्सव के समय खेला गया था। इसमे दर्शनभद्र मुनि का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। इसका जर्मन भाषा मे भी अनुवाद हुआ है।

हरिभद्र के शिष्य बालचन्द्र कृत करुणावज्रायुध नाटक मे वज्रायुध नृप द्वारा श्येन को अपने शरीर का मास देकर कपोत की रक्षा करने की कथा चित्रित है, जैसा कि हिन्दू पुराणो मे राजा शिवि की कथा मे पाया जाता है।

साहित्य-शास्त्र—

साहित्य के आनुषगिक शास्त्र हैं व्याकरण, छद और कोश। जैन परम्परा मे इन शास्त्रो पर भी महत्वपूर्ण रचनाए पाई जाती हैं।

व्याकरण-प्राकृत—

महर्षि पतजलि ने अपने महाभाष्य मे यह प्रश्न उठाया है कि जब लोक-प्रचलित भाषा का ज्ञान लोक से स्वय प्राप्त हो जाता है, तब उसके लिये शब्दानुशासन लिखने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने बतलाया है कि बिना शब्दानुशासन के शब्द और अपशब्द में भेद स्पष्टत समझ मे नही आता, और इसके लिये शब्दानुशासन शास्त्र की आवश्यकता है। जैन साहित्य का निर्माण आदित. जन-भाषा मे हुआ, और बहुत काल तक उसके अनुशासन के लिये स्वभावत किसी व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। साहित्य मे वचन-प्रयोगो के लिये इतना ही पर्याप्त था कि वैसे प्रयोग लोक में प्रचलित हो। धीरे-धीरे जब एक ओर बहुतसा साहित्य निर्माण हो गया, और दूसरी ओर नाना देशो मे प्रचलित नाना प्रकार के प्रयोग सम्मुख आये, तथा कालानुक्रम से भी प्रयोगो मे भेद पडता दिखाई देने लगा, तब उसके अनुशासन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्राकृत के उपलभ्य व्याकरणो मे चड (चन्द्र) कृत प्राकृत-लक्षण सर्व-प्राचीन सिद्ध होता है। इसका सम्पादन रॉडलफ हार्नले साहब ने करके बिबलिओथिका-इंडिका मे १८८० ई० मे छपाया था, और उसे एक जैन लेखक की कृति सिद्ध किया था। तथापि कुछ लोगो ने इसके सूत्रो को वाल्मीकि कृत माना है, जो स्पष्टत असम्भव है। ग्रन्थ के आदि मे जो वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम किया गया है, व वृत्तिगत उदाहरणो मे अर्हन्त (सू० ४६ व २४), जिनवर (सू० ४८), का उल्लेख आया है, उससे यह नि सदेह जैन कृति सिद्ध होती है। ग्रन्थ के सूत्रकार और वृत्तिकार अलग-अलग हैं, इसके कोई प्रमाण नही। मगलाचरण मे जो वृद्धमत के आश्रय से प्राकृत व्याकरण के निर्माण की सूचना दी गई है, उससे यह अभिप्राय निकालना कि सूत्रकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न है, सर्वथा निराधार है। अधिक से अधिक उसका इतना ही अभिप्राय प्रतीत होता है कि प्रस्तुत रचना के समय भी सूत्रकार के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे, जिनमे से कर्ता ने अपने नियमो मे प्राचीनतम प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि प्राकृत-लक्षण के रचना-काल सबधी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नही है, तथापि ग्रन्थ के अन्त परीक्षण से उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमे कुल सूत्रो की सख्या ९९ या १०३ है, और इस प्रकार यह उपलभ्य व्याकरणो मे सक्षिप्ततम है। प्राकृत सामान्य का जो निरूपण यहा पाया जाता है, वह अशोक की धर्मलिपियो की भाषा और वररुचि द्वारा 'प्राकृत-प्रकाश' मे

वर्णित प्राकृत के बीच का प्रतीत होता है। वह अधिकांश अश्वघोष व अल्पांश भास के नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृतों से मिलता हुआ पाया जाता है, क्योकि इसमे मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यजनो की वहुलता से रक्षा की गई है, और उनमे से प्रथम वर्णो मे केवल क, व तृतीय वर्णो मे ग के लोप का एक सूत्र मे विधान किया गया है, और इस प्रकार च ट त प वर्णों की, शब्द के मध्य मे भी, रक्षा की प्रवृत्ति सूचित की गई है। इस आधार पर प्राकृत लक्षण का रचना-काल ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नही।

प्राकृत-लक्षण ४ पादो मे विभक्त है। आदि मे प्राकृत शब्दो के तीन रूप सूचित किये गये है तद्भव, तत्सम और देशी, तथा सस्कृतवत् तीनो लिंगो और विभक्तियो का विधान किया गया है। तत्पश्चात् इनमे क्वचिद् व्यत्यया की चौथे सूत्र से सूचना करके, प्रथम पद के अन्तिम ३५ वें सूत्र तक सज्ञाओ और सर्वनामो के विभक्ति रूपो का विधान किया गया है। इनमे यद् और इदम् के षष्ठी का रूप 'से' और अहम् का कर्ता कारक 'हउ' ध्यान देने योग्य है। जैसा कि हम जानते हैं, हउ अपभ्र श भाषा का विशेष रूप माना जाता है, किन्तु सूत्रकार के समय मे उसका प्रयोग तो प्रचलित हो गया था, फिर भी वह अभी तक अपभ्रश का विशेष लक्षण नही बना था। द्वितीय पाद के २९ सूत्रो मे प्राकृत मे स्वर-परिवर्तनो, शब्दादेशो व अव्ययो का वर्णन किया गया है। यहा गो का गावी आदेश व पूर्वकालिक रूपो के लिये केवल तु, त्ता, च्च, ट्ट, तु, तूण, ओ और प्पि विभक्तियो का विधान किया गया है। दूण, ऊण, व य का यहा निर्देश नहीं है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रो मे व्यजनों के विपरिवर्तनो का विधान है। इनमे ध्यान देने योग्य नियम है—प्रथम वर्ण के स्थान मे तृतीय का आदेश, जैसे एक=एग, पिशाची=विसाजी, कृत=कद, प्रतिषिद्ध=पदिसिद्ध। पाद के अन्तिम सूत्र मे कह दिया गया है कि शिष्टप्रयोगाद् व्यवस्था अर्थात् शेष व्यवस्थाए शिष्ट प्रयोगानुसार समझनी चाहिये। इस पाद के अन्त मे सूत्रो की सख्या ९९ पूर्ण हो जाती है, और हार्नले साहव द्वारा निरीक्षित एक प्राचीन प्रति के आदि मे ग्रन्थ मे ९९ सूत्रो की ही सूचना मिलती है। सम्भव है मूल व्याकरण यही समाप्त हुआ हो। किन्तु अन्य प्रतियो मे ४ सूत्रात्मक चतुर्थ पाद भी मिलता है, जिसके एक-एक सूत्र मे क्रमश अपभ्र श का लक्षण अधोरेफ का लोप न होना, पैशाची मे र् और ण् के स्थान पर ल् और न् का आदेश, मागधिका मे र् और स् के स्थान पर ल् और श् आदेश, तथा शौरसैनी मे त् के स्थान पर विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। प्राकृत-लक्षण का पूर्वोक्त स्वरूप निश्चयत उसके विस्तार, रचना व भाषा-स्वरूप की दृष्टि से उसे उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणो मे प्राचीनतम सिद्ध करता है। इस

व्याकरण का आगामी समस्त प्राकृत व्याकरणो पर वडा गभीर प्रभाव पडा है और रचनाशैली व विषयानुक्रम मे वहा इसी का अनुसरण किया गया है। चड ने प्राकृत व्याकरणकारो के लिये मानो एक आदर्श उपस्थित कर दिया। वररुचि, हेमचन्द्र आदि व्याकरणकारो ने जो सस्कृतभाषा मे प्राकृत व्याकरण लिखे, आदि मे प्राकृत के सामान्य लक्षण दिये, और अन्त मे शौरसैनी आदि विशेष प्राकृतो के एक-एक के विशेष लक्षण वतलाये, वह सब चड का ही अनुकरण है। हेमचन्द्र ने तो चड के ही अनुसार अपने व्याकरण को चार पादो मे ही विभक्त किया है, और चूलिका पैशाची को छोड शेष उन्ही चार प्राकृतो का व्याख्यान किया है, जिनका चड ने किया, और चड के समान स्वय सूत्रो की वृत्ति भी लिखी।

प्राकृत-लक्षण के पश्चात् दीर्घकाल तक का कोई जैन प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता। समन्तभद्र कृत प्राकृत व्याकरण का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हो सका। समन्तभद्र की एक व्याकरणात्मक रचना का उल्लेख देवनदि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण मे भी पाया जाता है, जिससे उनके किसी सस्कृत व्याकरण का अस्तित्व सिद्ध होता है। आश्चर्य नही जो समन्तभद्र ने ऐसा कोई व्याकरण लिखा हो, जिसमे क्रमश. सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ का अनुशासन किया गया हो, जैसा कि आगे चलकर हेमचन्द्र की कृति मे पाया जाता है।

हेमचन्द्र (१२ वी शती) ने शब्दानुशासन नामक व्याकरण लिखा, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत, तथा आठवें अध्याय मे प्राकृत व्याकरण का निरूपण किया गया है। यह व्याकरण उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणो मे सवसे अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित स्वीकार किया गया है। इसके चार पाद हैं। प्रथम पाद के २७१ सूत्रो मे सधि, व्यजनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग स्वर-व्यत्यय और व्यजन-व्यत्यय, इनका क्रमसे निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद के २१८ सूत्रो मे सयुक्त व्यजनो के विपरिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-विपर्यय, शब्दादेश तद्धित, निपात और अव्यय, एव तृतीय पाद के १८२ सूत्रो मे कारक विभक्तियो तथा क्रिया-रचना संवधी नियम बतलाये गये है। चौथे पाद मे ४४८ सूत्र हैं, जिनमे से प्रथम २५९ सूत्रो मे धात्वादेश और फिर शेष मे क्रमश शौरसैनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रश भाषाओ के विशेष लक्षण वतलाये गये हैं। अन्त के २ सूत्रो मे यह भी कह दिया है कि प्राकृतो मे उक्त लक्षणो का व्यत्यय भी पाया जाता है, तथा जो बात यहा नही वतलाई गई, वह सस्कृतवत् सिद्ध समझनी चाहिये। सूत्रों के अतिरिक्त उसकी वृत्ति भी स्वय हेमचन्द्र कृत ही है, और इसके द्वारा उन्होंने सूत्रगत

लक्षणो को बडी विशदता से उदाहरण दे-देकर समझाया है। आदि के प्रस्ताविक सूत्र अथप्राकृतम की वृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है। इसमे ग्रन्थकार ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह दी है कि प्रकृति सस्कृत है, और उससे उत्पन्न व आगत प्राकृत। स्पष्टत' यहा उनका अभिप्राय यह है कि प्राकृत शब्दो का अनुशासन सस्कृत के रूपो को आदर्श मानकर किया गया है। उन्होने यहा प्राकृत के तत्सम, तद्भव व देशी, इन तीन प्रकार के शब्दो को भी सूचित किया है, और उसमे से सस्कृत और देश्य को छोडकर तद्भव शब्दो की सिद्धि इस व्याकरण के द्वारा बतलाने की प्रतिज्ञा की है। उन्होने तृतीय सूत्र मे व अन्य अनेक सूत्रो की वृत्ति मे आर्ष प्राकृत का उल्लेख किया है और उसके उदाहरण भी दिये है। आर्ष से उनका अभिप्राय उस अर्द्धमागधी प्राकृत से है, जिसमे जैन आगम लिखे गये है।

हेमचन्द्र से पूर्वकालीन चडकृत प्राकृत-लक्षण और वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश नामक व्याकरणो से हेमव्याकरण का मिलान करने पर दोनो की रचना-शैली व विषयक्रम प्राय एकसा ही पाया जाता है। तथापि 'हैम' व्याकरण मे प्राय सभी प्रक्रियाए अधिक विस्तार से बतलाई गई हैं, और उनमे अनेक नई विधियो का समावेश किया गया है, जो स्वाभाविक है, क्योकि हेमचन्द्र के सम्मुख वररुचि की अपेक्षा लगभग पाच-छह शतियो का भाषात्मक विकास और साहित्य उपस्थित था, जिसका उन्होने पूरा उपयोग किया है। चूलिका-पैशाची और अपभ्रश का उल्लेख वररुचि ने नही किया। हेमचन्द्र ने इन प्राकृतो के भी लक्षण बतलाये हैं, तथा अपभ्रश भाषा का निरूपण अन्तिम ११८ सूत्रों मे बडे विस्तार से किया है, और इसमे भी बडी विशेषता यह है कि इन नियमो के उदाहरणो मे उन्होने अपभ्रश के पूरे पद्य उद्धृत किये है, जिनसे उस काल तक के अपभ्रश साहित्य का भी अनुमान किया जा सकता है।

हेमचन्द के पश्चात् त्रिविक्रम, श्रुतसागर और शुभचन्द द्वारा लिखित प्राकृत व्याकरण पाये जाते है। किन्तु यह सब रचना, शैली व विषय की अपेक्षा हेमचन्द्र से आगे नही बढ सके। अपभ्रश का निरूपण तो उतनी पूर्णता से कोई भी नही कर पाया। हा, उदाहरणो की अपेक्षा त्रिविक्रम कृत व्याकरण मे कुछ मौलिकता पाई जाती है।

व्याकरण-सस्कृत—

जैन साहित्य मे उपलभ्य सस्कृत व्याकरणो मे सबसे अधिक प्राचीन जैनेन्द्र व्याकरण है, जिसके कर्ता देवनन्दि पूज्यपाद कदम्बवशी राजा दुर्विनीत के

समकालीन, अतएव ५ वी-६ वी शती मे हुए सिद्ध होते है। यह व्याकरण पाच अध्यायो मे विभक्त है, और इस कारण पचाध्यायी भी कहलाता है। इसमे एक-शेष प्रकरण न होने के कारण, कुछ लेखको ने उसका अनेकशेष व्याकरण नाम से भी उल्लेख किया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अकलककृत तत्वार्थराज-वार्तिक और विद्यानन्दि-कृत श्लोकवार्तिक मे इस व्याकरण के सूत्र उल्लिखित पाये जाते है। प्रत्येक अध्याय चार पादो मे विभक्त है, जिनमे कुल मिलाकर ३००० सूत्र पाये जाते हैं। इसकी रचनाशैली और विषयक्रम पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण के ही समान है। जिस प्रकार पाणिनि के पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र द्वारा अपने व्याकरण को सपाद-सप्ताध्यायी और त्रिपादी, इन दो भागो मे विभक्त किया है, उसी प्रकार उसी सूत्र (५-३-२७) के द्वारा यह व्याकरण भी सार्धद्विपाद-चतुराध्यायी और सार्धेकपादी मे विभाजित पाई जाती है। तथापि इस व्याकरण मे अपनी भी अनेक विशेषताए हैं। इसमे वैदिकी और स्वर प्रक्रिया इन दो प्रकरणो को छोड दिया गया है। परन्तु पाणिनि के सूत्रो मे जो अपूर्णता थी, और जिसकी पूर्ति कात्यायन व पतजलि ने वार्तिको व भाष्य द्वारा की थी उसकी यहा सूत्रपाठ मे पूर्ति कर दी गई है। अनेक सज्ञाए भी नयी प्रविष्ट की गई है, जैसे पाणिनीय व्याकरण की प्रथमा, द्वितीया आदि कारक-विभक्तियो के लिये यहा वा, इप् आदि, निष्ठा के लिये त, आत्मनेपद के लिये द, प्रगृह्य के लिये दि, उत्तरपद के लिये द्य आदि एक ध्वन्यात्मक नाम नियत किये गये है। इन बीजाक्षरो द्वारा सूत्रो मे अल्पाक्षरता तो अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही उनके समझने मे कठिनाई भी बढ गई है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर स्वभावत बहुत सा टीका-साहित्य रचा गया। श्रुत-कीर्ति कृत पचवस्तु-प्रक्रिया (१३ वी शती) के अनुसार यह व्याकरण रूपी प्रासाद सूत्ररूपी स्तभो पर खडा है, न्यास इसकी रत्नमय भूमि है, वृत्ति रूप उसके कपाट है, भाष्य इसका शय्यातल है, और टीकायें इसके माले (मजिले) हैं, जिनपर चढने के लिये यह पचवस्तुक रूपी सोपान-पथ निर्मित किया जाता है। पचवस्तु-प्रक्रिया के अतिरिक्त इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत महावृत्ति (८ वी शती), प्रभचन्द कृत शब्दाम्भोजभास्कर न्यास (११ वी शती), और नेमिचन्द्र कृत प्रक्रियावतार पाये जाते है। इनके अतिरिक्त और कोई टीका-ग्रथ इस पर नही मिलते, किन्तु भाष्य और प्राचीन टीकाए होना अवश्य चाहिये। महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र, वशीधर कृत जैनेन्द्र-प्रक्रिया व प० राजकुमार कृत जैनेन्द्रलघुवृत्ति हाल ही की कृतिया हैं। उपलभ्य टीकाओ मे अभयनन्दि कृत महा-वृत्ति बारह हजार श्लोक-प्रमाण हैं, और बहुत महत्वपूर्ण हैं, उसमे अनेक नये उदाहरण पाये जाते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इनमे शालि-

भद्र, समन्तभद्र, सिहनदि, सिद्धसेन, अभयकुमार, श्रेणिक आदि नामों का समावेश करके ग्रन्थ मे जैन वातावरण निर्माण कर दिया गया है। उन्होंने श्रीदत्त का नाम, जो सूत्र मे भी आया है, बारबार इस प्रकार लिया है जिसमे वे उनसे पूर्व के कोई महान् और सुविख्यात वैयाकरण प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दि ने तत्वार्थ-श्लोक-वार्तिक मे श्रीदत्त कृत जल्पनिर्णय का उल्लेख किया है, जिसमे जल्प के दो प्रकार बतलाये गये थे। जिनसेन ने आदिपुराण मे भी उन्हे 'तप-श्रीदीप्तमूर्ति व 'वादीभकण्ठीरव' कहकर नमस्कार किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण का परिवर्धित रूप गुणनन्दि कृत शब्दार्णव मे पाया जाता है, जिसमे ३७०० सूत्र अर्थात् मूल से ७०० अधिक सूत्र हैं। जैनेन्द्र सूत्रों मे जो अनेक कमिया थी, उनकी पूर्ति अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति के वार्तिको द्वारा की। गुणनन्दि ने अपने सस्करण मे उन सब के भी सूत्र बनाकर जैनेन्द्र व्याकरण को अपने काल तक के लिये अपने-आप मे पूर्ण कर दिया है। यहा वह एकशेष प्रकरण भी जोड दिया गया है, जिसके अभाव के कारण चन्द्रिका टीका के कर्ता ने मूल ग्रथ को 'अनेकशेष व्याकरण' कहा है। यद्यपि गुणनन्दि नाम के बहुत से मुनि हुए हैं, तथापि शब्दार्णव के कर्ता वे ही गुणनन्दि प्रतीत होते हैं, जो श्रवण बेल्गोल के अनेक शिलालेखो के अनुसार बलाकपिच्छ के शिष्य, तथा गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे, एव तर्क, व्याकरण और साहित्य के महान् विद्वान थे। वादिराजसूरि ने अपने पार्श्व-चरित मे इनका स्मरण किया है। आदिपप के गुरु देवेन्द्र इनके शिष्य थे। इनका समय कर्नाटक-कवि-चरित के अनुसार वि० स० ९५७ ठीक प्रतीत होता है।

शब्दार्णव की अभी तक दो टीकायें प्राप्त हुई हैं—एक सोमदेव मुनि कृत शब्दार्णव-चन्द्रिका है जो शक स० ११२७ मे शिलाहार वशीय राजा भोजदेव द्वि० के काल के खर्जुरिका नामक ग्राम के जिन मन्दिर मे लिखी गई थी। लेखक के कथनानुसार उन्होने इसे मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यति के लिये रचा था।

दूसरी टीका शब्दार्णव-प्रक्रिया है, जो भ्रम-वश जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमे कर्ता ने अपना नाम प्रकट नही किया, किन्तु अपने को श्रुतकीर्तिदेव का शिष्य सूचित किया है। अनुमानत ये श्रुतकीर्ति वे ही है, जिनकी श्रवणबेल्गोला के १०८ वें शिलालेख मे बडी प्रशसा की गई है, और जिनका समय वि० स० ११८० माना गया है। अनुमानत इनके शिष्य चारु-कीर्ति पडिताचार्य ही शब्दार्णव-प्रक्रिया के कर्ता है। उपर्युक्त पचवस्तुप्रक्रिया के कर्ता श्रुतकीर्ति भी इस कर्ता के गुरू हो सकते है। इसमे प० नाथूराम जी प्रेमी

ने केवल यह आपत्ति प्रकट की है कि प्रस्तुत प्रक्रिया के कर्ता ने अपने गुरु को कविपति बतलाया है, व्याकरणज्ञ नही। किन्तु यह कोई बडी आपत्ति नही।

देवनन्दि के पश्चात् दूसरे संस्कृत के महान् जैन वैयाकरण शाकटायन हुए जिन्होंने शब्दानुशासन की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के समय मे की, और जिनका रचना-काल शक स० ७३६ व ७८६ के बीच सिद्ध होता है। एक टीकाकार तथा पार्श्वनाथ चरित के कर्ता वादिचन्द्र ने इस व्याकरण के कर्ता का पाल्यकीर्ति नाम भी सूचित किया है। यह नाम उन्होंने सम्भवत इस कारण दिया जिससे पाणिनि द्वारा स्मृत प्राचीन वैयाकरण शाकटायन से भ्रान्ति न हो। इस शब्दानुशासन मे कर्ता ने उन सब कमियो व त्रुटियो की पूर्ति कर दी है, जो मूल जैनेन्द्र व्याकरण मे पाई जाती थी। अनेक बातें यहाँ मौलिक भी हैं। उदाहरणार्थ, आदि मे ही उनके प्रत्याहार सूत्र पाणिनीय-परम्परा से कुछ भिन्न हैं। ऋलृक् के स्थान पर केवल ऋक् पाठ है, क्योंकि ऋ और लृ मे अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर, व ट् को हटाकर यहा एक सूत्र बना दिया गया है, तथा उपान्त्य सूत्र श ष स र् मे विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का भी समावेश कर दिया गया है, इत्यादि। जैनेन्द्र-सूत्र व महावृत्ति मे 'प्रत्याहार' सूत्र पाणिनीय ही स्वीकार करके चला गया है, किन्तु जैनेन्द्र परम्परा की शब्दार्णवचन्द्रिका मे ये शाकटायन 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकार किये गये हैं। जैनेन्द्र का टीकासाहित्य शाकटायन की कृति से बहुत उपकृत हुआ पाया जाता है, और जान पडता है इस अधिक पूर्ण व्याकरण के होते हुए भी उन्होंने जैनेन्द्र की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के हेतु उसे इस आधार मे अपने कालतक सम्पूर्ण बनाना आवश्यक समझा है।

शाकटायन ने स्वय अपने सूत्रो पर वृत्ति भी लिखी है, जिसे उन्होंने अपने सम-कालीन अमोघवर्ष के नामसे अमोघवृत्ति कहा है। इस वृत्ति का प्रमाण १८००० श्लोक माना गया है। इसका ६००० श्लोक प्रमाण सक्षिप्त रूप यक्षवर्मा कृत चिंतामणि नामक लघीयसीवृत्ति मे मिलता है। इसके विषय मे कर्ता ने स्वय यह दावा किया है कि इन्द्र, चन्द्रादि शाब्दो ने जो भी शब्द का लक्षण कहा है, वह सब इसमे है, और जो यहा नही है, वह कही भी नही। इसमे गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन, उणादि आदि नि शेष प्रकरण है। इस नि शेष विशेषण द्वारा सभवत उन्होंने अनेकशेष जैनेन्द्र व्याकरण की अपूर्णता की ओर सकेत किया है। यक्षवर्मा का यह भी दावा है कि उनकी इस वृत्ति के अभ्यास से बालक व अबला जन भी निश्चय से एक वर्ष मे समस्त वाङ्मय के वेत्ता बन

सकते है। इस चिन्तामणि वृत्ति पर अजितसेन कृत मणिप्रकाशिका नामक टीका है। मूल सूत्रो पर लघुकौमुदी के समान एक छोटी टीका दयापाल मुनि कृत रूपसिद्धि है। कर्ता के गुरु मतिसागर पार्श्वनाथ-चरित के कर्ता वादिराज सूरि के समसामयिक होने से ११ वी शती के सिद्ध होते है। एक सिद्धान्त कौमुदी के ढग की 'प्रक्रियासग्रह' अभयचन्द्र कृत प्रकाश मे आ चुकी है (बम्बई, १९०७ एक और टीका है वादिपर्वतवज्र भावसेन त्रैविद्यदेवकृत शाकटायन टीका है। इसके कर्ता अनुमानत वे ही है जिन्होने कातत्र की रुपमाल नामक टीका लिखी है, तथा जिनका एक विश्वतत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ भी पाया जाता है। अमोघ-वृत्ति पर प्रभाचन्द्र कृत न्यास भी है, किन्तु अभी तक इसके केवल दो अध्याय प्राप्त हुए है। माधवीय धातुवृत्ति मे इसके तथासमन्तभद्रकृत चितामणि विषम पद-टीका के अवतरण मिलते हे। एक और मगरसकृत प्रतिपद नामक टीका के भी उल्लेख मिलते हैं।

एक तीसरी व्याकरण-परम्परा सर्ववर्माकृत कातत्र व्याकरण सूत्र से प्रारभ हुई पाई जाती है। इसके रचनाकाल का निश्चय नही। किन्तु है वह अति प्राचीन और शाकटायन से भी पूर्व की है, क्योकि इसकी टीकाओ की परम्परा दुर्गसिह से प्रारम्भ होती है, जो लगभग ८०० ई० मे हुए माने जाते है। काच्चा-यन पालि-व्याकरण की रचना मे कातत्र का उपयोग किया गया है। इसकी रचना मे नाना विशेषताए हैं, और परिभाषाओ मे भी यह पाणिनि से बहुत कुछ स्वतन्त्र है। इसकी सूत्र-सख्या १४०० से कुछ अधिक है। दुर्गसिह की वृत्ति पर त्रिलोचनदास कृत वृत्ति-विवरण पजिका, और उस पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत 'वृत्तिविवरणपजिका-दुर्गपदप्रबोध' (वि० स० १३६१ से पूर्व) पाये जाते है। अन्य उपलम्य टीकाये है ढुढक के पुत्र महादेव कृत शब्द-सिद्धि वृत्ति(वि० स० १३४० से पूर्व), महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतु गसूरि कृत बाल-बोध (वि० स० १४४४), वर्धमान कृत विस्तार (वि० स० १४५८ से पूर्व), भावसेन त्रैविद्यकृत रुपमालावृत्ति, गाल्हणकृत चतुष्कवृत्ति मोक्षेश्वर कृत आख्यान-वृत्ति व पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत वृत्ति। एक 'कालापक-विशेष-व्याख्यान' भी मिलता है, जिससे मूलग्र थ का नाम कालापक भी प्रतीत होता है। एक पद्यात्मक टीका ३१०० श्लोक-प्रमाण कौमार-सम्मुच्चय नाम की भी है। कातत्र-सभ्रम और विद्यानन्दसूरिकृत कातन्त्रोत्तर नामक टीकायें भी पाई गई है, और कुछ अन्य भी, जिनमे कर्ता का नाम नही। इन कृतियो मे कुछ के कर्ता अजैन विद्वान् भी प्रतीत होते हैं। इन सब रचनाओ से इस व्याकरण का अच्छा प्रचार रहा सिद्ध होता है। इसका एक कारण यह भी है कि यह जैनेन्द्र व शाकटायन की

अपेक्षा बहुत संक्षिप्त है।

चौथे महान् जैन वैयाकरण हैं हेमचन्द्र, जिनका शब्दानुशासन अपनी सर्वांग परिपूर्णता व नाना विशेषताओं की दृष्टि से अद्वितीय पाया जाता है। इसकी रचना उन्होंने गुजरात के चालुक्यवंशी राजा सिद्धराज जयसिंह के प्रोत्साहन से की थी, और उसी के उपलक्ष्य में उन्होंने इसका नाम सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन रखा। सिद्धराज का राज्यकाल वि० सं० ११५१ से ११९९ तक पाया जाता है, और यही इस रचना की कालावधि है। हैम शब्दानुशासन पाणिनि के अष्टाध्यायी के समान ४-४ पादों वाले आठ अध्यायों में लिखा गया है। आठवां अध्याय प्राकृत व्याकरण विषयक है, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण संबंधी ३५६६ सूत्र हैं, जिनमें क्रमशः संज्ञा, संधि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित का प्ररूपण किया गया है। सूत्रों के साथ-साथ गणपाठ, धातुपाठ, उणादि और लिंगानुशासन भी जुड़े हुए हैं, जिससे यह व्याकरण सर्वांगपूर्ण है। सूत्र-रचना में शाकटायन का विशेष अनुसरण प्रतीत होता है। वैसे उनपर अपने से पूर्व के प्रायः सभी जैन व अजैन व्याकरणों की कुछ न कुछ छाप है। इस पर कर्ता ने स्वयं छह हजार श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति लिखी है, जो प्रारंभिक अध्येताओं के बड़े काम की है, और दूसरी अठारह हजार श्लोकप्रमाण बृहद्-वृत्ति भी लिखी है, जो विद्वानों के लिये है। इसमें अनेक प्राचीन वैयाकरणों के नाम लेकर उनके मतों का विवेचन भी किया है। इन पूर्व वैयाकरणों में देवनन्दि (जैनेन्द्र) शाकटायन व दुर्गसिंह (कातन्त्रवृत्तिकार) भी हैं, और यास्क, गार्ग्य, पाणिनि, पतंजलि भर्तृहरि, वामन, जयादित्य, क्षीरस्वामी भोज आदि भी। उदाहरणों में भी बहुत कुछ मौलिकता पाई जाती है। विधि-विधानों में कर्ता ने इसमें अपने काल तक के भाषात्मक विकास का समावेश करने का प्रयत्न किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। उणादि सूत्रों पर भी कर्ता का स्वोपज्ञ विवरण है, और लिंगानुशासन की पद्यात्मक रचना पर भी। कर्ता ने स्वयं एक लघु और दूसरा बृहत् न्यास भी लिखे थे, जिनकी भी प्रतियां मिलती हैं। बृहत्न्यास का प्रमाण नौ हजार श्लोक कहा जाता है। किन्तु वर्तमान में यह केवल भिन्न-भिन्न ८-९ पादों पर ३४०० श्लोक प्रमाण मिलता है। यह समस्त व्याकरण सवा लाख श्लोक प्रमाण आंका जाता है। बीसों अन्य महाकाय ग्रन्थों के रचयिता की एक इतनी विशाल रचना को देखकर हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों की बुद्धि चकित हुए बिना नहीं रहती, और यहीं इस व्याकरण-सामग्री की समाप्ति नहीं होती। हेमचन्द्र ने अपने द्वयाश्रयकाव्य के प्रथम बीस सर्गों में इस व्याकरण के क्रमबद्ध उदाहरण भी उपस्थित किये हैं। ऐसी रचना पर अन्य

लेखको द्वारा टीका-टिप्पणी के लिये अवकाश शेष नहीं रहता। फिर भी इसपर मुनिशेखरसूरि कृत लघुवृत्तिढुंढिका, कनकप्रभकृत लघुन्यास पर दुर्गपदव्याख्या, विद्याकरकृत बृहद्-वृत्तिदीपिका, धनचन्द्र कृत लघुवृत्ति-अवचूरि, अभयचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति-अवचूरि एव जिनसागर कृत दीपिका आदि कोई दो दर्जन नाना प्रकरणो की टीकायें उपलब्ध हैं, जिनसे इस कृति की रचना के प्रति विद्वानो का आदर व लोकप्रचार और प्रसिद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक सस्कृत व्याकरण लिखे गये है, जैसे मलयगिरि कृत शब्दानुशासन अपर नाम मुष्टिव्याकरण स्वोपज्ञ टीका सहित, दानविजय कृत शब्दभूषण, आदि। किन्तु उनमे पूर्वोक्त ग्रन्थो का ही अनुकरण किया गया है, और कोई रचना या विषय सबधी मौलिकता नही पाई जाती।

छंदःशास्त्र-प्राकृत—

जैन परम्परा मे उपलभ्य छद शास्त्र विषयक रचनाओ मे नन्दिताढ्य कृत गाथा-लक्षण, प्राकृत व्याकरण मे चण्डकृत प्राकृत-लक्षण के समान, सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। ग्रन्थ मे कर्ता के नाम के अतिरिक्त समयादि सबधी कोई सूचना नही पाई जाती, और न अभी तक किसी पिछले लेखको द्वारा उनका नामोल्लेख सम्मुख आया, जिससे उनकी कालावधि का कुछ अनुमान किया जा सके। तथापि कर्ता के नाम, उनकी प्राकृत भाषा, ग्रन्थ के विषय व रचना शैली पर से वे अति प्राचीन अनुमान किये जाते है। आरम्भ मे गाथा के मात्रा, अश आदि सामान्य गुणो का विधान किया गया है, जिसमें शर आदि सज्ञाओं का प्रयोग पिंगल, विरहाक आदि छद शास्त्रियों से भिन्न पाया जाता है। तत्पश्चात् गाथा के पथ्या, विपुला और चपला, तथा चपला के तीन प्रभेद और फिर उनके उदाहरण दिये गये है। फिर एक अन्य प्रकार से वर्णों के ह्रस्वदीर्घत्व के आधार पर गाथा के विप्रा, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, ये चार भेद और उनके उदाहरण बतलाये हैं। इसके पश्चात् अक्षर-सख्यानुसार गाथा के छब्बीस भेदो के कमला आदि नाम गिनाकर फिर उनके लक्षण दिये गये हैं, और गाथा के लघुगुरुत्व तोल, प्रस्तार, सख्या, नक्षत्र-ग्रह आदि प्रत्यय बतलाये गये हैं। अन्त मे गाथा मे मात्राओ की कमी बढी से उत्पन्न होने वाले उसके गाथा, विगाथा, उद्गाथा गाथिनी और स्कधक, इन प्रभेदो को समझाया गया है। ये प्रथम तीन नाम हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रयुक्त उपगीति, उद्गीति और गीति नामो की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ का इतना विषय उसका अभिन्न और मौलिक अश प्रतीत होता है,

जो लगभग ७० गाथाओ मे पूरा आ गया है। किन्तु डा० वेलकर द्वारा सम्पादित पाठ मे ६६ गाथाएँ हैं। अधिक गाथाओ मे गाथा के कुछ उदाहरण, तथा ७५ वी गाथा से आगे के पद्धडिया आदि अपभ्र श छदो के लक्षण और उदाहरण ऐसे हैं जिन्हे विद्वान् सम्पादक ने मूल ग्रन्थ के अश न मानकर, सकारण पीछे जोडे गये सिद्ध किया है। किन्तु उन्होने जिन दो गाथाओ को मौलिक मानकर उन पर कुछ आश्चर्य किया है, उनका यहा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। ३८ वें पद्य मे गाथा के दश भेद गिनाये गये हैं, किन्तु यथार्थ मे उपर्युक्त भेद तो नौ ही होते हैं। दसवा मिश्र नाम का भेद वहा बनता ही नही है। उसका जो उदाहरण दिया गया है, वह मिश्र का कोई उदाहरण नही, और उसे सम्पादक ने ठीक ही प्रक्षिप्त अनुमान किया है। मेरे मतानुसार दस भेदो को गिनाने वाली गाथा भी प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। जब ऊपर नौ भेद लक्षणो और उदाहरणो द्वारा समझाये जा चुके, तब यहा उन्हे पुन गिनाने की और उनमे भी एक अप्रासगिक भेद जोड देने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। कर्ता की सक्षेप रचना-शैली मे उसके लिये कोई अवकाश भी नही रह जाता। उक्त भेदो का मिश्र रूप भी कुछ होता ही होगा, इस भ्रान्त धारणा से किसी पाठक ने उसे जोड कर ग्रन्थ को पूरा कर देना उचित समझा, और उसका मनचाहा, भले ही अयुक्त, वह उदाहरण दे दिया होगा।

गाथा ३१ मे कहा गया है कि जैसे वैश्याओ के स्नेह, और कामीजनो के सत्य नही होता, वैसे ही नन्दिताढ्य द्वारा उक्त प्राकृत मे जिह, किह, तिह, नही है। स्वय ग्रन्थकार द्वारा अपने ऊपर ही इस अनुचित उपमा पर डा० वेलकर ने स्वभावत आश्चर्य प्रकट किया है, तथापि उसे ग्रन्थ का मौलिक भाग मानकर अनुमान किया है कि ग्रन्थकार जैन यति होता हुआ आगमोक्त गाथा छद का पक्षपाती था, और अपभ्र श भाषा व छदो की ओर तिरस्कार दृष्टि रखता था। किन्तु मेरा अनुमान है कि यह गाथा भी ग्रन्थ का मूलाश नही, और वह अपभ्र श का तिरस्कार करने वाले द्वारा नही, किन्तु उसके किसी विशेष पक्षपाती द्वारा जोडी गई है, जिसे अपने काल के लोकप्रिय और वास्तविक अपभ्र श रूपो का इस रचना मे अभाव खटका, और उसने कर्ता पर यह व्यग मार दिया कि उनका प्राकृत एक वेश्या व कामुक के सदृश उक्त प्रयोगो की प्रियता और सत्यता से हीन पाया जाता है। इस प्रकार उक्त पद्य का अनौचित्य दोष पुष्टार्थता गुण मे परिवर्तित हो जाता है, और ग्रन्थकर्ता अपभ्रश के प्रति अनुचित और अप्रासगिक विद्वेष के अपराध से बच जाते हैं। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ मिली हैं, एक रत्नचन्द्रकृत और दूसरी अज्ञातकर्तृक अवचूरि। इन दोनो मे समस्त प्रक्षिप्त अनुमान की जाने वाली गाथाए स्वीकार की गई हैं, जिससे

प्रतीत होता है कि वे उनमे पूर्व समाविष्ट हो गई थी। अन्य प्राचीन प्रतियो की बडी आवश्यकता है।

प्राकृत मे छद शास्त्र का कुछ सर्वांगीण निरूपण करने वाले सुप्राचीन कवि स्वयभू पाये जाते हैं, जिनके पउमचरिउ और हरिवशचरिउ नामक अपभ्रश पुराणो का परिचय पहले कराया जा चुका है, और जिसके अनुसार उनका रचनाकाल ७-८ वी शती सिद्ध होता है। स्वयम्भूछदस् का पता हाल ही मे चला है, और उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति मे आदि के २२ पत्र न मिल सकने से ग्रन्थ का उतना भाग अनुपलब्ध है। यह ग्रन्थ मुख्यत. दो भागो मे विभाजित है, एक प्राकृत और दूसरा अपभ्रश विषयक। प्राकृत छदो का निरूपण तीन परिच्छेदों मे किया गया है आदिविधि, अर्धसम और विसमवृत्त, तथा अपभ्रश का निरूपण उच्छाहादि छप्पअजाति, चउप्पथ, दुवअ, शेष द्विपदी और उत्थक्क आदि। इस प्रकार इसमे कुल ६ परिच्छेद है। प्राकृत छदो मे प्रथम परिच्छेद के भीतर शक्वरी आदि १३ प्रकार के ६३ छदो का निरूपण किया गया है, जिनमे १४ अक्षरो से लेकर २६ अक्षरो तक के चार चरण होते हैं। १ से १३ अक्षरो तक के वृत्तो का स्वरूप अप्राप्त अश मे रहा होगा। इससे अधिक अक्षरो के वृत्त दण्डक कहे गये हैं। दूसरे परिच्छेद मे वेगवती आदि अर्धसम वृत्तो का निरूपण किया गया है, जिनके प्रथम और द्वितीय चरण परस्पर भिन्न व तीसरे और चौथे के सदृश होते हैं। तीसरे परिच्छेद मे उद्गतादि विषम वृत्तो का वर्णन है, जिनके चारो चरण परस्पर भिन्न होते हैं। अपभ्रश छदों मे पहले उत्साह, दोहा और उसके भेद, मात्रा, रड्डा आदि १२ वृत्तो का, फिर पाचवें परिच्छेद मे छह पदो वाले ध्रुवक, जाति, उपजाति आदि २४ छदो का, छठे मे सौ अर्ध सम और आठ सर्वसम, ऐसे १२ चतुष्पदी ध्रुवक छदो का, सातवें मे ४० प्रकार की द्विपदी का, आठवें मे चार से दस मात्राओं तक की शेष दस द्विपदियो का, और अन्त में उत्थक्क, ध्रुवक, छड्डनिका और घत्ता आदि वृत्तो का निरूपण किया गया है।

स्वयभू-छदस् की अपनी अनेक विशेषताए हैं। एक तो उसकी समस्त रचना और समस्त उदाहरण प्राकृत-अपभ्रशात्मक है। दूसरे, उन्होने मात्रा गणो के लिये अपनी मौलिक सज्ञाए जैसे द, त, च आदि प्रयुक्त की है। तीसरे, उन्होने अक्षर और मात्रा-गणो मे कोई भेद नही किया; तथा सस्कृत के अक्षर-गण वृत्तो को भी प्राकृत के द मात्रा-गण के रूप मे दर्शाया है। चौथे, स्वयभू ने पाद बीच यति के सम्बन्ध मे दो परम्पराओ का उल्लेख किया है, जिनमे से माडव्य, भरत, कश्यप, और सैतव ने यति नही मानी। स्वयभू ने अपने को इसी परम्परा का प्रकट किया है। और पाचवे, उन्होने जो उदाहरण दिये हैं, वे उनके समय

के प्राकृत लोक-साहित्य मे से, विना किसी धार्मिक व साम्प्रदायिक भेद भाव के लिये है, और अधिकाश के साथ उनके कर्ताओ का भी उल्लेख कर दिया है। कुल उदाहरणात्मक पद्यो की सख्या २०६ है, जिनमे से १२८ प्राकृत के और शेष अपभ्र श के है। उल्लिखित कवियो की सख्या ५८ है। जिनमे सबसे अधिक पद्यो के कर्ता सुद्धसहाव (शुद्धस्वभाव) और सुद्धसील पाये जाते है। आश्चर्य नही, वे दोनो एक ही हो। शेष मे कुछ परिचित नाम हैं—कालिदास, गोविन्द, चउमुह, मयूर, वेताल, हाल आदि। दो स्त्री कवियो के नाम राहा और विज्जा ध्यान देने योग्य हैं। अपभ्र श के उदाहरणो मे गोविन्द और चतुर्मुख की कृतियो की प्रधानता है, और उन पर से उनकी क्रमश हरिवश और रामायण विषयक रचनाओ की सभावना होती है। उपर्युक्त प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम पद्य मे स्वयभू ने अपनी रचना को पचससारभूत कहा है, जिससे उनका अभिप्राय है कि उन्होने अपनी इस रचना मे गणो का विधान द्विमात्रिक से लेकर छह मात्रिक तक पाच प्रकार से किया है।

कविदर्पण नामक प्राकृत छन्द-शास्त्र के कर्ता का नाम अज्ञात है। इसका सम्पादन एक मात्र ताडपत्र प्रति पर से किया गया है, जिसके आदि और अन्त के पत्र अप्राप्त होने से दोनो ओर का कुछ भाग अज्ञात है। कर्ता का भी प्राप्त अश से कोई पता नही चलता। साथ मे सस्कृत टीका भी मिली है, किन्तु उसके भी कर्ता का कोई पता नही। तथापि नन्दिषेणकृत अजित-शान्तिस्तव के टीकाकार जिनप्रभसूरि ने इस ग्रन्थ का जो नामोल्लेख व उसके ३४ पद्य उद्धृत किये है, उस पर से इतना निश्चित है कि उसका रचनाकाल वि० स० १३६५ से पूर्व है। ग्रन्थ मे रत्नावली के कर्ता हर्षदेव, हेमचन्द्र, सिद्धराज जयसिह, कुमारपाल आदि के नाम आये हैं, जिनसे ग्रन्थ की पूर्वावधि १३ वी शती निश्चित हो जाती है। अर्थात् यह ग्रन्थ ईस्वी सन् ११७२ और १३०८ के बीच कभी लिखा गया हैं। ग्रन्थ मे छह उद्देश हैं। प्रथम उद्देश मे मात्रा और वर्ण गणो का, दूसरे में मात्रा छदो का, तीसरे मे वर्ण वृत्तो का, चौथे मे २६ जातियो का, पाचवे मे वैतालीय आदि ११ उभयछदो का और छठे मे छह प्रत्ययो का वर्णन किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर २४ सम, १५ अर्धसम और १३ मिश्र अर्थात् ५२ प्राकृत छदो का यहा निरूपण है, जो स्पष्ट ही अपूर्ण है, विशेषत जब कि इसकी रचना स्वयभू और हेमचन्द्र की कृतियो के पश्चात् हुई है। तथापि लेखक का उद्देश्य सपूर्ण छदो का नही, किन्तु उनके कुछ सुप्रचलित रूपों मात्र का प्ररूपण करना प्रतीत होते हैं। उदाहरणो की सख्या ६९ है, जो सभी स्वय ग्रन्थकार के स्वनिर्मित प्रतीत होते है। टीका मे अन्य ६१ उदाहरण पाये जाते है, जो अन्यत्र से उद्धृत है। द्वितीय उद्देश अन्तर्गत मात्रावृत्तो का

निरूपण बहुत कुछ तो हेमचन्द्र के अनुसार है, किन्तु कहीं-कहीं कुछ मौलिकता पाई जाती है।

छंद कोष के कर्ता रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे, जिनका जन्म, पट्टावली के अनुसार, वि० स० १३७२ मे हुआ था, तथा जिनकी अन्य दो रचनायें श्रीपालचरित्र (वि० स० १४२८) और गुणस्थान-क्रमारोह (वि० स० १४४७) प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रन्थ मे कुल ७४ प्राकृत व अपभ्रंश पद्य हैं और इनमे क्रमश लघु-गुरु अक्षरों व अक्षर गणों का, आठ वर्णवृत्तो का, ३० मात्रा-वृत्तों का, और अन्त में गाथा व उसके भेदप्रभेदो का निरूपण किया गया है। प्राकृत-पिंगल मे जो ४० मात्रावृत्त पाये जाते हैं, उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के १५ वृत्त सर्वथा नवीन हैं। इनके लक्षण व उदाहरण सब अपभ्रंश में है, व एक ही पद्य में दोनो का समावेश किया गया है। गाथाओ के लक्षण आदि प्राकृत गाथाओं में हैं। अपभ्रंश छंदो के निरूपक पद्यो मे बहुत से पद्य अन्यत्र से उद्‍धृत किये हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके साथ उनके कर्ताओ के नाम, जैसे गुल्ह, अर्जुन, पिंगल आदि जुडे हुए हैं। इनमे पिंगल के नाम पर से सहज ही अनुमान होता है कि छंद कोश के कर्ता ने वे पद्य उपलभ्य प्राकृत-पिंगल मे से लिये होंगे, किन्तु बात ऐसी नही है। वे पद्य इस प्राकृत पिंगल मे नही मिलते। कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो यहा गुल्ह कवि कृत या बिना किसी कर्ता के नाम के पाये जाते है, और वे ही पद्य प्राकृत पिंगल मे पिंगल के नाम-निर्देश सहित विद्यमान हैं। इससे विद्वान् सम्पादक डॉ० वेलनकर ने यह ठीक ही अनुमान किया है कि यथार्थत दोनो ने ही उन्हे अन्यत्र से लिया है, किन्तु रत्नशेखर ने उन्हे सचाई से ज्यों का त्यो रहने दिया है, और पिंगल ने पूर्व कर्ता का नाम हटाकर अपना नाम समाविष्ट कर दिया है। पिंगल को वर्तमान रचना मे से रत्नशेखर द्वारा अवतरण लिये जाने की यो भी सभावना नही रहती, क्योंकि पिंगल मे रत्नशेखर से पश्चात्कालीन घटनाओ का भी उल्लेख पाया जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि पिंगल की जिस रचना का छन्द कोश मे उपयोग किया गया है, वह वर्तमान प्राकृत पिंगल से पूर्व की कोई भिन्न ही रचना होगी, जैसा कि अन्य अनेक पिंगल सम्बन्धी उल्लेखो से भी प्रमाणित होता है।

सस्कृत मे रचित हेमचन्द्र कृत छदोनुशासन (१३वी शती) का उल्लेख छद चूडामणि नाम से भी आता है। यह रचना आठ अध्यायो मे विभक्त है, और उसपर स्वोपज्ञ टीका भी है। इस रचना मे हेमचन्द्र ने, जैसा उन्होंने अपने व्याकरणादि ग्रन्थो मे किया है, यथाशक्ति अपने समय तक आविष्कृत तथा पूर्वा-

चार्यों द्वारा निरूपित समस्त सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रश छदो का समावेश कर देने का प्रयत्न किया है, भले ही वे उनके समय मे प्रचार मे रहे हो या नही। भरत और पिंगल के साथ उन्होने स्वयभू का भी आदर से स्मरण किया है। माण्डव्य, भरत, काश्यप, सैतव, जयदेव, आदि प्राचीन छद शास्त्र प्रणेताओ के उल्लेख भी किये हैं। उन्होने छदो के लक्षण तो सस्कृत मे लिखे है, किन्तु उनके उदाहरण उनके प्रयोगानुसार सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रश मे दिये है। उदाहरण उनके स्वनिर्मित है, कही से उद्धृत किये हुए नही। हेमचन्द्र ने अनेक ऐसे प्राकृत छदो के नाम लक्षण और उदाहरण भी दिये हैं, जो स्वयभू-छदस् मे नही पाये जाते। स्वयभू ने जहा १ से २६ अक्षरो तक के वृत्तो के लगभग १०० भेद किये हैं, वहा हेमचन्द्र ने उनके २८६ भेद-प्रभेद वतलाये हैं, जिनमे दण्डक सम्मिलित नही है। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के समस्त प्रकार के छदो के शास्त्रीय लक्षणो व उदाहरणो के लिये यह रचना एक महाकोप है।

छंदःशास्त्र-संस्कृत—

सस्कृत मे अन्य भी अनेक छद विपयक ग्रन्थ पाये जाते हैं, जैसे नेमि के पुत्र वाग्भट कृत ५ अध्यायात्मक छदोनुशासन, जिसका उल्लेख काव्यानुशासन मे पाया जाता है, जयकीर्ति कृत छदोनुशासन, जो वि० स० ११९२ की रचना है। जिनदत्त के शिष्य अमरचन्द्र कृत छदो-रत्नावली, रत्नमजूषा अपरनाम छदोविचिति के कुल १२ अध्यायो मे आठ अध्यायो पर टीका भी मिलती है, आदि इन रचनाओ मे भी अपनी कुछ विशेपताए हैं, तथापि शास्त्रीय दृष्टि से उनके सम्पूर्ण विपय का प्ररूपण पूर्वोक्त ग्रन्थो मे समाविष्ट पाया जाता है।

कोष-प्राकृत—

प्राकृत कोषो मे सर्वप्राचीन रचना धनपाल कृत पइयलच्छी-नाममाला है, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार कर्ता ने अपनी कनिष्ठ भगिनी सुन्दरी के लिये धारानगरी मे वि० स० १०२९ मे लिखी थी, जवकि मालव नरेन्द्र द्वारा मान्यखेट लूटा गया था। यह घटना अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो से भी सिद्ध होती है। धारानरेश हर्षदेव के एक शिलालेख मे उल्लेख है कि उसने राष्ट्रकूट राजा खोटिगदेव की लक्ष्मी का अपहरण किया था। इस कोष मे अमरकोष की रीति से प्राकृत पद्यो मे लगभग १००० प्राकृत शब्दो के पर्यायवाची शब्द कोई २५० गाथाओ मे दिये गये हैं। प्रारभ मे कमलासनादि १८ नाम-पर्याय एक-एक गाथा मे, फिर लोकाग्र आदि १६७ तक नाम आधी-आधी गाथा मे, तत्पश्चात् ५९७ तक एक-

एक चरण मे, और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा मे कही चार कही पाच और कही छह नाम कहे गये है। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकाश नाम और उनके पर्याय तद्भव हैं। सच्चे देशी शब्द अधिक से अधिक पचमाश होगे।

दूसरा प्राकृत कोष हेमचन्द्र कृत देशी-नाम-माला है। यथार्थत इस ग्रन्थ का नाम स्वय कर्ता ने कृति के आदि व अन्त मे स्पष्टत देशी-शब्द-सग्रह सूचित किया है, तथा अन्त की गाथा मे उसे रत्नावली नाम से कहा है । किन्तु ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक डा० पिशल ने कुछ हस्तलिखित प्रतियो के आधार से उक्त नाम ही अधिक सार्थक समझकर स्वीकार किया है, और पीछे प्रकाशित समस्त सस्करणो मे इसका यही नाम पाया जाता है। इस कोष मे अपने ढग की एक परिपूर्ण क्रम-व्यवस्था का पालन किया गया है। कुल गाथाओ की सख्या ७८३ है, जो आठ वर्गो मे विभाजित हैं, और उनमे क्रमश स्वरादि, कवर्गादि, चवर्गादि टवर्गादि, तवर्गादि, पवर्गादि, यकारादि और सकारादि शब्दो को ग्रहण किया गया है। सातवे वर्ग के आदि मे कोषकार ने कहा है कि इस प्रकार की नाम-व्यवस्था व्याकरण मे प्रसिद्ध नही है, किन्तु ज्योतिष शास्त्र मे प्रसिद्ध है, और उसी का यहा आदर किया गया है। इन वर्गो के भीतर शब्द पुन उनकी अक्षर-सख्या अर्थात् दो, तीन चार, व पाच अक्षरो वाले शब्दो के क्रम से रखे गये हैं, और उक्त सख्यात्मक शब्दो के भीतर भी अकारादि वर्णानुक्रम का पालन किया गया है। इस क्रम से एकार्थवाची शब्दो का आख्यान हो जाने पर फिर उन्ही अकारादि खडो के ही भीतर इसी क्रम से अनेकार्थवाची शब्दो का आख्यान किया गया है। इस क्रमपद्धति को पूर्णता से समझने केलये प्रथम वर्ग का उदाहरण लीजिये। इसमे आदि की छठी गाथा तक दो, १९ तक तीन, ३७ तक चार और ४९ वी गाथा तक पाच अक्षरो वाले अकारादि शब्द कहे गये हे। फिर ६० तक अकारादि, शब्दो के दो अक्षरादि क्रम से उनके अनेकार्थ शब्द सग्रहित हैं। फिर ७२ तक एकार्थवाची और ७६ तक अनेकार्थवाची आकारादि शब्द हैं। फिर इसी प्रकार ८३ तक इकारादि, ८४ मे ईकारादि, १३९ तक उकारादि, १४३ मे ऊकारादि, १४८ तक एकारादि, और अन्तिम १७४ वी गाथा तक ओकारादि शब्दो के क्रम से एकार्थ व अनेकार्थवाची शब्दो का चयन किया गया है। यही क्रम शेष सब वर्गों मे भी पाया जाता है। स्फुट-पत्रक प्रणाली (कार्डिग सिस्टेम) के बिना यह क्रम-परिपालन असभव सा प्रतीत होता है, अतएव यह पद्धति ज्योतिष शास्त्रियो और हेमचन्द्र व उनकी प्रणाली के पालक व्याकरणों मे अवश्य प्रचलित रही होगी।

देशीनाममाला मे शब्दों का चयन भी एक विशेप सिद्धान्तानुसार किया गया है। कर्ता ने आदि मे कहा है कि—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउडलक्खणासत्तिसभवा ते इह णिबद्धा ॥३॥

अर्थात् जो शब्द न तो उनके सस्कृत-प्राकृत व्याकरण के नियमो द्वारा सिद्ध होते, न सस्कृत कोषो मे मिलते, और न अलकार-शास्त्र-प्रसिद्ध गौडी लक्षणा शक्ति से अभीष्ट अर्थ देते, उन्हे ही देशी मानकर इस कोप मे निबद्ध किया है। इस पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देश-देश की नाना भापाओ मे प्रचलित व उक्त श्रेणियों मे न आने वाले समस्त शब्दो के सग्रह करने की यहा प्रतिज्ञा की गई है? इसका उत्तर अगली गाथा मे ग्रन्थकार ने दिया है कि—

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णामाणा अणतया हुति।
तम्हा अणाइ-पाइय-पयट्ट-भासाविसेसग्रो देसी ॥४॥

अर्थात् भिन्न-भिन्न देशो मे प्रसिद्ध शब्दो के आख्यान मे लग जाय, तव तो वे शब्द अनन्त पाये जाते है। अतएव यहा केवल उन्ही शब्दो को देशी मानकर ग्रहण किया गया है जो अनादिकाल से प्रचलित व विशेष रूप से प्राकृत कहलाने वाली भापा में पाये जाते है। इससे कोषकार का देशी से अभिप्राय स्पष्टत उन शब्दो मे है जो प्राकृत साहित्य की भापा और उसकी वोलियो मे प्रचलित हैं, तथापि न तो व्याकरणो से या अलकार की रीति से सिद्ध होते, और न सस्कृत के कोपो मे पाये जाते है। इस महान् कार्य मे उद्यत होने की प्रेरणा उन्हे कहा से मिली, उसका भी कर्ता ने दूसरी गाथा और उसकी स्वोपज्ञ टीका मे स्पष्टीकरण कर दिया है। जव उन्होने उपलभ्य नि शेप देशी शास्त्रो का परिशीलन किया, तव उन्हे ज्ञात हुआ कि कोई शब्द है तो साहित्य का, किन्तु उसका प्रचार मे कुछ और ही अर्थ हो रहा है, किसी शब्द मे वर्णो का अनुक्रम निश्चित नही है, किसी के प्राचीन और वर्तमान देश-प्रचलित अर्थ मे विसवाद (विरोध) है, तथा कही गतानुगति से कुछ का कुछ अर्थ होने लगा है। तब आचार्य को यह आकुलता उत्पन्न हुई कि अरे, ऐसे अपभ्रष्ट शब्दो की कीचड मे फसे हुए लोगो का किस प्रकार उद्धार किया जाय? बस, इसी कुतूहलवश वे इस देशी शब्द-सग्रह के कार्य मे प्रवृत्त हो गये।

देशी शब्दों के सम्बन्ध की इन सीमाओं का कोपकार ने वडी सावधानी से पालन किया है, जिसका कुछ अनुमान हमे उनकी स्वय बनाई हुई टीका के

अवलोकन पर से होता है। उदाहरणार्थ, ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही 'अज्ज' शब्द ग्रहण किया है और उसका प्रयोग 'जिन' के अर्थ मे बतलाया है। टीका मे प्रश्न उठाया है कि 'अज्ज' तो स्वामी का पर्यायवाची आर्य शब्द से सिद्ध हो जाता है? इसका उत्तर उन्होने यह दिया कि उसे यहाँ ग्रन्थ के आदि मे मगलवाची समझ कर ग्रहण कर लिया है। १८ वी गाथा मे 'अविणयवर' शब्द जार के अर्थ मे ग्रहण किया गया है। टीका मे कहा है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अविनय-वर' से होते हुए भी सस्कृत मे उसका यह अर्थ प्रसिद्ध नही है, और इसलिये उसे यहा देशी माना गया है। ६७ वी गाथा मे 'आरणाल' का अर्थ कमल बतलाया गया है। टीका में कहा गया है कि उसका वाचिक अर्थ यहाँ इसलिये नही ग्रहण किया क्योकि वह सस्कृतोद्भव है। 'आसियअ' लोहे के घटे के अर्थ में बतलाकर टीका में कहा है कि कुछ लोग इसे अयस् से उत्पन्न आयसिक का अपभ्रश रूप भी मानते हैं, इत्यादि। इन टिप्पणो पर से कोषकार के अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त के पालन करने की निरन्तर चिन्ता का आभास मिल जाता है। उनकी सस्कृत टीका मे इस प्रकार से शब्दो के स्पष्टीकरण व विवेचन के अतिरिक्त गाथाओ के द्वारा उक्त देशी शब्दो के प्रयोग के उदाहरण भी दिये हैं। ऐसी कुल गाथाओ की सख्या ६३४ पाई जाती है। इनमे ७५ प्रतिशत गाथाए शृगारात्मक है। लगभग ६५ गाथाए कुमारपाल की प्रशसा विषयक है, और शेष अन्य। ये सब स्वय हेमचन्द्र की बनाई हुई प्रतीत होती है। शब्द विवेचन के सम्बन्ध मे अभिमानचिन्ह, अवन्तिसुन्दरी, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल, पाठोदूखल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक, शाम्ब, शीलाक और सातवाहन इन १२ शास्त्रकारो तथा सारतरदेशी और अभिमानचिन्ह, इन दो देशी शब्दो के सूत्र-पाठो के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देशी शब्दो के अनेक कोष ग्रन्थकार के सम्मुख उपस्थित थे। आदि की दूसरी गाथा की टीका मे लेखक ने बतलाया है कि पादलिप्ताचार्य आदि द्वारा विरचित देशी शास्त्रो के होते हुए भी उन्होने किस प्रयोजन से यह ग्रन्थ लिखा। उपर्युक्त नामो मे से धनपाल कृत 'पाइ-लच्छी-नाममाला' कोष तो मिलता है, किन्तु शेष का कोई पता नही चलता। टीका मे कुछ अवतरण ऐसे भी हैं जो धनपाल कृत कहे गये है, किन्तु वे उनकी उपलभ्य कृति मे नही मिलते। मृच्छकटिक के टीकाकार लाला दीक्षित ने 'देशी-प्रकाश' नामक देशी कोष का अवतरण दिया है, तथा क्रमदीश्वर ने अपने सक्षिप्त-सार मे 'देशीसार' नामक देशी कोष का उल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यत ये सब महत्वपूर्ण ग्रन्थ अब नही मिलते। देशी-नाममाला के प्रथम सम्पादक डा० पिशल ने इस कोष की उदाहरणात्मक गाथाओ के भ्रष्ट पाठो की बडी शिकायत की थी। प्रो. मुरलीधर बनर्जी ने अपने सस्करण मे पाठो का बहुत कुछ सशोधित रूप

उपस्थित किया है, किन्तु अनेक गाथाओं के सशोधन की अभी भी आवश्यकता है। कोष मे सग्रहीत नामो की सख्या प्रोफे० बनर्जी के अनुसार ३६७८ है, जिनमे वे यथार्थ देशी केवल १५०० मानते है। शेष मे १०० तत्सम, १८५० तद्भव और ५२८ सशयात्मक तद्भव शब्द बतलाते है। उक्त देशी शब्दो मे उनके मतानुसार ८०० शब्द तो भारतीय आर्य भाषाओ मे किसी न किसी रूप मे पाये जाते है, किन्तु शेष ७०० के स्रोत का कोई पता नही चलता।

कोश-संस्कृत—

सस्कत के प्राचीनतम जैन कोशकार धनजय पाये जाते हैं। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं एक **नाममाला** और दूसरी **अनेकार्थनाममाला**। इनकी बनाई हुई नाममाला के अन्त मे कवि ने अकलक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण (व्याकरण) और द्विसधान कर्ता अर्थात् स्वय का काव्य, इस रत्नत्रय को अपूर्व कहा है। इस उल्लेख पर से कोप के रचनाकाल की पूर्वावधि आठवी शती निश्चित हो जाती है। अनेकार्थ नाममाला का 'हेतावेव प्रकारादि' श्लोक वीरसेन कृत धवला टीका मे उद्धृत पाया जाता है, जिसका रचनाकाल शक स० ७३८ है। इस प्रकार इन कोषो का रचनाकाल ई० सन् ७८०-८१६ के बीच सिद्ध होता है। नाममाला मे २०६ श्लोक है, और इनमे सग्रहीत एकार्थवाची शब्दो की सख्या लगभग २००० है। कोषकार ने अपनी सरल और सुन्दर शैली द्वारा यथासम्भव अनेक शब्द-समूहो की सूचना थोडे से शब्दो द्वारा कर दी है। उदाहरणार्थ, श्लोक ५ और ६ मे भूमि आदि पृथ्वी के २७ पर्यायवाची नाम गिनाये है, और फिर सातवे श्लोक मे कहा है—

> तत्पर्यायधरः शैलः तत्पर्यायपतिर्नृप ।
> तत्पर्यायरुहो वृक्ष. शब्दमन्यच्च योजयेत् ॥

इस प्रकार इस एक श्लोक द्वारा कोषकार ने पर्वत, राजा, और वृक्ष, इनके २७-२७ पर्यायवाची ८१ नामो की सूचना एक छोटे से श्लोक द्वारा कर दी है। इसी प्रकार १५ वें श्लोक मे जल के १८ पर्यायवाची नाम गिनाकर १६ वे श्लोक मे उक्त नामो के साथ चार जोडकर मत्स्य, द जोडकर धन, ज जोडकर पद्म और धर जोडकर समुद्र, इनके १८-१८ नाम बना लेने की सूचना कर दी है। अनेकार्थ-नाममाला मे कुल ४६ श्लोक है, जिनमे लगभग ६० शब्दों के अनेक अर्थो का निरूपण किया गया है।

जैन साहित्य के इस सक्षिप्त परिचय से ही स्पष्ट हो जायगा कि उसके

द्वारा भारतीय साहित्य की किस प्रकार परिपुष्टि हुई है। उसका शेष भारतीय साहित्य से मेल भी है, और भाषा, विषय व शैली सम्बन्धी अपना महान् वैशिष्ट्य भी है जिसको जाने बिना हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैन साहित्य अभी भी न तो पूरा-पूरा प्रकाश में आया और न अवगत हुआ। शास्त्र-भंडारों में सैकड़ों, आश्चर्य नहीं सहस्त्रों, ग्रंथ अभी भी ऐसे पड़े हैं जो प्रकाशित नहीं हुए, व जिनके नाम का भी पता नहीं है। प्रकाशित साहित्य के भी आलोचनात्मक अध्ययन, अनुवादादि के क्षेत्र में विद्वानों के प्रयास के लिये पर्याप्त अवकाश है।

जिन प्राकृत भाषाओं—अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश—का उल्लेख जैन साहित्य के परिचय में यथास्थान किया व स्वरूप समझाया गया है उनके कुछ साहित्यिक अवतरण अनुवाद सहित यहां प्रस्तुत किये जाते है ।

अवतरण—१

अर्धमागधी प्राकृत

पुच्छिसु ण समणा माहणा य अगारिणो य परितित्थिया य ।
से केइ नेगन्तहियं धम्ममाहु अणेलिस साहु समिक्खयाए ॥१॥
कह च नाण कह दसण से सील कह नायसुयस्स आसि ।
जाणासि ण भिक्खु जहातहेण अहासुय बूहि जहा निसत ॥२॥
खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अनन्तनाणी य अनन्तदसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स जाणाहि धम्म च धिइ च पेहि ॥३॥
उड्ढ अहे य तिरिय दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से निच्चनिच्चेहि समिक्ख पन्ने दीवे व धम्म समिय उदाहु ॥४॥
से सव्वदसी अभिभूयनाणी निरामगंधे धिइम ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगसि विज्ज गथा अईए अभए अणाऊ ॥५॥
से भूइपन्ने अणिएअचारी ओहतरे धीरे अणतचक्खू ।
अणुत्तर तप्पइ सूरिए वा वइरोयणिंदे व तम पगासे ॥६॥

(सूयगड १, ६, १-६)

(अनुवाद)

श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थ तथा अन्यधर्मावलम्बियों ने (गणधर स्वामी से) पूछा—वे कौन हैं जिन्होंने सुन्दर समीक्षा पूर्वक इस सम्पूर्ण हितकारी असाधारण धर्म का उपदेश दिया है ? इस धर्म के उपदेष्टा ज्ञातपुत्र (महावीर) का कैसा ज्ञान था, कैसा दर्शन और कैसा शील था ? हे भिक्षु, तुम यथार्थ रूप से जानते हो। जैसा सुना हो, और जैसा धारण किया हो, वैसा कहो। इसपर गणधर स्वामी ने कहा—वे भगवान् महावीर क्षेत्रज्ञ (अर्थात् आत्मा और विश्व को जानने वाले) थे, कुशल आशुप्रज्ञ, अनतज्ञानी व अनतदर्शी थे। उन यशस्वी, साक्षात् अरहत अवस्था मे स्थित, भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म और धृति (सयम मे रति) को देख लो और जान लो। ऊर्ध्व, अध. एव उत्तर-दक्षिण आदि तिर्यक् दिशाओ मे जो भी त्रस या स्थावर जीव हैं, उन सबके नित्य-अनित्य गुणधर्मों की समीक्षा करके उन ज्ञानी भगवान् ने सम्यक् प्रकार से दीपक के समान् धर्म को प्रकट किया है। वे भगवान् सर्वदर्शी, ज्ञानी, निरामगंध (निष्पाप), धृतिमान्, स्थितात्मा, सर्व जगत् मे अद्वितीय विद्वान्, ग्रथातीत (अर्थात् परिग्रह रहित निग्रन्थ), अभय और अनायु (पुनर्जन्म रहित) थे। वे भूतिप्रज्ञ (द्रव्य-स्वभाव को जानने वाले), अनिकेतचारी (गृहत्याग कर विहार करने वाले) ससार समुद्र के तरने वाले, धीर, अनतचक्षु (अनन्तदर्शी) असाधारण रूप से उसी प्रकार तप्तायमान व अधकार मे प्रकाश वाले है, जैसे सूर्य, वैरोचन (अग्नि) व इन्द्र।

अवतरण—२

अर्धमागधी-प्राकृत

कम्मसगेहि सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणसासु जोणीसु विणिहम्मति पाणिणो ॥१॥
कम्माण तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययति मणुस्सयं ॥२॥
माणुस्स विग्गह लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा।
ज सोच्चा पडिवज्जति तव खतिमहिंसय ॥३॥
आहच्च सवण लद्धु सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउसं मग्ग बहवे परिभस्सई ॥४॥

सुइ च लद्धु सद्ध च वीरिय पुण दुल्लहं ।
वहवे रोयमाणा वि नो य ज पडिवज्जए ॥५॥
माणुसत्तम्मि आयाउ जो धम्म सोच्च सद्दहे ।
तपस्सी वीरिय लद्धु सवुडे निद्धुणे रय ॥६॥
सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।
निव्वाण परम जाइ घयसित्ति व्व पावए ॥७॥

(उत्तराध्ययन, ३-६-१२)

(अनुवाद)

कर्मो के ससर्ग से मोहित हुए प्राणी दुखी व वहुत वेदनाओ से युक्त होते हुए अमानुषिक (पशु-पक्षी आदि तिर्यंच) योनियो मे पडते है । कदाचित् अनुपूर्वी से कर्मों की क्षीणता होने पर जीव शुद्धि प्राप्त कर मनुष्यत्व ग्रहण करते हैं । मनुष्य शरीर पाकर भी ऐसा धर्म-श्रवण पाना दुर्लभ है, जिसको सुनकर (जीव) क्षमा, अहिंसा व तप का ग्रहण करते हैं । यदि किसी प्रकार धर्म-श्रवण मिल भी गया, तो उसमे श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, और इसलिए बहुत से लोग उद्धार करने वाले मार्ग (धर्म) को सुनकर भी भ्रष्ट हो जाते हैं । धर्म-श्रवण पाकर व श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य (धर्माचरण मे पुरुपार्थ) दुर्लभ है । बहुत से जीव रुचि (श्रद्धा) रखते हुए भी सदाचरण नही करते । मनुष्य-योनि मे आकर जो धर्म का श्रवण करता है और श्रद्धान रखता है, एव तपस्वी हो पुरुषार्थ लाभ करके आत्म-सवृत्त होता है, वह कर्म-रज को झडा देता है । सरल-स्वभावी प्राणी को ही शुद्धि प्राप्त होती है और शुद्ध प्राणी के ही धर्म स्थिर होता है वही परम निर्वाण को जाता है, जैसे धृत से सीची जाने पर अग्नि (ऊपर को जाता है) ।

अवतरण—३

शौरसेनी प्राकृत

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणय ॥१॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्यदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोह ॥२॥
णगफणीए मूल णाइणि-तोएण गब्भणागेण ।
णाग होइ सुवण्ण धम्मत भच्छवाएण ॥३॥
कम्म हवेइ किट्ट रागादी कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरण परमोसहमिदि वियाणाहि ॥४॥
झाण हवेइ अग्गी तवयरण भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोह धमियव्वो परमजोईहि ॥५॥
भुज्जतस्स वि दव्वे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे ।
सखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादु ॥६॥
तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुज्जतस्स वि णाण णवि सक्कदि रागदो(णाणदो)णेदु ॥७॥
(कुन्दकुन्द समयसार २२९-२३५)

(अनुवाद)

ज्ञानी सब द्रव्यो के राग को छोडकर कर्मों के मध्य मे रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नही होता, जैसे कर्दम के बीच सुवर्ण । किन्तु अज्ञानी समस्त द्रव्यो मे रक्त हुआ कर्मों के मध्य पहुच कर कर्म-रज मे लिप्त होता है, जैसे कर्दम मे पडा लोहा । नागफणी का मूल, नागिनी तोय गर्भनाग से मिश्रित कर (लोहे को) भस्त्रिका की धोकसे अग्नि मे तपाने पर शुद्ध सुवर्ण बन जाता है । कर्म कीट है, और रागादि विभाव उसकी कालिमा । इनको दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही परम औषधि जानना चाहिये । ध्यान अग्नि है, तपश्चरण धौकनी (भस्त्रिका) कहा गया है । जीव लोहा है जो परम योगियो द्वारा धौका जाता है, (और इस प्रकार परमात्मा रूपी सुवंण-बना लिया जाता है)। सचित्त, अचित्त, व मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यो के सयोग से भी शख की सफेदी काली नही की जा सकती । उसी प्रकार ज्ञानी के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप विविध द्रव्यो का उपयोग करने पर भी राग द्वारा उसके ज्ञान स्वभाव का अपहरण नही किया जा सकता (अर्थात् ज्ञान को अज्ञान रूप परिणत नहीं किया जा सकता) ।

अवतरण—४

शौरसेनी प्राकृत

जीवो णाणसहावो जह अग्गी उण्हवो सहावेण।
अत्थतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥१॥
जदि जीवादो भिण्ण सव्व-पयारेण हवदि त णाण।
गुण-गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे दुण्ह ॥२॥
जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण-भावेण कीरए भेओ।
ज जाणदि त णाण एव भेओ कह होदि ॥३॥
णाण भूय-वियार जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो।
जीवेण विणा णाण कि केण वि दीसदे कत्थ ॥४॥
सच्चेयण-पच्चक्ख जो जीव णेव मण्णदे मूढो।
सो जीव ण मुणतो जीवाभाव कह कुणदि ॥५॥
जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि।
इदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥६॥
सकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमय हवेइ सकप्पो।
त चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥७॥
देह-मिलिदो हि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पवट्टमाणो एयत्त वुज्झदे दोण्ह ॥८॥

(कात्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८-१८५)

(अनुवाद)

जीव ज्ञान स्वभावी है, जैसे अग्नि स्वभाव से ही उष्ण है। ऐसा नही है कि किसी पदार्थान्तिर रूप ज्ञान के सयोग से जीव ज्ञानी बना हो। यदि ज्ञान सर्वप्रकार से जीव से भिन्न है, तो उन दोनो का गुणगुणी भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है (अर्थात् उनके बीच गुण और गुणी का सबध नही बन सकता)। जीव और ज्ञान के बीच यदि गुणी और गुण के भाव से भेद किया जाय, तो जब जो जानता है वही ज्ञान है, यह ज्ञान का स्वरूप होने पर दोनो मे भेद कैसे

बनेगा ? जो ज्ञान को भूत-विकार (जडतत्त्व का रूपान्तर) मानता है, वह स्वय भूत-गृहीत (पिशाच से आविष्ट) है, ऐसा समझना चाहिये। क्या किसी ने कही जीव के बिना ज्ञान को देखा है। जीव के स्वचेतन (स्वसवेदन) प्रत्यक्ष होने पर भी जो मूर्ख उसे नही मानता, वह जीव नही है, ऐसा विचार करता हुआ, जीव का अभाव कैसे स्थापित कर सकता है ? (अर्थात् वस्तु के सद्भाव या अभाव का विचार करना, यही तो जीव का स्वभाव है)। यदि जीव नही तो सुख और दु ख का वेदन कौन करता है, एव समस्त इन्द्रियो के विषयो को विशेष रूप से कौन जानता है ? जीव सकल्पमय है, और सकल्प सुख-दु ख मय है। उसी को सर्वत्र देह से मिला हुआ जीव वेदन करता है। क्योकि देह से मिला हुआ जीव ही समस्त कर्म करता है, इसी कारण दोनो मे प्रवर्तमान एकत्व दिखाई देता है।

अवतरण—५

महाराष्ट्री प्राकृत

एए रिवू महाजस, जिणमि अह न एत्थ सदेहो।
वच्च तुम अइतुरिओ, कन्तापरिरक्खण कुणसु ॥१॥
एव भणिओ णियत्तो, तूरन्तो पाविओ तमुद्देस।
न य पेच्छइ जणयसुय, सहसा ओमुच्छिओ रामो ॥२॥
पुणरवि य समासत्थो, दिट्ठी निक्खिवइ तत्थ तरुगहणे।
घणपेम्माउलहियओ, भणइ तओ राहवो वयण ॥३॥
एहेहि इओ सुन्दरि, वाया मे देहि, मा निरावेहि।
दिट्ठा सि रुक्खगहणे, किं परिहास चिर कुणसि ॥४॥
कन्ताविओगदुहिओ, त रण्ण राहवो गवेसन्तो।
पेच्छइ तओ जडागिं, केकायन्त महिं पडिय ॥५॥
पक्खिस्स कण्णजाव, देइ मरन्तस्स सुहयजोएण।
मोत्तूण पूइदेह, तत्थ जडाऊ सुरो जाओ ॥६॥
पुणरवि सरिऊण पिय, मुच्छा गन्तूण तत्थ आसत्थो।
परिभमइ गवेसन्तो, सीयासीयाकउज्जलणाओ ॥७॥

भो भो मत्त महागय, एत्थारण्णे तुमे भमन्तेण ।
महिला सोमसहावा, जइ दिट्ठा किं न साहेहि ॥८॥
तरुवर तुम पि वच्चसि, दूरुन्नयवियडपत्तलच्छाय ।
एत्थ अपुव्वविलया, कह ते नो लक्खिया रण्णे ॥९॥
सोऊण चक्कवाई, वाहरमाणी सरस्स मज्झत्था ।
महिलासकाभिमुहो, पुणो वि जाओ च्चिय निरासो ॥१०॥

(पउमचरिय, ४४, ५०-५९)

(अनुवाद)

(रावण के सिहनाद को लक्ष्मण का समझकर जब राम खरदूषण की युद्ध भूमि मे पहुँचे, तब उन्हे देख लक्ष्मण ने कहा)—हे महायश, इन शत्रुओ को जीतने के लिये तो मैं ही पर्याप्त हूँ, इसमे सदेह नही, आप अतिशीघ्र लौट जाइये और जल्दी-जल्दी अपनी कुटी पर आये, किन्तु उन्हे वहा जनक-सुता दिखाई न दी। तब वे सहसा मूर्च्छित हो गये। फिर चेतना जागृत होने पर वे वृक्षो के वन में अपनी दृष्टि फेकने लगे, और सघन प्रेम से व्याकुल हृदय हो कहने लगे—हे सुन्दरी, जल्दी यहा आओ, मुझसे बोलो, देर मत करो, मैंने तुम्हे वृक्षो की बीहड मे देख लिया है, अब देर तक परिहास क्यो कर रही हो ? कात के वियोग मे दुखी राघव ने उस अरण्य मे ढूढते-ढूढते जटायु को देखा, जो पृथ्वी पर पडा तडफडा रहा था। राम ने उस मरते हुए पक्षी के कान मे णमोकार मत्र का जाप सुनाया। उस शुभयोग से जटायु अपने उस अशुचि देह को छोड-कर देव हुआ। राम फिर भी प्रिया का स्मरण कर मूर्च्छित हो गये, व आश्वस्त होने पर-हाय सीता, हाय सीता, ऐसा प्रलाप करते हुए उनकी खोज मे परिभ्रमण करने लगे। हाथी को देखकर वे कहते है—हे मत्त महागज, तुमने इस अरण्य मे भ्रमण करते हुए एक सौम्य-स्वभाव महिला को यदि देखा है, तो मुझे बतलाते क्यो नही ? हे तरुवर, तुम तो खूब उन्नत हो, विकट हो और पत्रो की छाया युक्त हो, तुमने यहा कही एक अपूर्व स्त्री को देखा हो तो मुझे कहो ? राम ने सरोवर के मध्य से चकवी की ध्वनि सुनी, वे वहा अपनी पत्नी की शका (आशा) से उस ओर बढ़े, किन्तु फिर भी वे निराश ही हुए।

अवतरण—६

महाराष्ट्री प्राकृत

जत्थ कुलुक्क—निवाण परिमल-जम्मो जसो कुसुम-दाम ।
नहमिव सव्व-गओ दिस-रमणीण सिराइ सुरहेइ ॥१॥
सव्व-वयाण मज्झिम-वय व सुमणाण जाइ-सुमण व ।
सम्माण मुत्ति-सम्म व पुहइ-नयराण ज सेय ॥२॥
चम्म जाण न अच्छी णाण अच्छीइ ताण वि मुणीण ।
विअसन्ति जत्थ नयणा किं पुण अन्नाण नयणाइ ॥३॥
गुरुणो वयणा वयणाइ ताव माहप्पमवि य माहप्पो ।
ताव गुणाइ पि गुणा जाव न जस्सि वुहे निअइ ॥४॥
हरि-हर-विहिणो देवा जत्थन्नाइँ वसन्ति देवाइ ।
एयाए महिमाए हरिओ महिमा सुर-पुरीए ॥५॥
जत्थञ्जलिणा कणय रयणाइँ वि अञ्जलीइ देइ जणो ।
कणय-निही अक्खीणो रयण-निही अक्खया तह वि ॥६॥
तत्थ सिरि-कुमारवालो वाहाए सव्वओ वि धरिअ-धरो ।
सुपरिट्ठ-परीवारो सुपइट्ठो आसि राइन्दो ॥७॥

(कुमारपाल-चरित, १, २२-२८)

(अनुवाद)

उस अणहिलपुर नगर मे चालुक्य-वशी राजाओ का यश आकाश की समस्त दिशाओं मे ऐसा फैल रहा था, जैसे मानो दिशा रूपी रमणियो के मस्तको को उनके जूडे की पुष्पमाला का परिमल सुगधित कर रहा हो। जैसे सब वयो मे मध्यम-वय (यौवन), पुष्पो मे चमेली का पुष्प व सुखों मे मोक्ष का सुख श्रेष्ठ माना गया, उसी प्रकार पृथ्वी भर के नगरो मे अणहिलपुर श्रेष्ठ था। जिनके चर्म चक्षु नही है, केवल ज्ञान रूपी आँखे है, ऐसे मुनियो के नेत्र भी उस नगर को देखने के लिये विकसित हो उठते थे, दूसरों के नेत्रों की तो वात ही क्या ? गुरु (बृहस्पति) के वचन तभी तक वचन थे, माहात्म्य भी तभी तक माहात्म्य, और गुण भी तभी तक थे, जब तक किसी ने इस नगरी के विद्वानों को नही

देखा। यहाँ विष्णु महादेव, ब्रह्मा एव अन्य भी अनेक देवता निवास करते थे, जिससे इसकी महिमा ने (एक मात्र इन्द्रदेव वाली) सुर-पुरी की महिमा को तिरस्कृत किया था। यहा लोग अजलि भर-भर कर सुवर्ण और रत्न दान करते थे, तो भी उनके सुवर्ण और रत्नों की निधियाँ अक्षय बनी हुई थी। ऐसे उस अनहिलपुर नगर मे अपने बाहु पर समस्त धरा को धारण किये हुए सुप्रतिष्ठ परिवार सहित राजेन्द्र श्री कुमारपाल सुप्रतिष्ठित थे।

अवतरण – ७

अपभ्रंश

सहु दोहि मि गेहणिहि तुरगे सहु वीरेण तेण मायगे।
गउ झसचिधु णवर कस्सीरहो कस्सीरय-परिमिलियसमीरहो।
कस्सीरउ पट्टणु सपाइउ चामरछत्तभिच्चरह-राइउ।
णदु राउ सयडमुहु आइउ णरिहे पेम्मजरुल्लउ लाइउ।
का वि कत झूरवइ दुचित्ती का वि अणगलोयणे रत्ती।
पाए पडइ मूढ जामायहो धोयइ पाय घए घरु आयहो।
घिवइ तेल्लु पाणिउ मण्णेप्पिणु कुट्टु देही छुडु दारु भणेप्पिणु।
अइ अण्णमण डिभु चितेप्पिणु गय मज्जारयपिल्लउ लेप्पिणु।
धूवइ खीरु का वि चलु मथइ का वि असुत्तउ मालउ गुथइ।
ढोयइ सुहयहो सुहइ जणेरी भासइ हउ पिय दासि तुहारी।
(णायकुमारचरिउ-५, ८, ६-१५)

(अनुवाद)

नागकुमार अपनी दोनो गृहिणियो, घोडे, और उस व्याल नामक वीर के साथ उस काश्मीर देश को गया जहा का पवन केशर की गध मे मिश्रित था। काश्मीरपट्टण मे पहुँचने पर वहा का राजा नद चवर, छत्र, सेवक व रथादि से विराजमान स्वागत के लिए सम्मुख आया। उधर नगर-नारियो को प्रेम का ज्वर चढा। कोई कान्ता दुविधा मे पडी झूरने लगी, और कोई उस कामदेव के अवतार नाणकुमार के दर्शन मे तल्लीन हो गई। कोई मूढ अवस्था मे अपने घर आये हुए जामाता के पाव पडकर उन्हे घृत से धोने लगी। पानी के धोखे

पीने के लिये तेल ले आई, और पान के कत्थे की जगह मक्खी का बुरादा डाल दिया। कोई अति धन्यमनस्का बालक समझकर बिल्ली के बिल्ले को उठाकर लेने लगी। कोई मुग्धा ममत्ववश दूध की ही धूमालित रस्सी को ... । कोई जल को ही दूध समझकर मथने लगी, और कोई बिना सूत के माला गूंथने लगी। कोई सुभग नागकुमार के पास जाकर सुख की इच्छा से कहने लगी—हे प्रिय, मैं तुम्हारी दासी हूँ।

अवतरण—८

अपभ्रंश

त तेहउ धणकनणपउरु दिट्ठु कुमारि वरणयरु।
णियवतु वियणु विगद्धावद्धवि ण विणु णीरि कमलसरु॥
त पुरु पविस्समाणएण तेण दिट्ठय।
त ण णित्थु किं पि ज ण लोयणाण इट्ठय॥१॥
वाविकूवनुप्पवहुसुण्णसण्णवणाप ।
मटविहारदेहुरेहि मुट्ठ त रवण्णय॥२॥
देवमदिरेसु। तेनु अंतर णियच्छए।
सो ण तित्यु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए॥३॥
सुरहिगंधपरिमल पसूअएहि फसए।
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए॥४॥
पिक्कसालिण्णय पणट्ठयम्मि ताणए।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि त पराणए॥५॥
सरवरम्मि पकयाइ भमिरभमरकदिरे।
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइ मदिरे॥६॥
हत्थगिज्झवरफलाइ विभएण पिक्खए।
केण कारणेण को वि तोडिउ ण भक्खए॥७॥
पिच्छिऊण परधणाइ सुब्भए ण लुब्भए।
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए सुचितए॥८॥

(भविसयत्तकहा-४, ७,)

(अनुवाद)

भविष्यदत्त कुमार ने उस धनकचन से पूर्ण समृद्ध नगर को निर्जन होने के कारण ऐसा शोभाहीन देखा, जैसे मानो जलरहित कमल-सरोवर हो। कुमार ने नगर मे प्रवेश किया और देखा कि वहा ऐसी कोई वस्तु नही है जो लोचनो को इष्ट न हो। वापी और कूप वहा खूब स्वच्छ जल से पूर्ण थे। मठो, विहारों व देवगृहो से नगर खूब रमणीक था। उसने देवालयो मे प्रवेश किया, किन्तु वहा उसे एसा कोई नही दिखाई दिया जो पूजा करना चाहता हो। फूलों की खूब सुगध आ रही थी, किन्तु वहा ऐसा कोई नही था, कोई उन्हे हाथ से तोडकर सू घना चाहे। पका हुआ शालिधान्य खेतो मे ही नष्ट हो रहा था, कोई उन्हे बचाकर घर ले जाने वाला वहा नही था। सरोवर मे भौरो के भ्रमण और गु जार से युक्त कमल विद्यमान थे, किन्तु वहा कोई ऐसा नही था, जो उन्हे तोडकर मदिर मे ले जावे। उसने विस्मय से देखा कि वहा उत्तम फल लगे हैं, जो हाथ से ही तोडे जा सकते हैं, किन्तु न जाने किस कारण से कोई उन्हे तोडकर नही खाता। वहा पराये धन को देखकर क्षुब्ध या लुब्ध होने वाला कोई नही था। नगर की ऐसी निर्जन अवस्था देखकर कुमार अपने आप मे विकल्प और चिन्तन करने लगा।

====

व्याख्यान – ३

जैन दर्शन

सकता है—चेतन और अचेतन। पदार्थों की चेतनता का कारण उनमे व्याप्त, किन्तु इन्द्रियो के अगोचर, वह तत्व है, जिसे जीव या आत्मा कहा गया है। प्राणियों के अचेतन तत्व से निर्मित शरीर के भीतर, उससे स्वतत्र इस आत्म-तत्व के अस्तित्व की मान्यता यथार्थत भारतीय तत्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन और मौलिक शोध है, जो प्राय समस्त वैदिक व अवैदिक दर्शनो मे स्वीकार की गई है, और यह मान्यता समस्त भारतीय सस्कृति मे प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सुप्रतिष्ठित पाई जाती है। केवल एकमात्र चार्वाक या बार्हस्पत्य दर्शन ऐस मिलता है जिसमे जीव या आत्मा की शरीरात्मक भौतिक तत्वो से पृथक् सत्ता नही मानी गई। इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, जैसे जड पदार्थों के सयोग-विशेप से ही वह शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे चैतन्य कहा जाता है। यथार्थत प्राणियो मे इन जड तत्वो के सिवाय और कोई ऐसी वस्तु नही है, जो कोई अपनी पृथक् सत्ता रखती हो, प्राणियो की उत्पत्ति के समय कही अन्यत्र से आती हो, अथवा शरीरात्मक भौतिक सतुलन के बिगडने से उत्पन्न होनेवाली अचेतनात्मक मरणावस्था के समय शरीर से निकलकर कही अन्यत्र जाती हो। इस दर्शन के अनुसार जगत् मे केवल एकमात्र अजीव तत्व ही है। किन्तु भारतवर्ष मे इस जडवाद की परम्परा कभी पनप नही सकी। इसका पूर्णरूप से प्रतिपादन करनेवाला कोई प्राचीन ग्रन्थ भी प्राप्त नही हुआ। केवल उसके नाना अवतरण व उल्लेख हमे आत्मवादी दार्शनिकों की कृतियो मे खडन के लिये ग्रहण किये गये प्राप्त होते है, तथा तत्वोपप्लवसिंह जैसे कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमे इस अनात्मदर्शन की पुष्टि की गई है।

बौद्धदर्शन आत्मवादी है या अनात्मवादी, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। बुद्ध के वचनो से लेकर पिछले बौद्धाचार्यों की रचनाओ तक मे दोनों प्रकार की वचारधाराओ के पोषक विचार प्राप्त होते हैं। इसमे एक ओर आत्मवाद अर्थात् जीव की सत्ता की स्वीकृति को मिथ्यादृष्टि कहा गया है, जीवन की प्रधारा को नदी की धारा के समान घटना-प्रवाह रूप बतलाया गया है, एव निर्वाण की अवस्था को दीपक की उस लौ की अवस्था द्वारा समझाया गया है, जो आकाश या पाताल तथा किसी दिशा-निदिशा मे न जाकर केवल बुझकर समाप्त हो जाती है।

यथा—दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काचित् विदिश न काचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शातिम्॥
जीवो तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काचित् विदिश न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया पाया जाता है कि जीवन मे ऐसा भी कोई तत्व है जो जन्म-जन्मान्तरो मे से होता हुआ चला आता है, जो शरीर रूपी घर का निर्माण करता है, शरीर-धारण को दुखमय पाता है, और उससे छूटने का उपाय सोचता और प्रयत्न करता है, चित्त को सस्कार रहित बनाता और तृष्णा का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करता है, यथा—

अनेक-जाति-सखार सधाविस्स अनिब्बिसं ।
गहकारक गवेसंतो दुक्खा जाति पुनप्पुन ॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहिसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसखित ।
विसंखारगत चित्त तण्हा मे खयमज्झगा ॥ (धम्मपद, १५३-५४)

यहा स्पष्टत भौतिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसे किसी अन्य अनादि अनन्त तत्व की स्वीकृति का प्रमाण मिलता है ।

जैन दर्शन मे जीव तत्व—

जैन सिद्धान्त मे जीव का मुख्य लक्षण उपयोग माना गया है । उपयोग के दो भेद है—दर्शन और ज्ञान । दर्शन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे किया जाता है । सामान्य भाषा मे दर्शन का अर्थ होता है—किसी पदार्थ को नेत्रो द्वारा देखने की क्रिया । शास्त्रीय दृष्टि मे दर्शन का अर्थ है— जीवन व प्रकृति सम्बन्धी व्यवस्थित ज्ञान, जैसे साख्य, वेदान्त या जैन व बौद्ध दर्शन । किन्तु जैन सिद्धान्त मे जीव के दर्शन रूप गुण का अर्थ होता है—आत्म-चेतना । प्रत्येक जीव मे अपनी सत्ता के अनुभवन की शक्ति का नाम दर्शन है, व बाह्य पदार्थो को जानने समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान । जीव के इन्हीं दो अर्थात् दर्शन और ज्ञान, अथवा स्वसवेदन व पर-सवेदन रूप गुणो को उपयोग कहा गया है । जिन पदार्थो मे यह उपयोग-शक्ति है, वहा जीव व आत्मा विद्यमान है, और जहा इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है, वहा जीव का अस्तित्व नही माना गया । इस प्रकार जीव का निश्चित लक्षण चैतन्य है । इस चैतन्य-युक्त जीव की पहचान व्यवहार मे पाच इन्द्रियो, मन वचन व काय रूप तीन बलो, तथा श्वासोच्छ्वास और आयु, इन दस प्राण रूप लक्षणो की हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती है—

पच वि इदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होति दस पाणा ॥
(गो० जी० १२९)

जीव के और भी अनेक गुण हैं। उसमे कर्तृत्व-शक्ति है, और उपभोग का सामर्थ्य भी। वह अमूर्त्त है, और जिस शरीर मे वह रहता है उसके समस्त अग-प्रत्यगो को व्याप्त किये रहता है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह-परिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई ॥
(द्रव्यसंग्रह, गा०-२)

ससार मे इसप्रकार के जीवो की सख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर मे विद्यमान जीव अपना स्वतत्र अस्तित्व रखता है, और उस अस्तित्व का कभी ससार मे या मोक्ष मे विनाश नही होता। इस प्रकार जीव के सबध मे जैन विचार-धारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्म एक है, और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नही, मायाजाल है।

जैन दर्शन मे ससारवर्ती अनन्त जीवो को दो भागो मे विभाजित किया गया है—साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक जीव वे हैं, जो एक-एक शरीर मे एक-एक रहते है, और वे इन्द्रियो के भेदानुसार पाच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय जीव वे है जिनके एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके पाच भेद है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय। स्पर्श और रसना जिन जीवों के होता है, वे द्वीद्रिन्य है, जैसे लट आदि। इसी प्रकार चीटी वर्ग के स्पर्श, रसना और घ्राण युक्त प्राणी त्रीन्द्रिय, भ्रमरवर्ग के नेत्र सहित चतुरिन्द्रिय, एव शेष पशु, पक्षी व मनुष्य वर्गों के श्रोत्रेन्द्रिय सहित जीव पचेन्द्रिय कहलाते है। एकेन्द्रिय जीवो को स्थावर और द्वीन्द्रियादि इतर सब जीवो को त्रस सज्ञा दी गई है। इन एक-एक शरीर धारी वृक्षादि समस्त प्राणियो के शरीरो मे ऐसे साधारण जीवो की सत्ता मानी गई है, जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि जीवन-क्रियाए सामान्य अर्थात् तक साथ होती हैं। उन के इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं, और प्रत्येक निगोद मे एक साथ जीने व मरने वाले जीवो की सख्या अनन्त मानी गई है—

एग-णिगोद-सरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अनन्तगुणा, सव्वेण विदीदकालेण ॥
(गो० जी० १९४)

इन निगोदवर्ती जीवो का आयु-प्रमाण अत्यल्प माना गया है, यहाँ तक कि एक श्वासोच्छ्वास काल मे उनका अठारह वार जीवन व मरण हो जाता है। यही वह जीवो की अनन्त राशि है जिसमे से क्रमश. जीव ऊपर की योनियों मे

आते रहते व मुक्त जीवो के ससार से निकलते जाने पर भी ससारी जीवनधारा को अनन्त बनाये रखते हैं। इस प्रकार के साधारण जीवो की मान्यता जैन सिद्धान्त की अपनी विशेषता हैं। अन्य दर्शनो मे इस प्रकार की कोई मान्यता नही पाई जाती। वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार एक मिलीमीटर (१/२६") प्रमाण रक्त मे कोई ५० लाख जीवकोष (सेल्स) गिने जा चुके है। आश्चर्य नही जो जैन दृष्टाओ ने इसी प्रकार के कुछ ज्ञान के आधार पर उक्त निगोद जीवो का प्ररूपण किया हो। उक्त समस्त जीवो के शरीरो को भी दो प्रकार का माना गया है—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म शरीर वह है जो अन्य किसी भी द्रव्य से बाधित नही होता, और जो बाधित होता है, वह बादर (स्थूल) शरीर कहा गया है। पूर्वोक्त पचेन्द्रिय जीवो के पुन' दो भेद किये गये हैं—एक सज्ञी अर्थात् मन सहित, और दूसरे असज्ञी अर्थात् मनरहित।

इन समस्त ससारी जीवों की दृश्यमान दो गतिया मानी गई है—एक मनुष्यगति और दूसरी पशु-पक्षि आदि सब इतर प्राणियो की तिर्यचगति। इनके अतिरिक्त दो और गतिया मानी गयी हैं—एक देवगति और दूसरी नरकगति। मनुष्य और तिर्यंच गतिवाले पुण्यवान् जीव अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने के लिये देवगति प्राप्त करते है, और पापी जीव अपने दुष्कर्मो का दड भोगने के लिये नरक गति मे जाते हैं। जो जीव पुण्य और पाप दोनो से रहित होकर वीतराग भाव और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे ससार की इन चारो गतियो से निकल कर मोक्ष को प्राप्त करते है। ससारी जीवो की शरीर-रचना मे भी विशेषता है। मनुष्य और तिर्यंचो का शरीर औदारिक अर्थात् स्थूल होता है, जिसमे उसी जीवन के भीतर कोई विपरिवर्तन सम्भव नही। किन्तु देवो और नरकवासी जीवो का शरीर वैक्रियिक होता है, अर्थात् उसमे नाना प्रकार की विक्रिया या विपरिवर्तन सम्भव है। इन शरीरों के अतिरिक्त ससारी जीवो के दो और शरीर माने गये हैं—तैजस और कार्मण। ये दोनो शरीर समस्त प्राणियो में सदैव विद्यमान रहते हैं। मरण के पश्चात् दूसरी गति मे जाते समय भी जीव से इनका सग नही छूटता। तैजस शरीर जीव और पुद्गल प्रदेशो मे सयोग स्थापित किये रहता है, तथा कार्मण शरीर उन पुद्गल परमाणुओ का पुज होता है, जिन्हे जीव निरन्तर अपने मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा सचित करता रहता है। इन दो शरीरो को हम जीव का सूक्ष्म शरीर कह सकते है। इन चार शरीरो के अतिरिक्त एक और विशेष प्रकार का शरीर माना गया है, जिसे आहारक शरीर कहते है। इसका निर्माण ऋद्धिधारी मुनि अपनी शकाओ के निवारणार्थ दुर्गम प्रदेशो मे विशेष ज्ञानियो के पास जाने के लिये अथवा तीर्थवन्दना के हेतु करते है।

शरीरधारी ससारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगधारी होते है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंच एव नारकी जीव नियम से नपुसक होते है। पचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच पुरुष-वेदी, स्त्रीवेदी न नपुसक वेदी तीनो प्रकार के होने हैं। देवो मे नपुसक नही होते। उनके केवल देव और देविया, ये दो ही भेद है।

जीवो का शरीरधारण रूप जन्म भी नानाप्रकार से होता है। मनुष्य व तिर्यंच जीवो का जन्म दो प्रकार से होता है—गर्भ से या सम्मूर्छण से। जो प्राणी माता के गर्भ से जरायु-युक्त अथवा अण्डे या पोत (जरायु रहित अवस्था) रूप मे उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज हैं, और जो गर्भ के बिना बाह्य सयोगो द्वारा शीत ऊष्ण आदि अवस्थाओ मे जीवो की उत्पत्ति होती है, उसे सम्मूर्छन जन्म कहते है। देव और नारकी जीवो की उत्पत्ति उक्त दोनो प्रकारो से भिन्न उपपाद रूप बतलाई गई है।

अजीव तत्व—

अजीव द्रव्यो के पाँच भेद है—**पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।** इनमे रूपवान द्रव्य **पुद्गल** है, और शेष सब अरूपी हैं। जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ विश्व मे दिखाई देते है, वे सब पुद्गल दव्य के ही नाना रूप है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चारो तत्व, वृक्षो पशु-पक्षी आदि जीवो व मनुष्यो के शरीर, ये सब पुद्गल के ही रूप है। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप **परमाणु** है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नही होता। अनेक परमाणुओ के सयोग से उनमे परिमाण उत्पन्न होता है, और उनमे स्पर्श, रस, गध व वर्ण—ये चार गुण प्रकट होते हैं, तभी वह पुद्गल-स्कन्ध (समूह) इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। शब्द, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, अन्धकार छाया व प्रकाश ये सब पुद्गल द्रव्य के ही विकार माने गये है। पुद्गलो का स्थूलतम रूप महान् पर्वतो व पृथिवियो के रूप में दिखाई देता है। इनसे लेकर सूक्ष्मतम कर्म-परमाणुओ तक पुद्गल द्रव्य के असख्यात भेद और रूप पाये जाते है। पुद्गल स्कन्धो का भेद और सघात निरन्तर होता रहता है। और इसी पूरण व गलन के कारण इनका पुद्गल नाम सार्थक होता है। पुद्गल शब्द का उपयोग जैन सिद्धान्त के अति-रिक्त बौद्ध ग्रन्थो मे भी पाया जाता है, किन्तु वहा उसका अर्थ केवल शरीरी जीवो से है। अचेतन जड पदार्थो के लिये वहा पुद्गल शब्द का प्रयोग नही पाया जाता।

धर्म-द्रव्य—

दूसरा अजीवद्रव्य धर्म है। यह अरूपी है, और समस्त लोक मे व्याप्त है।

इसी द्रव्य की व्याप्ति के कारण जीवों व पुद्गलों का एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमन सम्भव होता है, जिसप्रकार कि जल मछली के गमनागमन का माध्यम बनता है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का यह प्रयोग पारिभाषिक है, और उसकी नैतिक आचरण आदि सबंधात्मक 'धर्म' से भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये।

अधर्म-द्रव्य—

जिस प्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम है, उसी प्रकार अधर्म-द्रव्य गमनागमान पदार्थ के रुकने मे सहायक होता है, जिसप्रकार कि वृक्ष की छाया श्रान्त पथिक को रुकने मे निमित्त होती है।

आकाश-द्रव्य—

चौथा अजीव द्रव्य आकाश है, और उसका गुण है—जीवादि अन्य सब द्रव्यों को अवकाश प्रदान करना। आकाश अनन्त हैं, किन्तु जितने आकाश मे जीवादि अन्य द्रव्यो की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहा गया है। उसमे अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व न है, और न हो सकता, क्योंकि वहा गमनागमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनो तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यो की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। द्रव्य की आकाश मे स्थिति होती है, गमन होता है और रुकावट भी होती है। सामान्यत ये तीनो अर्थक्रियाए आकाश गुण द्वारा ही सम्भव मानी जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म विचारानुसार एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्ध रूप मे एक ही प्रकार की क्रिया सभव मानी जा सकती है। विशेषत जब वे क्रियाए परस्पर कुछ विभिन्नता को लिये हुए हो, तब हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उनके कारण व साधनभूत द्रव्य भिन्न भिन्न होंगे। इसी विचारधारानुसार लोकाकाश मे उक्त तीन अर्थ-क्रियाओ के साधनरूप तीन पृथक्-पृथक् द्रव्य अर्थात् आकाश, धर्म और अधर्म की कल्पना की गई है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों का एक ऐसा भी मत है कि आकाश मे जहा तक भौतिक तत्वो की सत्ता पाई जाती है, उसके परे उनके गमन मे वह आकाश रुकावट उत्पन्न करता है। जैन सिद्धान्तानुसार यह परिस्थिति इस कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि उस अलोकाकाश मे गमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है।

काल-द्रव्य—

पाचवा अजीव द्रव्य काल है, जिसका स्वरूप दो प्रकार से निरूपण किया गया है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहारकाल। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मक सत्ता रखता है, और वह धर्म और अधर्म द्रव्यो के समान समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है। तथापि उक्त समस्त द्रव्यो से उसकी अपनी एक विशेषता यह है कि वह उनके समान अस्तिकाय अर्थात् वहुप्रदेशी नही है, उसके एक-एक प्रदेश एकत्र रहते हुए भी अपने-अपने रूप मे पृथक् हैं, जिस प्रकार कि एक रत्नो की राशि, अथवा वालुकापु ज, जिसका एक-एक कण पृथक्-पृथक् ही रहता है, और जल या वायु के समान एक कार्य निर्माण नही करता। ये एक-एक काल-प्रदेश समस्त पदार्थों मे व्याप्त हैं, और उनमे परिणमन अर्थात् पर्याय परिवर्तन किया करते हैं। पदार्थों मे कालकृत सूक्ष्मतम विपरिवर्तन होने मे अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जाने के लिये जितना अध्वान या अवकाश लगता है, वह व्यवहार काल का एक समय है। ऐसे असख्यात समयो की एक आवलि, सख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास सात उच्छ्वासो का एक स्तोक, सात स्तोको का एक लव, ३८½ लवो की एक नाली, २ नालियो का एक मुहूर्त और ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। अहोरात्र को २४ घटे का मानकर उक्त क्रम से १ उच्छ्वास का प्रमाण एक सेकड का २८८०/३७७३ वा अश अर्थात् लगभग ३/४ सेकड होता है। इसके अनुसार एक मिनट मे उच्छ्वासो की सख्या ७८.६ आती है, जो आधुनिक वैज्ञानिक व प्रायोगिक मान्यता के अनुसार ही है। आवलि व समय का प्रमाण सेकड सिद्ध होता है। अहोरात्र से अधिक की कालगणना पक्ष मास ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुताग, नयुत, आइक्रम से अचलप तक की गई है जो ८४ को ८४ से ३१ वार गुणा करने के बरावर आती है। ये सब सख्यात-काल के भेद हैं, जिसका उत्कृष्ट प्रमाण इससे कई गुणा बडा है। तत्पश्चात् असंख्यात-काल प्रारम्भ होता है, और उसके भी जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट भेद वतलाये गये हैं। उसके ऊपर अनन्तकाल का प्ररूपण किया गया है, और उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वतलाये गये हैं। जिस प्रकार यह व्यवहार-काल का प्रमाण उत्कृष्ट अनन्त (अनन्तानन्त) तक कहा गया है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशो का, समस्त द्रव्यो के अविभागी प्रतिच्छेदों का, एव केवल ज्ञानी के ज्ञान का प्रमाण भी अनन्तानन्त कहा गया है।

द्रव्यों के सामान्य लक्षण—

जैन दर्शनानुसार ये ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल

नामक छह मूलद्रव्य हैं, जिनसे विश्व के समस्त सत्तात्मक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इस निर्माण मे जो वैचित्र्य दिखलाई देता है वह द्रव्य की अपनी एक विशेषता के कारण सम्भव है। द्रव्य वह है जो अपनी सत्ता रखता है (सद द्रव्य-लक्षणम्)। किन्तु जैन सिद्धान्त मे सत् का लक्षण वेदान्त के समान कूटस्थ-नित्यता नहीं माना गया। यहा सत्का स्वरूप यह बतलाया गया है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनो लक्षणो से युक्त हो (उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-युक्त सत्)। तदनुसार उक्त सत्तात्मक द्रव्यो मे प्रतिक्षण कुछ न कुछ नवीनता आती रहती है, कुछ न कुछ क्षीणता होती रहती है और इस पर भी एक ऐसी स्थिरता भी बनी रहती है जिसके कारण वह द्रव्य अपने द्रव्य-स्वरूप से च्युत नहीं हो पाता। द्रव्य की यह विशेषता उसके दो प्रकार के धर्मों के कारण सम्भव है। प्रत्येक द्रव्य गुणों और पर्यायो से युक्त है (गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्) गुण वस्तु का वह धर्म है, जो उससे कभी पृथक नहीं होता, और उसकी ध्रुवता को सुरक्षित रखता है। किन्तु पर्याय द्रव्य का एक ऐसा धर्म है जो निरन्तर बदलता है, और जिसके कारण उसके स्वरूप मे सदैव कुछ नवीनता और कुछ क्षीणता रूप परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ—सुवर्ण धातु के जो विशेष गुरुत्व आदि गुण हैं, वे कभी उससे पृथक नही होते। किन्तु उसके मुद्रा, कुडल कंकण आदि आकार व सस्थान रूप पर्याय बदलते रहते हैं। इसप्रकार दृश्य-मान जगत् के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिपूर्ण निरूपण जैन दर्शन मे पाया जाता है, और उसमे अन्य दर्शनों मे निरूपित द्रव्य के आंशिक स्वरूप का भी समावेश हो जाता है। जैसे, बौद्ध दर्शन मे समस्त वस्तुओ को क्षणध्वसी माना गया है, जो जैन दर्शनानुसार द्रव्य मे निरन्तर होनेवाले उत्पाद-व्यय रूप धर्मों के कारण है, तथा वेदान्त मे जो सत् को कूटस्थ नित्य माना गया है, वह द्रव्य की ध्रौव्य गुणात्मकता के कारण है।

आस्रव-तत्व—

जैन सिद्धान्त के सात तत्वो मे प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्वो का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अब, यहा तीसरे और चौथे आस्रव बंध नामक तत्वो की व्याख्या की जाती है। यह विषय जैन कर्म-सिद्धान्त का है, जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली मे जैन मनोविज्ञान (साइकोलौजी) कह सकते हैं। सचेतन जीव ससार मे किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण किये हुए पाया जाता है। इस शरीर के दो प्रकार के अंग-उपाग हैं, एक हाथ पैर आदि, और दूसरे जिह्वा, नासिक नेत्रादि। इन्हे क्रमश कर्मेन्द्रिया और

ज्ञानेन्द्रियां कहा गया है, और इन्ही के द्वारा जीव नानाप्रकार की क्रियाए करता रहता है। विकसित प्राणियो मे इन क्रियाओ का सचालन भीतर से एक अन्य शक्ति द्वारा होता है, जिसे मन कहते हैं, और जिसे नो-इन्द्रिय नाम दिया गया है। जिह्वा द्वारा, रसना के अतिरिक्त, शब्द या वाणी के उच्चारण का काम भी लिया जाता है। इस प्रकार जीव की क्रियाओ मे काय, वाक् और मन, ये विशेषरूप से प्रबल साधन सिद्ध होते है, और इनकी ही क्रिया को जैन सिद्धान्त मे योग कहा गया है। इनके अर्थात् काययोग, वाग्योग और मनोयोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशो मे एक परिस्पदन होता है, जिसके कारण आत्मा मे एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमे उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्माति-सूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा से आ चिपटते हैं। इसी आत्मा और पुद्गल परमाणुओ के सपर्क का नाम आश्रव है, एव सपर्क मे आनेवाले परमाणु ही कर्म कहलाते है, क्योकि उनका आगमन उपर्युक्त काय, वाक् व मन के कर्म द्वारा होता है। इसप्रकार आत्मा के ससर्ग मे आनेवाले उन पुद्गल परमाणुओ की कर्म सज्ञा लाक्षणिक है।

काय आदि योगो रूप आत्म-प्रदेशो मे उत्पन्न होने वाला उपर्युक्त परिस्पदन दो प्रकार का हो सकता है—एक तो किसी क्रोध, मान आदि तीव्र मानसिक विकार से रहित साधारण क्रियाओ के रूप मे, और दूसरा क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार तीव्र मनोविकार रूप कषायो के वेग से प्रेरित। प्रथम प्रकार का कर्मास्रव ईर्यापथिक अर्थात् मार्गगामी कहा गया है, क्योकि उसके द्वारा आत्म और कर्मप्रदेशो का कोई स्थिर बध उत्पन्न नही होता। वह आया और चला गया, जिस प्रकार की किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर बैठी धूल शीघ्र ही झड जाती है, देर तक वस्त्र से चिपटी नही रहती। इस प्रकार का कर्मास्रव समस्त ससारी जीवो मे निरन्तर हुआ करता है, क्योकि उनके किसी न किसी प्रकार की मानसिक, शारीरिक या वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नहीं पडता। परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएँ कषायो से युक्त होती हैं, तब आत्म-प्रदेशो मे एक ऐसी परपदार्थग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती हैं जिसके कारण उसके सपर्क मे आने वाले कर्मपरमाणु उसमे शीघ्र पृथक् नही होते। यथार्थत क्रोधादि विकारों की इसी शक्ति के कारण उन्हे कषाय कहा गया है। सामान्यत वटवृक्ष के दूध के समान चेपवाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते हैं, क्योकि उनमे चिपकाने की शक्ति होती है। उसी प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव मे कर्मपर-माणुओ का आश्लेप कराने मे कारणीभूत होने के कारण कषाय कहलाते हैं।

इस सकपाय अवस्था मे उत्पन्न हुआ कर्मास्त्रव साम्परायिक कहलाता है, क्योंकि उसकी आत्मा मे सम्पराय चलती है, और वह अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये विना आत्मा से पृथक् नही होता।

वन्ध तत्त्व—

उक्त प्रकार जीव की सकपाय अवस्था मे आये हुए कर्म-परमाणुओ का आत्मप्रदेशो के साथ सवध हो जाने को ही कर्मवध कहा जाता है। यह वध चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश। प्रकृति वस्तु के शील या स्वभाव को कहते हैं, अतएव कर्म परमाणुओ मे जिस प्रकार की परिणाम-उत्पादन शक्तिया आती हैं, उन्हे कर्मप्रकृति कहते हैं। कर्मों मे जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे कर्म-स्थिति कहते हैं। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम अनुभाग है, तथा आत्मप्रदेशो के साथ कितने कर्म-परमाणुओ का वध हुआ, इसे प्रदेश वध कहते हैं। इस चार प्रकार की वध-व्यवस्था के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त मे कर्मो के सत्व, उदय, उदीरणा, उत्कर्पण, अपकर्पण सक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना का भी विचार किया जाता है। वधादि ये ही दश कर्मों के करण अर्थात् अवस्थाए कहलाती है। वध के चार प्रकारो का उल्लेख किया ही जा चुका है। वध होने के पश्चात् कर्म किस अवस्था मे आत्मा के साथ रहते है, इसका विचार सत्व के भीतर किया जाता है। अपनी सत्ता मे विद्यमान कर्म जव अपनी स्थिति को पूरा कर फल देने लगता है, तव उसे कर्मो का उदय कहते है। कभी कभी आत्मा अपने भावों की तीव्रता के द्वारा कर्मों की स्थिति पूरी होने से से पूर्व ही उन्हे फलोन्मुख वना देता है, इसे उदीरणा कहते है। जिसप्रकार कच्चे फलो को विशेप ताप द्वारा उनके पकने के समय से पूर्व ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार यह कर्मों की उदीरणा होती है। कर्मों के स्थिति-काल व अनुभाग (फलदायिनी शक्ति) मे विशेष भावो द्वारा वृद्धि करने का नाम उत्कर्षण है। उसी प्रकार उसके स्थिति-काल व अनुभाग को घटाने का नाम अपकर्षण है। कर्मप्रकृतियो के उपभेदो का एक से दूसरे रूप परिवर्तन किये जाने का नाम सक्रमण है। कर्मों को उदय मे आने से रोक देना उपशम है। कर्मों को उदय मे आने से, तथा अन्य प्रकृति रूप सक्रमण होने से भी रोक देना निधत्तिकरण है, और कर्मों की ऐसी अवस्था मे ले जाना कि जिससे उसका उदय, उदीरण, सक्रमण, उत्कर्षण या अपकर्पण, ये कोई विपरिवर्तन न हो सकें, उसे निकाचन कहते हैं।

कर्मों के इन दश करणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त

नियतिवादी नही है, और सर्वथा स्वच्छन्दवादी भी नही है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नही रहती, और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नही होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं मे सुधार-वधार करने मे सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त मे मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियो को वदल डालने की शक्ति, इन दोनों का भली-भाति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म-प्रकृतियां—

(ज्ञानावरणकर्म)

वधे हुए कर्मों मे उत्पन्न होने वाली प्रकृतिया दो प्रकार की हैं—मूल और उत्तर। मूल प्रकृतिया आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियो की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकतिया वतलाई गई हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण ससारावस्था मे उसका पूर्ण विकास नही होने पाता, जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड जाता है। इसकी ज्ञानों के भेदानुसार पाच उत्तर प्रकृतिया हैं, जिससे क्रमश जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मन.पर्यय ज्ञान व केवलज्ञान आवृत्त होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत्त करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि; तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, और केवल दर्शनावरणीय, ये नौ उत्तम प्रकृतियां हैं। निद्रा कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढतर अवस्था अथवा पुन पुन वृत्ति को निद्रा-निद्रा कहते है। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निंद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने-फिरने अथवा नाना इन्द्रिय व्यापार करने लगता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढतर रूप है, जिससे उक्त क्रियाए वार-बार व अधिक तीव्रता से होती हैं। स्त्यानगृद्धि कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था मे ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है।

अचक्षुदर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ती है, तथा अवधि व केवल दर्शनावरणीयों द्वारा उन-उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। उक्त भिन्न-भिन्न ज्ञानों व दर्शनों के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म जीव के मोह अर्थात् उसकी रुचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—एक दर्शन-मोहनीय, और दूसरा चारित्र-मोहनीय, जो क्रमशः दर्शन व चारित्र में उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते हैं। दर्शन मोहनीय की उत्तरप्रकृतियां तीन हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्र-मोहनीय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते हैं, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तरप्रकृतियां होती हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि एवं पुरुष, स्त्री व नपुंसक वेद—ये ९ नोकषाय मिलाने से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियों की संख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सब में अधिक प्रबल व प्रभावशाली पाया जाता है, और प्रत्येक प्राणी के मानसिक जीवन में अत्यन्त व्यापक व उसके लोक-चारित्र के निर्माण में समर्थ सिद्ध होता है। जीवन की क्रियाओं का आदि स्रोत जीव की मनोवृत्ति है। विशुद्ध मनोवृत्ति व दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इस दर्शन की, विकार की तरतमतानुसार, अगणित अवस्थाएं होती हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है। एक सर्वथा वह मूढ अवस्था जिसमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा नहीं होती, एवं वस्तु को विपरीत भाव से ग्रहण करने की संभावना होती है, यह दर्शन-मोहनी कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति है। दूसरे, जहां इस मिथ्यात्व प्रकृति की जटिलता क्षीण होकर, उसमें सम्यग्दृष्टि का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसे दर्शन-मोहनीय की मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहा जाता है। और तीसरी, जहां मिथ्यात्व क्षीण होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है यद्यपि उसमें कुछ चांचल्य, मालिन्य व अगाढ़त्व बना रहता है, तब उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहा जाता है। धार्मिक जीवन को समझने के लिये इन तीन मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान बड़ा आवश्यक है, क्योंकि मूलतः ये ही अवस्थाएं चारित्र को सदोष व निर्दोष बनाती हैं। चारित्र में स्पष्ट विकार उत्पन्न करने वाले मानसिक भाव अनन्त हैं। किन्तु उन्हें हम दो सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक राग जो पर पदार्थ की ओर मनको आकर्षित व आसक्त करता है। इसे शास्त्र में पेज्ज (सं० प्रेयस्) कहा

गया है, और दूसरा द्वेष जो भिन्न पदार्थो से घृणा उत्पन्न करता है। यथार्थत. ये ही दो मूलकषाय या कषाय-भाव हैं, और इन्ही के प्रभेद रूप क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय माने गये है। इनमे से प्रत्येक की तीव्रता और मन्दतानुसार अगणित भेद हो सकते हैं, किन्तु सुविधा के लिये चार भेद माने गये है, जो भौतिक दृष्टान्तो द्वारा स्पष्ट समझे जा सकते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध पाषाण की रेखा के समान बहुत स्थायी होता है। उसका अप्रत्याख्यान रूप पृथ्वी की रेखा के सदृश,प्रत्याख्यान रूप धूलि की रेखा के समान, और सज्वलन, जल की रेखा के समान क्रमश तीव्रतम से लेकर मन्दतम होता है। इसी प्रकार मन की चार अवस्थाए, उसकी कठोरता व लचीलेपन के अनुसार, पासाण, अस्थि, काष्ठ और वेत्र के समान, माया की, उसकी वक्रता की जटिलता व हीनता के अनुसार, वास की जड, मेढे के सीग, गोमूत्र तथा खुरपे के सदृश, एव लोभ कषाय की कृमिराग, कीट (ओगन) शरीमल और हलदी के समान तीव्रता से मन्दता की ओर उक्त अनन्तानुवन्धी आदि चार चार अवस्थाये होती हैं।

'नो' का अर्थ होता है—ईषत् या अल्प। तदनुसार नोकषाय वे मानसिक विकार कहे गये हैं, जो उक्त कषायो के प्रभेद रूप होते हुए भी अपनी विशेषता व जीवन मे स्पष्ट पृथक् स्वरूप के कारण अलग से गिनाये गये है। इन नोकषायो का स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। इसप्रकार मोहनीय कर्म की उन अट्ठाइस उत्तर प्रकृतियो के भीतर अपनी एक विशेष व्यवस्थानुसार उन सब मानसिक अवस्थाओ का अन्तर्भाव हो जाता है, जो अन्यत्र रस व भावो के नाम से सक्षेप या विस्तार से वर्णित पाई जाती हैं। इन्ही मोहनीय कर्मो की तीव्र व मन्द अवस्थाओ के अनुसार वे आध्यात्मिक भूमिकाए विकसित होती हैं जिन्हें गुणस्थान कहते है जिनका वर्णन आगे किया जावेगा।

अन्तरायकर्म—

जो कर्म जीव के वाह्य पदार्थों के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास में विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है, अन्तराय कर्म कहा गया है। उसकी पाच उत्तर प्रकृतिया है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। ये क्रमश जीव के दान करने, लाभ लेने, भोज्य व भोग्य पदार्थों का एक बार में, अथवा अनेक बार मे, सुख लेने, एव किसी भी परिस्थिति का सामना करने योग्य सामर्थ्य रूप गुणों के विकास में वाधक होते हैं।

वेदनीय कर्म—

जो कर्म जीव को सुख या दु ख रूप वेदन उत्पन्न करता है, उसे वेदनीय कहते है। इसकी उत्तर प्रकृतिया दो है—साता वेदनीय, जो जीव को सुख का अनुभव कराता है, और असाता वेदनीय, जो दु ख का अनुभव कराता है। यहा अन्तराय कर्म की भोग और उपभोग प्रकृतिया, तथा वेदनीय की साता-असाता प्रकृतियो के फलोदय मे भेद करना आवश्यक है। किसी मनुष्य को भोजन, वस्त्र, गृह आदि की प्राप्ति नही हो रही, इसे उसके लाभान्तराय कर्म का उदय कहा जायेगा। इनका लाभ होने पर भी यदि किसी परिस्थितिवश वह उनका भोग या उपभोग नही कर पाता, तो वह उसके भोग-उपभोगान्तराय कर्म का उदय माना जायेगा, और यदि उक्त वस्तुओ की प्राप्ति और उनका उपयोग होने पर भी उसे सुख का अनुभव न होकर, दु ख ही होता है, तो यह उसके असाता वेदनीय कर्म का फल है। सम्भव है किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म के उपशमन से उसे भोग्य वस्तुओ की प्राप्ति हो गई हो, पर वह उनका सुख तभी पा सकेगा जब साथ ही उससे साता-वेदनीय कर्म का उदय हो। यदि असाता-वेदनीय कर्म का उदय है, तो उन वस्तुओ से भी उसे दु ख ही होगा।

आयु कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यंच गति मे आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है, और उसकी ये ही चार अर्थात् देवायु, नरकायु, मनुष्यायु व तिर्यंचायु उत्तर प्रकृतियाँ है।

गोत्र कर्म—

लोक व्यवहार सबधी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल मे लोक पूजित आचरण की परम्परा है, उसे उच्चगोत्र, और जिसमे लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे नीचगोत्र नाम दिया गया है। इन कुलो मे जन्म दिलाने वाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है, और उसकी तदनुसार उच्चगोत्र व नीचगोत्र, ये दो ही उत्तर प्रकृतिया हैं। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा मे भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त मे उसकी उच्चता और नीचता मे आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

नाम कर्म—

जिसप्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेषरूप से प्राणियो के मानसिक

गुणो व विकारो का निर्माण होता है, उसी प्रकार उसके शारीरिक गुणो के निर्माण मे नामकर्म विशेष समर्थ कहा गया है। नामकर्म के मुख्यभेद ४२, तथा उनके उपभेदों की अपेक्षा ९३ उत्तर प्रकृतिया मानी गई हैं, जो इसप्रकार है—

(१) चार गति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव), (२) पाच जाति (एकेन्द्रीय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय), (३) पाच शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण), (४-५) औदारिकादि पाचो शरीरो के पाच वधन व उन्ही के पाँच सघात, (६) छह शरीर सस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड), (७) तीन शरीरागोपाग(औदारिक, वैक्रियिक और आहारक), (८) छह सहनन (वज्र-वृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित, और असप्राप्तास्र-पाटिका), (९) पाच वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल), (१०) दो गध (सुगन्ध और दुर्गन्ध), (११) पाच रस (तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर), (१२) आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण), (१३)चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य, तिर्यग्गतियोग्य, मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य), (१४) अगुरुलघु, (१५) उपघात, (१६) परघात, (१७) उच्छ्वास, (१८) आतप, (१९) उद्योत, (२०) दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त), (२१) त्रस, (२२)स्थावर, (२३) बादर, (२४) सूक्ष्म, (२५) पर्याप्त, (२६) अपर्याप्त, (२७) प्रत्येक शरीर, (२८) साधारण शरीर,(२९) स्थिर, (३०) अस्थिर, (३१) शुभ, (३२) अशुभ, (३३) सुभग, (३४) दुर्भग, (३५) सुस्वर, (३६) दुस्वर, (३७) आदेय, (३८) अनादेय, (३९) यश कीर्ति (४०) अयश कीर्ति, (निर्माण और (४२) तीर्थंकर।

उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों मे से अधिकाश का स्वरूप उनके नामों पर मे अथवा पूर्वोक्त उल्लेखो से स्पष्ट हो जाता है। शेष का स्वरूप इसप्रकार है—पाच प्रकार के शरीरो के जो पाच प्रकार के बन्धन वतलाये गये है, उनका कर्त्तव्य यह है कि वे शरीर नामकर्म के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओ मे परस्पर वधन व सश्लेप उत्पन्न करते हैं, जिसके अभाव मे वह परमाणुपुंज रत्नराशिवत् विरल (पृथक्) रह जायगा। वधन प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए सश्लिष्ट शरीर मे सघात अर्थात् निश्छिद्र ठोसपन लाना सघात प्रकृति का कार्य है। सस्थान नामकर्म का कार्य शरीर की आकृति का निर्माण करना है। जिस शरीर के समस्त भाग उचित प्रमाण से निर्माण होते हैं, वह समचतुरस्त्र कहलाता है। जिस शरीर का नाभि से ऊपर का भाग अति स्थूल, और नीचे का

भाग अति लघु हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डल (अर्थात् वटवृक्षाकार) संस्थान कहा जाता है। इसके विपरीत, अर्थात् ऊपर का भाग अत्यन्त लघु और नीचे का अत्यन्त विशाल हो, वह स्वाति (अर्थात् वल्मीक के आकार का) संस्थान कहलाता है। कुबड़े शरीर को कुब्ज, सर्वांग ह्रस्व शरीर को वामन, तथा सर्व अंगोपांगों में विषमाकार (टेढ़ेमेढ़े) शरीर को हुण्ड संस्थान कहते हैं। इन्हीं छह भिन्न शरीर-आकृतियों का निर्माण करने वाली छह संस्थान प्रकृतियां मानी गई हैं। उपर्युक्त औदारिकादि पांच शरीर-प्रकृतियों में से तैजस और कार्मण, इन दो प्रकृतियों द्वारा किन्हीं भिन्न अंगों व उपांगों का निर्माण नहीं होता। इसलिये इन दो को छोड़कर अंगोपांग नामकर्म की शेष तीन ही प्रकृतियां कही गई हैं। वृषभ का अर्थ अस्थि, और नाराच का अर्थ कील होता है। अतएव जिस शरीर की अस्थियां व उनके जोड़ों वाली कीलें वज्र के समान दृढ़ होती हैं, वह शरीर वज्र-वृषभ-नाराच संहनन कहलाता है। जिस शरीर की केवल नाराच अर्थात् कीलें वज्रवत् होती हैं, उसे वज्र-नाराच संहनन कहा जाता है। नाराच संहनन में कीलें तो होती हैं, किंतु वज्र समान दृढ़ नहीं। अर्द्ध-नाराच संहनन वाले शरीर में कील पूरी नहीं, किन्तु आधी रहती है। जिस शरीर में अस्थियों के जोड़ों के स्थानों में दोनों ओर अल्प कीलें लगी हों, वह कीलक संहनन है, और जहां अस्थियों का बंध कीलों से नहीं, किंतु स्नायु, मांस आदि से लपेटकर संघटित हो, वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन कहा गया है। इन्हीं छह प्रकार के शरीर-संहननों के निर्माण के लिये उक्त छह प्रकृतियां ग्रहण की गई हैं। मृत्युकाल में जीव के पूर्व शरीराकार का विनाश हुए बिना उसकी नवीन गति की ओर ले जाने वाली शक्ति को देने वाली प्रकृति का नाम आनुपूर्वी है, जिसके गतियों के अनुसार चार भेद हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंगों की ऐसी रचना जो स्वयं उसी देहधारी जीव को क्लेशदायक हो, उसे उपघात, और जिससे दूसरों को क्लेश पहुंचाया जा सके, उसे परघात कहते हैं। इन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने वाली प्रकृतियों के नाम भी क्रमशः उपघात और परघात हैं। बड़े सींग, लम्बे स्तन, विशाल तोंद एवं वात, पित्त, कफ आदि दूषण उपघात कर्मोदय के, तथा सर्प की डाढ व बिच्छू के डंक का विष, सिंह व्याघ्रादि के नख और दंत आदि परघात कर्मोदय के उदाहरण हैं। आतप का अर्थ है ऊष्णता सहित, तथा उद्योत का अर्थ है ऊष्णता रहित प्रकाश, जैसा कि सूर्य और चन्द्र में पाया जाता हैं। जीव-शरीरों में इन धर्मों को प्रकट करने वाली प्रकृतियों को आतप व उपघात कहा है, जैसा कि क्रमशः सूर्यमण्डलवर्ती पृथ्वी-कायिक शरीर व खद्योत। स्थानान्तरण का नाम गति है जो विहायस् अर्थात् आकाश-अवकाश में होती है। किन्ही जीवों की गति प्रशस्त अर्थात् सुन्दर व

उत्तम मानी गई है, जैसे हाथी, हस आदि की, और कितनो की अप्रशस्त, जैसे गधा, ऊट आदि की। इन्ही दो प्रकार की गतियो की विधायक प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति नामक कर्म-प्रकृतिया मानी गई है। पर्याप्त शरीर वह है जिनकी इन्द्रिय आदि पुद्गल-रचना पूर्ण हो गई है या होने वाली हैं। अपर्याप्त शरीर वह है जिसकी पुद्गल-रचना पूर्ण होने के पूर्व ही उसका मरण अवश्यम्भावी है। इन्ही दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो की विधायक पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकृतिया मानी गई हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर मे रस, रुधिर, मास, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र, इन धातुओ मे स्थिरता उत्पन्न होती है उसे स्थिर, और जिसके द्वारा उन्ही धातुओ का क्रमश विपरिवर्तन होता है उसका नाम अस्थिर प्रकृति हैं। रक्त व प्राण वायु का जो शरीर में निरंतर सचालन होता रहता है अस्थिर प्रकृति का, तथा अस्थि आदि धातुओ मे जो स्थिरता पाई जाती है उसे स्थिर प्रकृति का, कार्य कहा जा सकता है। शरीर के अगोपागो के शुभ-लक्षण, शुभ-प्रकृति एव अशुभ-लक्षण, अशुभ-प्रकृति के कारण होते है। उसी प्रकार उनके सौन्दर्य व कुरूपता के कारण सुभग व दुर्भग प्रकृतिया हैं। जिस कर्म के उदय से जीव की आदेयता अर्थात् बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय; और उससे विपरीत भाव प्रकृति अनादेय कही गई है। जिस कर्म के उदय से लोक मे जीव के गुणो की ख्याति होती हैं वह यश कीर्ति, और जिससे कुख्याति होती है वह अयश कीर्ति प्रकृति है। जिस कर्म के द्वारा शरीर के अगोपागो के प्रमाण व यथोचित स्थान का नियत्रण होता है, उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को त्रिलोक-पूज्य तीर्थंकर पर्याय प्राप्त होती है, वह तीर्थंकर प्रकृति है। इस प्रकार नामकर्म की इन विविध प्रकृतियों द्वारा जीवो के शरीर, अगोपागो व धातु-उपधातुओ की रचना और उनके कार्य-वैचित्र्य का निर्धारण व नियमन किया गया है।

प्रकृतिबन्ध के कारण—

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मबन्ध का कारण सामान्य रूप से जीव की कषायात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तिया है। कौन सी कषायात्मक प्रवृत्तिया किन कर्म-प्रकृतियो को जन्म देती है, इसका भी सूक्ष्म विचार किया गया है, जो सक्षेप में इस प्रकार है.—तत्वज्ञान मोक्ष का साधन है। इस साधना की बाधक प्रवृत्तिया हैं—इस तत्वज्ञान को दूसरो से छुपाना, या जानबूझकर उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करना; ज्ञान के विषय मे किसी से मात्सर्य भाव रखना, उनके ज्ञानार्जन मे बाधा उपस्थित करना, या उसे अर्जन से रोकना, व सच्चे ज्ञान मे दूषण उत्पन्न करना। ये कुटिल वृत्तिया जब सम्यग्दर्शन के सबध मे

उपस्थित होती है, तब दर्शनावरण, व ज्ञान के सबध मे उत्पन्न होने पर ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति का बध कराती है, व भाववैचित्र्य के अनुसार इन कर्मों की उत्तर प्रकृतिया बधती है। उसी प्रकार परम ज्ञानियों, उत्तम शास्त्र, सच्चे धर्मनिष्ठ व्यक्तियो, धर्माचरणो व सच्चे देव के सम्बन्ध मे निंदा और अपमान फैलाना, दर्शन मोहनीय कर्म के कारण है, तथा क्रोधादि कषायो से जो भावो की तीव्रता उत्पन्न होती है, उनसे चारित्र-मोहनीय कर्म बधता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग व शक्ति (वीर्य) उपार्जन जीवन को सुखी बनाने की सामान्य प्रवृत्तिया है। इनमें कुटिलभाव से विघ्न उपस्थित करने के कारण अन्तराय कर्म की विविध प्रकृतियों का बध होता है। ये चारो कर्म जीव के गुणो के विकास मे बाधक होते है, अर्थात् इनकी सत्ता विद्यमान रहने पर जीव अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणो को पूर्ण रूप से विकसित नही कर पाता, इसी कारण इन कर्मों को घाति एव पाप-कर्म कहा गया है। शेष जो चार वेदनीय, आयु, गोत्र व नाम कर्म है, उनका अस्तित्व रहते हुए भी जीव के केवल ज्ञान की प्राप्ति रूप पूर्ण आध्यात्मिक विकास मे बाधा नही पडती। इसलिये इन कर्मों को अघाति कर्म माना गया है। स्वय को या दूसरो को दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध आदि रूप पीडा देने से असातावेदनीय कर्म का बध होता है, तथा जीवों के प्रति दयाभाव, व्रती व सयमी पुरुषों के प्रति अनुकम्पा व दान, तथा ससार से छूटने की इच्छा से स्वय व्रत-सयम के अभ्यास से साता-वेदनीय कर्म का बध होता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म दो प्रकार का सिद्ध हुआ—एक दुःखदायी, दूसरा सुखदायी और इसलिये एक को पाप व दूसरे को पुण्य कहा गया है।

यहा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनो ही प्रवृत्तिया कर्मबध उत्पन्न करती हैं। हा, उनम से प्रथम प्रकार का कर्मबध जीव के अनुभव मे अनुकूल व सुखदायी, और दूसरा प्रतिकूल व दुख'दायी सिद्ध होता है। इसीलिये पुण्य और पाप दोनों को शरीर को बांधने वाली बेड़ियो की उपमा दी गई है। पाप रूप बेडियां लोहे की है, और पुण्य रूप बेड़िया सुवर्ण की, जो अलकारो का रूप धारणकर प्रिय लगती है। जीव के इन पुण्य और पाप रूप परिणामो को शुभ व अशुभ भी कहा गया है। ये दोनो ही ससार-भ्रमण के कारणीभूत हैं, भले ही पुण्य जीव को स्वर्गादि शुभ गतियो मे ले जाकर सुखानुभव कराये; अथवा पाप नरकादि व पशु योनियो मे ले जाकर दु.खदायी हो। इन दोनो शुभाशुभ परिणामो से पृथक् जो जीव की शुद्धावस्था मानी गई है, वही कर्मबध से छुडाकर मोक्ष गति को प्राप्त कराने वाली है।

सासारिक कार्यो में अति आसक्ति व अति परिग्रह नरकायु बध का कारण

कहा गया है। मायाचार तिर्यंच आयु का, अल्पारंभ, अल्प परिग्रह, व स्वभाव की मृदुता मनुष्य आयु का, तथा सयम व तप देवायु का बंध कराते है। इनमे देव और मनुष्य आयु का बंध शुभ व नरक और तिर्यंच आयु का बंध अशुभ कहा गया है। पर-निंदा, आत्म-प्रशसा, सद्भूतगुणो का आच्छादन तथा असद्भूत गुणो का उद्भावन, ये नीचगोत्र; तथा उनसे विपरीत प्रवृत्ति, एव मान का अभाव और विनय, ये उच्चगोत्र बंध के कारण हैं। यहा पर स्पष्टत उच्चगोत्र का बंध शुभ व नीच गोत्र का बंध अशुभ होता है। नामकर्म की जितनी उत्तर प्रकृतिया बतलाई गई हैं, वे उनके स्वरूप से ही स्पष्टत. दो प्रकार की है—शुभ व अशुभ। उनमे अशुभ नामकर्म-बंध का कारण सामान्य से मन-वचन-काय योगों की वक्रता व कुत्सित क्रियाए, और माथ-साथ मिथ्या-भाव, पैशुन्य, चित्त की चचलता, झूठे नाप तोल रखकर दूसरो को ठगने की वृत्ति आदि रूप बुरा आचरण है, और इनसे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म के बंध का कारण है। नामकर्म के भीतर तीर्थंकर प्रकृति बतलाई गई है, जो जीव के शुभतम परिणामो से उत्पन्न होती है। ऐसे १६ उत्तम परिणाम विशेष रूप मे तीर्थंकर गोत्र के कारण बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय-सपन्नता, शीलो और व्रतो का निर्दोष परिपालन, निरन्तर ज्ञान-साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, शक्ति अनुसार त्याग और तप, भले प्रकार समाधि, साधु जनों का सेवा-सत्कार, पूज्य आचार्य विशेष विद्वान व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्मकार्यों का निरन्तर परिपालन; धार्मिक-प्रोत्साहन व धर्मीजनो के प्रति वात्सल्य-भाव।

स्थितिबन्ध—

ये कर्म-प्रकृतिया जब बंध को प्राप्त होती हैं, तभी उनमे जीव के कषायो की मदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वे कितने काल तक सत्ता मे रहेंगे, और फिर अपना फल देकर झड जायेंगे। इसे ही कर्मों का स्थितिबंध कहते है। यह स्थिति जीव के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती हैं जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, व अन्तराय, इन तीन कर्मो की जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोडाकोडी सागर की होती है। वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडाकोडी सागर की। मोहनीय कर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा-कोडी सागर की। आयुकर्म की क्रमश अन्तमुर्हूत और ३३ सागर की; तथा

नाम और गोत्र इन दोनो की आठ अन्तर्मुहूर्त और २० कोडाकोडी सागर की कही गई है। जघन्य और उत्कृष्ट के वीच की समस्त स्थितयाँ मध्यम कहलाती हैं। एक मुहूर्तकाल का प्रमाण आधुनिक कालगणनानुसार ४८ मिनट होता है। एक मुहूर्त मे एक समय हीन काल को भिन्नमुहूर्त और भिन्नमुहूर्त से एक समय हीन काल से लेकर एक आवलि तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। १ आवलि १ सेकेन्ड के अल्पाश के वरावर होता है। सागर अथवा सागरोपम एक उपमा प्रमाण है, जिसकी सख्या नही की जा मकती, अर्थात् सख्यातीत वर्षो के काल को सागर कहते हैं। कोडाकोडी का अर्थ है १ करोड का वर्ग (१ करोड × १ करोड)। इस प्रकार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति जो २०,३०,३३ या ७० कोडा-कोडी सागरोपम की वतलाई गई है, वह हमे केवल उनकी परस्पर दीर्घता व अल्पता का वोध मात्र कराती है। सामान्यत कभी कर्मो की उत्कृष्ट स्थितिया अप्रशस्त मानी गई हैं, क्योकि उनका वध सक्लेश रूप परिणामो से होता है। सक्लेश मे जितनी मात्रा मे हीनता और विशुद्धि की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से स्थिति-वध हीन होता जाना है, और जघन्यस्थिति का वध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था मे होता है। विशुद्धि और सक्लेश का लक्षण धवलाकार ने वतलाया है कि साता-वेदनीय कर्म के वध योग्य परिणाम को विशुद्धि, और असाता-वेदनीय के वध योग्य परिणाम को सक्लेश मानना चाहिये।

अनुभाग बंध—

कर्मप्रकृतियो मे स्थिति-वन्ध के साथ-साथ जो उनमे तीव्र या मन्द रसदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम अनुभाग वन्ध है, जिसप्रकार कि किसी फल मे उसके मिठास व खटास की तीव्रता व मन्दता भी पाई जाती है। यह अनुभाग बन्ध भी बन्धक जीवो के भावानुसार उत्पन्न होता है। विशुद्ध परिणामो द्वारा साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है, और असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियो का जघन्य। तथा सक्लिष्ट परिणामो से असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध होता है, व साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो का जघन्य। इसप्रकार स्थिति वन्ध और अनुभाग वन्ध का परस्पर यह सबध पाया जाता है कि जहा स्थिति वन्ध को उत्कृष्टता और जघन्यता क्रमश सक्लेश और विशुद्धि के अधीन है, वहा अनुभाग वन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता, प्रशस्त व अप्रशस्त प्रकृतियो मे भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है। प्रशस्त प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धि के अधीन है, और अप्रशस्त का सक्लेश के, एव जघन्यता इसके विपरीत।

कर्मों की यह अनुभाग रूप फलदायिनी शक्ति उदाहरणो द्वारा समझायी-जा

सकती है। जिस प्रकार लता, काष्ठ, अस्थि और पाषाण मे कोमलता से कठोरता की ओर उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मो का अनुभाग मन्दता से तीव्रता की ओर बढता जाता है। लता भाग से लेकर काष्ठ के कुछ अश तक घातिया कर्मों की शक्ति देशघाती कहलाती है, क्योंकि इस अवस्था मे वह जीव के गुणो का आशिक रूप से घात या आवरण करती है। और काष्ठ से आगे पाषाण तक की शक्ति सर्वघाति होती है—अर्थात् उस अनुभाग के उदय मे आने पर आत्मा के गुण पूर्णता से ढक जाते है। अघातिया कर्मों मे से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग, गुड खाड, मिश्री और अमृत के समान, तथा अप्रशस्त प्रकृतियो का नीम, काजी, विष और हलाहल के समान कहा गया है, जिसका बध उपर्युक्त विशुद्धि व सक्लेश की व्यवस्थानुसार उत्तरोत्तर तीव्र व मद होता है।

प्रदेशबन्ध—

पहले कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा जीव आत्म-प्रदेशो के सपर्क मे कर्म रूप पुद्गल परमाणुओ को ले आता है, और उनमे विविध प्रकार की कर्मशक्तिया उत्पन्न करता है। इसप्रकार पुद्गल परमाणुओ का जीव-प्रदेशो के साथ सबध होना ही प्रदेश-बन्ध है। जिन पुद्गल परमाणुओ को जीव ग्रहण करता है, वे अत्यन्त सूक्ष्म माने गये हैं, और प्रतिसमय बधने वाले परमाणुओ की सख्या अनन्त मानी गयी है। जितना कर्मद्रव्य बध को प्राप्त होती है उसका बटवारा जीव के परिणामानुसार आठ मूल प्रकृतियो मे हो जाता है। इनमे आयु कर्म का भाग सब से अल्प, उससे अधिक नाम और गोत्र का परस्पर समान, उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, इन तीन घातिया कर्मो का परस्पर मे समान, उससे अधिक मोहनीय का, और उससे अधिक वेदनीयका भाग होता है। इस अनुपात का कारण इस प्रकार प्रतीत होता है—आयुकर्म जीवन मे केवल एक बार बधता है, और सामान्यतः उसमे घटा-बढी न होकर जीवन भर क्रमशः क्षरण होता रहता है, इसलिये उसका द्रव्यपुज सब से अल्प माना गया है। नाम और गोत्र कर्मो की घटा-बढी जीवन मे आयुकर्म की अपेक्षा कुछ-अधिक होती है, किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की अपेक्षा उस द्रव्य का हानि लाभ कम ही होता है। मोहनीयकर्म सबधी कषायो का उदय, उत्कर्ष और अपकर्ष उक्त कर्मों की अपेक्षा अधिक होता है, और उससे भी अधिक सुख-दुःख अनुभवन रूप वेदनीय कर्म का कार्य पाया जाता है। इसी कारण इन कर्मों के भाग का द्रव्य उक्त क्रम से हीनाधिक कहा गया है। जिस प्रकार प्रतिसमय अनन्त परमाणुओ का पुद्गल-

पुंज बंध को प्राप्त होता है, उसी प्रकार पूर्व संचित कर्म-द्रव्य अपनी-अपनी स्थिति पूरी कर उदय मे आता रहता है, और अपनी अपनी प्रकृति अनुसार जीव को नानाप्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव कराता रहता है। इसप्रकार इस कर्म-सिद्धान्तानुसार जीव की नानादशाओं का मूल कारण उसका अपने द्वारा उत्पादित पूर्व कर्म-बंध है। तात्कालिक भिन्न-भिन्न द्रव्यात्मक व भावात्मक परिस्थितियां कर्मों की फलदायिनी शक्ति मे कुछ उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि विशेषताएं अवश्य उत्पन्न किया करती हैं, किन्तु सामान्य रूप से कर्मफल-भोग की धारा अविच्छिन्न रूप से चला करती है, और यह गीतानुसार भगवान् कृष्ण के शब्दों में पुकार कर कहती रहती है कि—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ॥ (भ०गी० ६, ५)

कर्मसिद्धान्त की विशेषता—

यह है संक्षेप मे जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त। 'जैसी करनी, तैसी भरनी' 'जो जस करहि तो तस फल चाखा' (As you sow, so you reap) एक अति प्राचीन कहावत है। प्राय सभ्यता के विकास के आदिकाल मे ही मानव ने प्रकृति के कार्य-कारण संबंध को जान लिया था, क्योंकि वह देखता था कि प्राय प्रत्येक कार्य किसी कारण के आधार से ही उत्पन्न होता है, और वह कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है। जहा उसे किसी घटना के लिये कोई स्पष्ट कारण दिखाई नही दिया, वहा उसने किसी अदृष्ट कारण की कल्पना की, और घटना जितनी अद्भुत व असाधारण सी दिखाई दी, उतना ही अद्भुत व असाधारण उसका कारण कल्पित करना पडा। इसी छुपे हुए रहस्यमय कारण ने कही भूत-प्रेत का रूप धारण किया, कही ईश्वर या ईश्वरेच्छा का, कही प्रकृति का, और कही, यदि वह घटना मनुष्य से सम्बद्ध हुई तो, उसके भाग्य अथवा पूर्वकृत अदृष्ट कर्मो का। जैन दर्शन मे इस अन्तिम कारण को आधारभूत मान-कर अपने कर्म-सिद्धान्त मे उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य अधिकाश धर्मो मे ईश्वर को यह कर्तृत्व सौंपा गया है, जिसके कारण उनमें कर्म-सिद्धान्त जैसी मान्यता या तो उत्पन्न ही नही हुई, या उत्पन्न होकर भी विशेष विकसित नही हो पाई। वेदान्त दर्शन में ईश्वर को मानकर भी उसके कर्तृत्व के संबंध मे कुछ दोष उत्पन्न होते हुए दिखाई दिये। बादरायण के सूत्रों मे और उनके शंकराचार्य कृत भाष्य (२,१, ३४) मे स्पष्ट कहा गया है कि यदि ईश्वर को मनुष्य के सुख-दुःखो का कर्ता माना जाय तो वह पक्षपात

और क्रूरता का दोषी ठहराता है, क्योकि वह कुछ मनुष्यो को अत्यन्त सुखी बनाता हैं, और दूसरों को अत्यन्त दु'खी । इस बात का विवेचन कर अन्तत इसी मत पर पहुँचा गया है कि ईश्वर मनुष्य के विषय मे जो कुछ करता है, वह उस-उस व्यक्ति के पूर्व कर्मानुसार ही करता है । किन्तु ऐसी परिस्थिति मे ईश्वर का कोई कर्तृत्व-स्वातन्त्र्य नही ठहरता । जैन कर्म सिद्धान्त मे मनुष्य के कर्मों को फलदायक बनाने के लिये किसी एक पृथक् शक्ति की आवश्यकता नही समझी गई, और उसने अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके गुण, आचरण व सुख-दुखात्मक अनुभवन को उत्पन्न करनेवाली कर्मशक्तियो का एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया । इसके द्वारा जैन दार्शनिको ने अपने परमात्मा या ईश्वर को, उसके कर्तृत्व मे उपस्थित होने वाले दोषो से मुक्त रखा है, और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के सबध मे पूर्णत उत्तरदायी बनाया है । जैन धर्म सिद्धान्त की यह बात भगवद्-गीता के उन वाक्यो मे ध्वनित हुई पाई जाती है, जहा कहा गया है कि—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्म-फल-सयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित् पाप न पुण्य कस्यचित् विभु. ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥(भ०गी० ५, १४-१५)

जीव और कर्मबंध सादि हैं या अनादि ?

कर्म सिद्धान्त के विवेचन मे देखा जा चुका है कि जीव किस प्रकार अपने मन- वचन-काय की क्रियाओ एव रागद्वेषात्मक भावनाओ के द्वारा अपने अन्त-रग मे ऐसी शक्तिया उत्पन्न करता है जिनके कारण उसे नानाप्रकार के सुखदुख रूप अनुभवन हुआ करते हैं, और उसका ससारचक्र मे परिभ्रमण चलता रहता है । प्रश्न यह है कि क्या जीव का यह ससार-परिभ्रमण, जिसप्रकार वह अनादि है, उसी प्रकार उसका अनन्त तक चलते रहना अनिवार्य है ? यदि यह अनिवार्य नही है, तो क्या उसका अन्त किया जाना वाछनीय है ? और यदि वाछनीय है, तो उस का उपाय क्या है ? इन विषयो पर भिन्न भिन्न धर्मों व दर्शनो के नाना मतमतान्तर पाये जाते हैं । विज्ञान ने जहाँ प्रकृति के अन्य गुणधर्मो की जानकारी मे अपना असाधारण सामर्थ्य बढा लिया है, वहाँ वह जीव के भूत व भविष्य के सबध मे कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकने मे अपने को असमर्थ पाता है । अतएव इस विषय पर विचार हमे धार्मिक दर्शनो की सीमाओ के भीतर ही करना पडता है । जो दर्शन जीवन की धारा को सादि अर्थात् अनादि न होकर

किसी एक काल में प्रारम्भ हुई मानते हैं, उनके [illegible] यह प्रश्न [illegible] है कि जीवन का प्रारम्भ कब और क्यों हुआ ? इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया जाता, किन्तु इतना तो कह दिया जाता है कि ईश्वर की इच्छा से जीव की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि जीव [illegible] [illegible] की अपेक्षा [illegible] आवश्यक हो जाता है, और [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] का [illegible] आत्मा की कल्पना होता है। [illegible] [illegible] [illegible] जा चुका है, जैन धर्म में इस [illegible] [illegible] के [illegible] पर सीधे जीव के अनादि काल से संसार में [illegible] होने की मान्यता को [illegible] समझा गया है। किन्तु [illegible] जीवों के [illegible] इस [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] माना है। इस प्रकार [illegible] जीवों व संसार से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की शक्ति है वे जीव भव्य अर्थात् होने योग्य ([illegible]) माने गये हैं; और जिनमें यह सामर्थ्य नहीं है, उन्हें अभव्य कहा गया है।

चार पुरुषार्थ—

जीव के द्वारा अपने कर्मानुसार [illegible] किया जाना सार्थक है या नहीं, इस सम्बन्ध में भी [illegible] [illegible] मतभेद पाया जाता है। इस विषय में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का [illegible] ध्येय क्या है ? भारतीय परम्परा में जीवन का ध्येय व पुरुषार्थ चार प्रकार का माना गया है—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इन पर सूक्ष्मतर विचार करने से स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि ये चार पुरुषार्थ यथार्थतः दो भागों में विभाजित करने योग्य हैं—एक ओर धर्म और अर्थ, व दूसरी ओर काम और मोक्ष। इनमें यथार्थतः पुरुषार्थ अन्तिम दो ही हैं—काम और मोक्ष। काम का अर्थ है—सांसारिक सुख, मोक्ष का अर्थ है—सांसारिक सुख, दुःख व बन्धनों से मुक्ति। इन दो परस्पर विरोधी पुरुषार्थों के साधन हैं—अर्थ और धर्म। अर्थ से धन-दौलत आदि सांसारिक परिग्रह का तात्पर्य है। जिसके द्वारा भौतिक सुख सिद्ध होते हैं, और और धर्म से तात्पर्य है उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओं का जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय दर्शनों में केवल एक चार्वाक मत ही ऐसा माना गया है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरुषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है; क्योंकि उस मत के अनुसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्व ही नहीं है जो शरीर के भस्म होने पर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हो। इसलिये इस मत को नास्तिक कहा गया है। शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्व स्वीकार किया है, और इसीलिये ये मत आस्तिक कहे गये हैं, तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ

काम न होकर मोक्ष है, जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य मे उसे चार पुरुषार्थो मे प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिए उसे अन्त में रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनो साधन, साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाए हैं, इसीलिये इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य मे पाया जाता है।

मोक्ष सच्चा सुख—

इस प्रकार जैनधर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सासारिक सुख को न मानकर मोक्ष को माना गया हैं। स्वभावत. प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थो व प्रवृत्तियो को महत्व न देकर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञानियो को सासारिक सुख सच्चा सुख नही, किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है। वह चिरस्थायी न होकर अल्पकालीन होता हैं; और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्त-रोत्तर अनेक नई लालसाओ को जन्म देनेवाली पाई जाती है। और जब हम इन सुखों के साधनो अर्थात् सासारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते हैं, तो वह असख्य प्राणियों की लालसाओ को तृप्त करने के लिए पर्याप्त तो होगी, एक जीवकी अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नही। इसलिये एक आचार्य ने कहा है कि—

> आशागर्त. प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
> कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषता ॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बडा है कि उनमे विश्व-भर की सम्पदा एक अणु के समान न कुछ के बराबर है। तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति कैसे, किसे, कितना देकर की जा सकती है। अतएव सासा-रिक विषयो की वासना सर्वथा व्यर्थ है। वह बाह्य वस्तुओ के अधीन होने के कारण भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित है, और उसके लिये प्रयत्न भी आकुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है। उस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी की कभी प्यास नही बुझ सकती, और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती। इसीलिये सच्चे स्थायी सुख के लिए मनुष्य को अर्थसचय रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुडकर धर्मसाधन रूप विरक्ति-परायणता का अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सासारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। आचार्यों ने दु ख और सुख की परिभाषा भी यही की है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (मनु. ४,१६०)

जो सुख पराधीन है वह सब अन्ततः दुखदायी है, और जो सुख स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है।

मोक्ष का मार्ग —

जैनधर्म में मोक्ष की प्राप्ति का उपाय शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। इन्हीं तीन को रत्नत्रय माना गया है, और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गर्भित है। धर्म के ये तीन अंग अन्यत्र वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति में वही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन व अनुज्ञापन सच्चे (सम्यग्दृष्टि) विद्वान (ज्ञानी) राग-द्वेष-रहित (सच्चारित्रवान) महापुरुषों ने किया है। भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करता और तत्पश्चात् ही वह संयमी बनता है। यथा—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ (मनु २ १)
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः (भ. गी. ४, ३९)

दर्शन के अनेक अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये जो पहला पग सम्यग्दर्शन कहा गया है, उसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप में सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा की शरीर से पृथक सत्ता का भान। जब तक यह भान नहीं होता, तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव, जीव का ग्रन्थि-भेद कहा गया है, जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय विविध कारणों से सिद्ध हो जाता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् घर्षण-घोलन-न्याय से प्राप्त हो जाता है; जिस प्रकार कि प्रवाह-पतित पाषाण खंडों को परस्पर घिसते-घिसते रहने से नाना विशेष आकार, यहां तक कि देवमूर्ति का स्वरूप भी, प्राप्त हो जाता है। किन्हीं जीवों को किसी विशेष अवस्था में पूर्व का जन्म स्मरण हो जाता है, और उससे उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो

जाती है। कभी तीव्र-दुःख-वेदन के कारण, और कही धर्मोपदेश सुनकर अथवा धर्मोत्सव के दर्शन से सम्यक्त्व जागृत हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उसमे दृढता तब आती है जब वह कुछ दोषो से मुक्त और गुणो से सयुक्त हो जाय। धार्मिक श्रद्धान के सबध मे शकाओ का बना रहना या उसकी साधना से अपनी सासारिक आकाक्षाओ की पूर्ति करने की भावना रखना, धर्मोपदेश या धार्मिक प्रवृत्तियो के सबध मे सन्देह या घृणा का भाव रखना, एव कुत्सित देव, शास्त्र व गुरुओ मे आस्था रखना, ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष है। इन चारो को दूर कर धर्म की निंदा से रक्षा करना, धर्मीजनो को सत्प्रवृत्ति मे दृढ करना, उनसे सद्भावपूर्ण व्यवहार करना, और धर्म का माहात्म्य प्रगट करने का प्रयत्न करना, इन चार गुणो के जागृत होने से अष्टाग सम्यक्त्व की पूर्णता होती है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष—

प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी मनुष्य के चारित्र मे दृश्यमान भेद क्या है? मिथ्यात्व के पाँच लक्षण बतलाये गये हैं—विपरीत, एकात, सशय, विनय अज्ञान। मिथ्यात्वी मनुष्य की विपरीतता यह है कि वह असत् को सत्, बुराई को अच्छाई व पाप को पुण्य मानकर चलता है। उसमे हठग्राहिता पाई जाती है, अर्थात् उसका दृष्टिकोण ऐसा सकुचित होता है कि वह अपनी धारणा बदलने व दूसरो के विचारो से उसका मेल बैठाने मे सर्वथा असमर्थ होता है। उसमे उदार दृष्टि का अभाव रहता है, यही उसकी एकान्तता है। सशयशील वृत्ति भी मिथ्यात्व का लक्षण है। अच्छी से अच्छी बात मे मिथ्यात्वी को पूर्ण विश्वास नही होता, एव प्रबलतम तर्क और प्रमाण उसके संशय को दूर नही कर पाते। विनय का अर्थ है नियम-परिपालन किन्तु यदि बिना विवेक के किसी भी प्रकार के अच्छे-बुरे नियम का पालन करना ही कोई श्रेष्ठ धर्म समझ बैठे तो वह विनय मिथ्यात्व का दोषी है। जब तक किसी क्रिया रूप साधन का सम्बन्ध उसके आत्मशुद्धि आदि साध्य के साथ स्पष्टता मे दृष्टि मे न रखा जाय, तब तक विनयात्मक क्रिया फलहीन व कभी-कभी अनर्थकारी भी होती है। तत्व और अतत्व के सम्बन्ध मे जानकारी या सूझ-बूझ के अभाव का नाम अज्ञान है। इन पाच दोषो के कारण मनुष्य के मानसिक व्यापार, वचनालाप तथा आचार-विचार मे सच्चाई यथार्थता व स्व-पर की भलाई नही होती। इस कारण वह मिथ्यात्वी कहा गया है। उसके विपरीत उपर्युक्त आत्म-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व का उदय होने से मनुष्य के चारित्र मे जो सद्भाव उत्पन्न होता है उसके मुख्य चार लक्षण हैं—प्रशम, सवेग, अनुकपा

और आस्तिक्य। सम्यक्त्व की चित्तवृत्ति रागद्वेषात्मक भावो से विशेष विचलित नही होती, और उसकी प्रवृत्ति मे शात भाव दिखाई देता है। शारीरिक व मानसिक आकुलताओ को उत्पन्न करनेवाली सासारिक वृत्तियो को सम्यक्त्वी अहितकर समझकर उनमे विरक्त व बन्ध-मुक्त होने का इच्छुक हो जाता है, यही सम्यक्त्व का सवेग गुण है। वह जीवमात्र मे आत्मतत्व की सत्ता मे विश्वास करता हुआ उनके दुःख से दुःखी, और सुख से सुखी होता हुआ, उनके दुःखो का निवारण करने की ओर प्रयत्नशील होता है, यह सम्यक्त्व का अनुकम्पा गुण है। सम्यक्त्व का अन्तिम लक्षण है आस्तिक्य। वह इस लोक के परे भी आत्मा के शाश्वतपने मे विश्वास करता है व परमात्मत्व की ओर बढने मे भरोसा रखता हुआ, सच्चे देवशास्त्र व सच्चे गुरु के प्रति श्रद्धा करता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को छोड सम्यक्त्व के ग्रहण का अर्थ है अधार्मिकता मे धार्मिकता मे आना, अथवा असभ्यता के क्षेत्र से निकलकर सभ्यता व सामाजिकता के क्षेत्र मे प्रवेश करना। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीवन के परिष्कार व उसमे क्रान्ति का दिग्दर्शन मनुस्मृति (६,७४) मे भी उत्तमता से किया गया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्न कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते॥

सम्यग्ज्ञान—

उपर्युक्त प्रकार से सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढने के लिये दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्वो मे श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान म सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरग, और ज्ञान का क्षेत्र है वहिरग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है, और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनो मे परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है। जबतक आत्मावधान नही होगा, तब-तक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियो से सन्निकर्ष होने पर भी बोध नही हो सकता। अतएव दर्शन की जो सामान्यग्रहण रूप परिभाषा की गई है उसका तात्पर्य आत्म-चैतन्य की उस अवस्था से है, जिसके होने पर मन के द्वारा वस्तुओ का ज्ञान रूप ग्रहण सम्भव है। यह चैतन्य व अवधान पर-पदार्थ-ग्रहण के लिये जिन विशेष इन्द्रियो मानसिक व आध्यात्मिक वृत्तियो को जागृत करता है, उनके अनुसार इसके चार भेद है—चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और

केवलदर्शन। चक्षु इन्द्रिय पर-पदार्थ के साक्षात् स्पर्श किये बिना निर्दिष्ट दूरी से पदार्थ को ग्रहण करती है। अतएव इस इन्द्रिय-ग्रहण को जागृत करने वाली चक्षुदर्शन रूप वृत्ति उन शेष अचक्षु-दर्शन से उद्बुद्ध होनेवाली इन्द्रिय-वृत्तियो से भिन्न है, जो वस्तुओ का श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा व स्पर्श इन्द्रियों से अविरल सन्निकर्ष होने पर होता है। इन्द्रियोके अगोचर, सूक्ष्म, तिरोहित या दूरस्थ पदार्थों का बोध कराने वाले अवधि ज्ञान के उद्भावक आत्म-चैतन्य का नाम अवधिदर्शन है, और जिस आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है, उस स्वावधान का नाम केवल दर्शन है।

मतिज्ञान—

इसप्रकार आत्मावधान रूप दर्शन के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के पाच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल। ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय-विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है यह मतिज्ञान है। पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की सचेत अवस्था मे जो आदितम 'कुछ है' ऐसा बोध होता है, वह अवग्रह कहलाता है। उस अस्पष्ट वस्तुबोध के सम्बन्ध मे विशेष जानने की इच्छा का नाम ईहा है। उसके फलस्वरूप वस्तु का जो विशेष बोध होता है वह अवाय, और उसके कालान्तर मे स्मरण करने रूप सस्कार का नाम धारणा है। इसप्रकार मतिज्ञान के ये चार भेद हैं। ज्ञेय पदार्थ सख्या मे एक भी हो सकता है, या एक ही प्रकार के अनेक। प्रकार की अपेक्षा से वे बहुत अर्थात् विविध प्रकार के एक-एक हों, या बहुविध, अर्थात् अनेक प्रकार के अनेक। उनका आदि ग्रहण शीघ्र भी हो सकता है या देर से। वस्तु का सर्वांग-ग्रहण भी हो सकता है, या एकांग। उक्त का ग्रहण हो या अनुक्त का, एव ग्रहण ध्रुव रूप भी हो सकता है, व हीनाधिक अध्रुव रूप भी। इसप्रकार गृहीत पदार्थ की अपेक्षा से अव-ग्रहादि चारो भेदो के १२-१२ भेद होने से मतिदान के ४८ भेद हो जाते हैं। ग्रहण करने वाली पाचो इन्द्रियो और एक मन, इन छह की अपेक्षा से उक्त ४८ भेद ६ गुणित होकर २८८ (४८×६) हो जाते हैं। ये भेद ज्ञेय-पदार्थ और ग्राहक-इन्द्रियो की अपेक्षा से है। किन्तु जब पदार्थ का ग्रहण अव्यक्त प्रणाली से क्रमश होता है, तब जिसप्रकार कि मिट्टी का कौरा पात्र जलकणो से सिक्त होकर पूर्ण रूप से गीला क्रमश हो पाता है, तब उस प्रक्रिया को व्यजनावग्रह कहते हैं। इसके ईहादि तीन भेद न होकर, तथा चक्षु और मन की अपेक्षा सम्भव न होने से उसके केवल १×१२×४=४८ भेद होते है। इन्हे पूर्वोक्त

२८८ भेदों मे मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का बतलाया गया है। इसप्रकार जैन सिद्धान्त मे यहा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का बडा सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन पाया जाता है, जिसे पूर्णत. समझने के लिये पदार्थभेद, इन्द्रिय-व्यापार व मनोविज्ञान के गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

श्रुतज्ञान —

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। इसप्रकार धुए को देखकर अग्नि के अस्तित्व की, हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर मनुष्य की, यात्री के मुख से यात्रा का वर्णन सुनकर विदेश की जानकारी व शास्त्र का पढकर तत्त्वो की, इस लोक-परलोक की, व आत्मा-परमात्मा आदि की जानकारी, यह सब श्रुतज्ञान है श्रुतज्ञान के इन सब प्रकारो मे सब से अधिक विशाल, प्रभावशाली और हितकारी वह लिखित साहित्य है, जिसमे हमारे पूर्वजो के चिन्तन और अनुभव का वर्णन व विवेचन सगृहीत है, इसीकारण इसे ही विशेष रूप से श्रुतज्ञान माना गया है। जैनधर्म की दृष्टि से उस श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है जिसमे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के धर्मोपदेशो का सग्रह किया गया है। इस श्रुतसाहित्य के मुख्य दो भेद हैं— अगप्रविष्ट और अग-बाह्य। अग प्रविष्ट मे उन आचारागादि १२ श्रुतागो का समावेश होता है, जो भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों द्वारा रचे गये थे, व जिनके विषयादि का परिचय इससे पूर्व साहित्य के व्याख्यान मे कराया जा चुका है। अग बाह्य मे वे दशवैकालिक, उत्तराध्ययनादि उत्तरकालीन आचार्यों की रचनाए आती हैं, जो श्रुतागो के आश्रय मे समय समय पर विशेष प्रकार के श्रोताओ के हित की दृष्टि से विशेष-विशेष विषयों पर प्रयोजनानुसार सक्षेप व विस्तार से रची गई हैं, और जिनका परिचय भी साहित्य-खड मे कराया जा चुका है। ये दोनो आर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष माने गये हैं, क्योकि वे आत्मा के द्वारा साक्षात् रूप मे न होकर, इन्द्रियों व मन के माध्यम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। तथापि पश्चात्कालीन जैन न्याय की परम्परा मे मतिज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने की अपेक्षा साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है।

अवधिज्ञान—

आत्मा मे एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियो के अगोचर अतिसूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी

ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है, क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिये हुए होता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक भव-प्रत्यय और दूसरा गुण-प्रत्यय। देवों और नारकी जीवों मे स्वभावत: ही इस ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है, अतएव यह भव-प्रत्यय है। मनुष्यो और पशुओ मे यह ज्ञान विशेष गुण या ऋद्धि के प्रभाव से ही प्रकट होता है, और इस कारण इसे गुण प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। उसके ६ भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित। अनुगामी अवधिज्ञान जहा भी ज्ञाता जाय, वहीं उसके साथ जाता है, किन्तु अननुगामी अवधिज्ञान स्थान-विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। वर्द्धमान अवधि एक बार उत्पन्न होकर क्रमश बढता जाता है, और इसके विपरीत हीयमान घटता जाता है। सदैव एकरूप रहनेवाला ज्ञान अवस्थित, एव अक्रम से कभी घटने व कभी बढने वाला अनवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है। विस्तार की अपेक्षा अवधिज्ञान तीन प्रकार का है-देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमे ज्ञेय-क्षेत्र व पदार्थों की पर्यायों के ज्ञान मे उत्तरोत्तर अधिक विस्तार व विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इस कारण वह प्रतिपाती है। किन्तु परमावधि व सर्वावधि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी छूटते नही, जबतक कि उनका केवलज्ञान मे लय न हो जाय।

मन.पर्ययज्ञान—

मन पर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन पर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है, अर्थात् एक बार होकर फिर कभी छूटता नही।

केवलज्ञान—

केवलज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यो और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायो का ज्ञान युगपत् होता है। ये अवधि आदि तीनो ज्ञान प्रत्यक्ष माने गये हैं, क्योंकि वे साक्षात् आत्मा द्वारा बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के उत्पन्न होते हैं। मति और श्रुतज्ञान से रहित जीव कभी नही होता, क्योंकि यदि जीव इनके सूक्ष्मतमाश से भी वञ्चित हो जाय, तो वह जीवत्व से ही च्युत हो जावेगा, और जड पदार्थ का रूप धारण कर लेगा। किन्तु यह होना असम्भव है क्योंकि कोई भी मूल द्रव्य द्रव्यान्तर मे परिणत नही हो सकता। मति और

श्रुतज्ञान का अनुभव सभी मनुष्यो को होता है। अवधि और मन.पर्यय ज्ञानके भी कही कुछ उदाहरण देखने सुनने मे आते है, किन्तु वे हैं ऋद्धि-विशेष के परिणाम। केवल ज्ञानयोगि-गम्य है, और जैन मान्यतानुसार इस काल व क्षेत्र मे किसी को उसका उत्पन्न होना असम्भव है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्यात्व अवस्था मे भी हो सकते है और तब उन ज्ञानो को कुमति, कुश्रुति और कुअवधि कहा गया है, क्योंकि उस अवस्था मे अर्थ-बोध ठीक होने पर भी वह ज्ञान धार्मिक दृष्टि से स्व-पर हितकारी नही होता, उससे हित की अपेक्षा अहित की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद कहे गये हैं।

ज्ञान के साधन—

न्याय दर्शन मे प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय मे भी स्वीकार किये गये हैं, किन्तु इनका उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्ञानो से कोई विरोध या वैषम्य उपस्थित नही होता। यहा प्रत्यक्ष से तात्पर्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण-भेदो मे परोक्ष कहा गया है, तथापि उसे जैन नैयायिको ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की सज्ञा दी है। इसप्रकार वह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं, उनका समावेश श्रुतज्ञान मे होता है।

प्रमाण व नय—

पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणो से और नयो से (प्रमाणनयैरधिगम। त० सू० १, ६) अभी जो पाच प्रकार के ज्ञानो का वर्णन किया गया वह सब प्रमाण की अपेक्षा से। इन प्रमाणभूत ज्ञानो के द्वारा द्रव्यो का उनके समग्ररूप मे बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायो मे से व्यवहार मे प्राय किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। जब हम कहते हैं उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि उस पुस्तक मे मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण-धर्म नही है। अतएव ज्ञान की दृष्टि से यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि हमारा वचनालाप, जिसके द्वारा हम दूसरो को ज्ञान प्रदान करते हैं, ऐसा न हो कि जिससे दूसरे के हृदय मे वस्तु की अनेक-गुणात्मकता के स्थान पर एकान्तिकता की छाप बैठा जाय। इसीलिये

एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है, और सिद्धान्त के प्रतिपादन मे ऐसी वचनशैली के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिसमे वक्ता का एक-गुणोल्लेखात्मक अभिप्राय भी प्रगट हो जाय, और साथ ही यह भी स्पष्ट बना रहे कि वह गुण अन्य-गुण-सापेक्ष है। जैन दर्शन की यही विचार और वचनशैली अनेकान्त व स्याद्वाद कहलाती है। वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है, और नहीं भी। दोनो अभिप्रायो के मेल से हा-ना एक मिश्रित वचनभग भी हो सकता है, और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कह सकते हैं। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तुस्वरूप है भी और फिर भी अवक्तव्य हैं नही है, और फिर भी अवक्तव्य है, अथवा है भी, नही भी है, और फिर भी अवक्तव्य है। इन्ही सात सम्भावनात्मक विचारो के अनुसार सात प्रमाणभगिया मानी गयी है—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्यम् स्याद् अस्ति-अवक्तव्यम्, स्याद्-नास्ति-अवक्तव्यम् और स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यम्। सम्भवत. एक उदाहरण के द्वारा इस स्याद्वाद शैली की सार्थकता अधिक स्पष्ट की जा सकती है। किसी ने पूछा आप ज्ञानी हैं? इसके उत्तर मे इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो अवश्य जानता ही हूँ—मैं कह सकता हूँ कि "मै स्याद् ज्ञानी हू।" सम्भव है मुझे अपने ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का भान अधिक हो और उस अपेक्षा से मैं कहू कि 'मैं स्याद् अज्ञानी हूँ" कितनी बातो का ज्ञान है, और कितनी का नही है, अतएव यदि मैं कह कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूँ भी और नही भी," तो भी अनुचित न होगा, और यदि इसी दुविधा के कारण इतना ही कहू कि "मै कह नही सकता कि मैं ज्ञानी हू या नही" तो भी मेरा वचन असत्य न होगा। इन्ही आधारो पर मैं सत्यता के साथ यह भी कहता हू कि "मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नही सकता कि आप जो बात मुझसे जानना चाहते हैं, उस पर मै प्रकाश डाल सकता हू या नही।" इसी बात को दूसरे प्रकार से यों भी कह सकता हू कि "मैं ज्ञानी तो नही हूँ, फिर भी सम्भव है कि आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकू", अथवा इस प्रकार भी कह सकता हू कि "मैं कुछ ज्ञानी हू भी, कुछ नही भी हू, अतएव कहा नही जा सकता कि प्राकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नही।" ये समस्त वचन-प्रणालिया अपनी-अपनी सार्थकता रखती है, तथापि पृथक्-पृथक् रूप मे वस्तुस्थिति के एक अश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्ण स्वरूप को नही। इसलिये जैन न्याय इस बात पर देता है कि पूर्वोक्त मे से अपने अभिप्रायानुसार वक्ता चाहे जिस वचन-प्रणाली का उपयोग करे, किन्तु उसके साथ स्यात् पद अवश्य दे, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता रहे कि वस्तुस्थिति में अन्य सभावनाये भी हैं, अत उसकी बात सापेक्ष रूप से ही समझी जाय। इस प्रकार यह स्याद्वाद प्रणाली

कोई अद्वितीय वस्तु नही हैं, क्योकि व्यवहार मे हम विना स्यात् शब्द का प्रयोग किये भी कुछ उस सापेक्षभाव का ध्यान रखते ही है। तथापि शास्त्रार्थ मे कभी-कभी किसी वात की सापेक्षता की ओर ध्यान न दिये जाने से वड़े-वडे विरोध और मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, जिनमे सामजस्य वैठाना कठिन प्रतीत होने लगता है। जैन स्याद्वाद प्रणाली द्वारा ऐसे विरोधो और मतभेदो को अवकाश न देने का प्रयत्न किया गया है, और जहा विरोध दिखाई दे जाय, वहा इस स्यात् पद मे उसे सुलझाने और सामजस्य वैठाने की कुजी भी साथ ही लगा दी गई है। व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार स्यात् अस् धातु का विधिलिंग अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है, जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' 'एक सम्भावना यह भी है'। जैन न्याय मे इस पद को सापेक्ष-विधान का वाचक अव्यय वनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन वनाया गया है। इसे अनिश्चय-वोधक समझना कदापि युक्तिसगत नही है।

नय—

पदार्थो के अनन्त गुण और पर्यायो मे से प्रयोजनानुसार किसी एक गुण-धर्म सम्वन्धी ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, और नयो द्वारा ही वस्तु के नाना गुणाशो का विवेचन सम्भव है। वाणी मे भी एक समय मे किसी एक ही गुण-धर्म का उल्लेख सम्भव है, जिसका यथोचित प्रसग नयविचार के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जितने प्रकार के वचन सम्भव हैं, उतने ही प्रकार के नय कहे जा सकते हैं। तथापि वर्गीकरण की सुविधा के लिये नयो की सख्या सात स्थिर की गई है, जिनके नाम है—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। नैगम का अर्थ है—न एक गम अर्थात् एक ही बात नही। जव सामान्यत किसी वस्तु की भूत, भविष्यत्, वर्तमान पर्यायो को मिलाजुलाकर वात कही जाती है, तव वक्ता का अभिप्राय नैगम-नयात्मक होता है। जो व्यक्ति आग जला रहा है, वह यदि पूछने पर उत्तर दे कि मैं रोटी बना रहा हू, तो उसकी बात नैगम नयकी अपेक्षा सच मानी जा सकती है, क्योकि उसका अभिप्राय यह है कि आग का जलाना उसे प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी, उसके पूछने का अभिप्राय यही था कि अग्नि किस-लिये जलाई जा रही है। यहाँ यदि नैगम नय के आश्रय से प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के अभिप्राय को न समझा जाय, तो प्रश्न और उत्तर मे हमे कोई सगति प्रतीत नही होगी। इसी प्रकार जब चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को कहा जाता है कि आज महावीर तीर्थंकर का जन्म-दिवस है, तब उस हजारो वर्ष पुरानी भूतकाल की घटना की आज के इस दिन से सगीत नैगम नय के द्वारा ही वैठ-कर वतलाई जा सकती है। सग्रहनय के द्वारा हम उत्तरोत्तर वस्तुओ को विशाल

दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं। जब हम कहते हैं कि यहा के सभी प्रदेशो के वासी, सभी जातियो के, और सभी पथो के चालीस करोड मनुष्य भारतवासी होने की अपेक्षा एक हैं, अथवा भारतवासी और चीनी दोनों एशियाई होने के कारण एक है, अथवा सभी देशो के समस्त ससारवासी जन एक ही मनुष्य जाति के हैं, तब ये सभी बातें सग्रहनय की अपेक्षा सत्य है। इसके विपरीत जब हम मनुष्य जाति को महाद्वीपों की अपेक्षा एशियाई, यूरोपीय, अमेरिकन आदि भेदों मे विभाजित करते हैं, तथा इनका पुन अवान्तर प्रदेशो एव प्रान्तीय राजनैतिक, धार्मिक, जातीय आदि उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर वर्गों मे विभाजन करते है, तब हमारा अभिप्राय व्यवहार नयात्मक होता है। इस प्रकार सग्रह और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं, और विस्तार व सकोचात्मक दृष्टियो को प्रकट करने वाले हैं। दोनो सत्य हैं, और दोनो अपनी-अपनी सार्थकता रखते हैं। उनमे परस्पर विरोध नही, किन्तु वे एक दूसरे के परिपूरक हैं, क्योंकि हमे अभेददृष्टि से सग्रह नय का, व भेद दृष्टि से व्यवहार नय का आश्रय लेना पडता है। ये नैगमादि तीनो नय द्रव्यार्थिक माने गये हैं, क्योकि इनमे प्रतिपाद्य वस्तु की द्रव्यात्मकता का ग्रहण कर विचार किया जाता है, और उसकी पर्याय गौण रहता है। ऋजुसूत्रादि अगले चार नय पर्यायार्थिक कहे गये हैं, क्योकि उनमे पदार्थों की पर्याय-विशेष का ही विचार किया जाता है।

यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम कौन हो, और मैं उत्तर दूं कि मैं प्रवक्ता हू, तो यह उत्तर ऋजुसूत्र नय से सत्य ठहरेगा, क्योकि मैं उस उत्तर द्वारा अपनी एक पर्याय या अवस्था-विशेष को प्रकट कर रहा हूँ, जो एक काल-मर्यादा के लिये निश्चित हो गई है। इस प्रकार वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करने वाला नय ऋजुसूत्र कहलाता है। अगले शब्दादि तीन नय विशेष रूप से सम्बन्ध शब्द-प्रयोग से रखते हैं। जो एक शब्द का एक वाच्यार्थ मान लिया गया है, उसका लिंग या वचन भी निश्चित है, वह शब्दनय से यथोचित माना जाता है। जब हम सस्कृत मे स्त्री के लिये कलत्र शब्द का नपु सक लिंग मे, अथवा दारा शब्द का पुलिंग और बहुवचन मे प्रयोग करते है, एव देव और देवी शब्द का इनके वाच्यार्थ स्वर्गलोक के प्राणियों के लिये ही करते तब यह सब शब्दनय की अपेक्षा से उपर्युक्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्नार्थक शब्दो को जब हम रूढि द्वारा एकार्थवाची बनाकर प्रयोग करते हैं, तब यह बात समभिरुढ नय की अपेक्षा उचित सिद्ध होती है। जैसे—देवराज के लिये इन्द्र, पुरन्दर या शक्र, अथवा घोडे के लिये अश्व, अर्व, गन्धर्व, सैन्धव आदि

शब्दो का प्रयोग। इन शब्दो का अपना-अपना पृथक अर्थ है, तथापि रूढ़िवशात् वे पर्यायवाची बन गये हैं। यही समभिरूढ नय है। एवम्भूतनय की अपेक्षा वस्तु की जिस समय जो पर्याय हो, उस समय उसी पर्याय के वाची शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे किसी मनुष्य को पढ़ाते समय पाठक, पूजा करते समय पुजारी, एव युद्ध करते समय योद्धा कहना।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय—

इन नयो के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार जैन सिद्धान्त मे इन नयो के द्वारा किसी भी वक्ता के वचन को सुनकर उसके अभिप्राय की सुसगति यथोचित वस्तुस्थिति के साथ दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त सात नय तो यथार्थत प्रमुख रूप से दृष्टात मात्र हैं, किन्तु नयो की सख्या तो अपरिमित है, क्योकि द्रव्य-व्यवस्था के सम्बन्ध मे जितने प्रकार के विचार व वचन हो सकते हैं, उतने ही उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाले नय कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ जैन तत्वज्ञान मे छह द्रव्य माने गये है, किन्तु यदि कोई कहे कि द्रव्य तो यथार्थत एक ही है, तब नयवाद के अनुसार इसे सत्तामात्र-ग्राही शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सत्य स्वीकार किया जा सकता है। सिद्धि व मुक्ति जीव की परमात्मावस्था को माना गया है, किन्तु यदि कोई कहे कि जीव तो सर्वत्र और सर्वदा सिद्ध-मुक्त है, तो इसे भी जैनी यह समझकर स्वीकार कर लेगा कि यह बात कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय से कही गई है। गुण और गुणी, द्रव्य और पर्याय, इनमे यथार्थत भावात्मक भेद हैं, तथापि यदि कोई कहे कि ज्ञान ही आत्मा है, मनुष्य अमर है, ककण ही सुवर्ण है, तो इसे भेदविकल्प-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सच माना जा सकता है। सिद्धान्तानुसार ज्ञान-दर्शन ही आत्मा के गुण हैं, और रागद्वेष आदि उसके कर्मजन्य विभाव हैं, तथापि यदि कोई कहे कि जीव रागी-द्वेषी है, तो यह बात कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय से मानी जाने योग्य है। चीटी से लेकर मनुष्य तक ससारी जीवो की जातिया हैं, और जीव परमात्मा तब बनता है, जब वह विशुद्ध होकर इन समस्त सासारिक गतियो से मुक्त हो जाय, तथापि यदि कोई कहे कि चीटी भी परमात्मा है, तो इस बात को भी परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय से ठीक समझना चाहिये। सभी द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा चिरस्थायी है, किन्तु जब कोई कहता है कि ससार की समस्त वस्तुए क्षणभगुर हैं, तब समझना चाहिये कि यह बात वस्तुओ की सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय गुणात्मक अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय से कही गई है। किसी वस्तु, का दृश्य या मनुष्य का चित्र उस वस्तु आदि से सर्वथा पृथक्

है, तथापि जब कोई चित्र देखकर कहता है—यह नारंगी है, यह हिमालय है, ये रामचन्द्र हैं, तब जैन न्याय की दृष्टि अनुसार उक्त बात स्व-जाति असदभूत-उपनय से ठीक है । यद्यपि कोई भी व्यक्ति अपने पुत्र कलत्रादि बन्धुवर्ग से, व घरद्वारादि सम्पत्ति से सर्वथा पृथक् है; तथापि जब कोई कहता है कि मैं और ये एक है, ये मेरे है, और मै इनका हू, तो यह बात असद्भूत उपचार नय से यथार्थ मानी जा सकती है ।

इस प्रकार नयों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमे इस न्याय के प्रतिपादक आचार्यों का यह प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्य के जब, जहां, जिस प्रकार के अनुभव व विचार उत्पन्न हुए, और उन्होने उन्हे वचन-बद्ध किया, उन सब मे कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य विद्यमान है, और प्रत्येक ज्ञानी का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह उस बात को सुनकर, उसमे अपने निर्धारित मत से कुछ विरोध दिखाई देने पर, उसके खडन मे प्रवृत्त न हो जाय, किन्तु यह जानने का प्रयत्न करे कि वह बात किस अपेक्षा से कहां तक सत्य हो सकती है, तथा उसका अपने निश्चित मत से किस प्रकार सामजस्य बैठाया जा सकता है। जैन स्याद्वाद, अनेकान्त या नयवाद का दावा तो यह है कि वह अपनी न्यायशैली द्वारा समस्त विरुद्ध दिखाई देने वाले मतो और विचारो मे वक्ताओ के दृष्टिकोण का पता लगाकर उनके विरोध का परिहार कर सकता है; तथा विरोधी को अपने स्पष्टीकरण द्वारा उसके मत की सीमाओ का बोध कराकर, उन्हे अपने ज्ञान का अग बना ले सकता है ।

चार-निक्षेप—

जैन न्याय की इस अनेकान्त-प्रणाली से प्रेरित होकर ही जैनाचार्यो ने प्रकृति के तत्त्वो की खोज और प्रतिपादन मे यह सावधानी रखने का प्रयत्न किया है कि उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे भ्रान्ति उत्पन्न न होने पावे । इसी साव-धानी के परिणामस्वरूप हमे चार प्रकार के निक्षेपो और उनके नाना भेद-प्रभेदो का व्याख्यान मिलता है । द्रव्य का स्वरूप नाना प्रकार का है, और उसको समझने-समझाने के लिये हम जिन पद्धतियो का उपयोग करते हैं, वे निक्षेप कहलाती हैं । व्याख्यान मे हम वस्तुओ का उल्लेख विविध नामो व सज्ञाओ के द्वारा करते हैं, जो कही अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा, व कही रूढि के द्वारा उनकी वाच्य वस्तु को प्रगट करते हैं । इस प्रकार पुस्तक, घोडा व मनुष्य, ये ध्वनिया स्वय वे-वे वस्तुए नही है, किन्तु उन वस्तुओ के नाम निक्षेप हैं, जिनके द्वारा लोक-व्यवहार चलता है । इसी प्रकार यह स्पष्ट समझ कर चलना चाहिये कि

मन्दिरो मे जो मूर्तिया स्थापित है वे देवता नही, किन्तु उन देवो की साकार स्थापना रूप है, जिस प्रकार कि शतरंज के मोहरे, हाथी नही, किन्तु उनकी साकार या निराकार स्थापना मात्र हैं, भले ही हम उनमे पूज्य या अपूज्य बुद्धि स्थापित कर लें। यह स्थापना निक्षेप का स्वरूप है। इसी प्रकार द्रव्य-निक्षेप द्वारा हम वस्तु की भूत व भविष्यकालीन पर्यायों या अवस्थाओ को प्रकट किया करते हैं। जैसे, जो पहले कभी राजा थे, उन्हे उनके राजा न रहने पर अब भी, राजा कहते है, या डाक्टरी पढनेवाले विद्यार्थी को भी डाक्टर कहने लगते हैं। इनके विपरीत जब हम जो वस्तु जिस समय, जिस रूप मे है, उसे, उस समय, उसी अर्थबोधक शब्द द्वारा प्रकट करते है, तब यह भावनिक्षेप कहलाता है, जैसे व्याख्यान देते समय ही व्यक्ति को व्याख्याता कहना, और ध्यान करते समय ध्यानी। इसी प्रकार वस्तुविवेचन मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सम्बन्ध मे सतर्कता रखने का, वस्तु को उसकी सत्ता, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व के अनुसार समझने, तथा उसके निर्देश स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान की ओर भी ध्यान देते रहने का आदेश दिया गया है, और इस प्रकार जैन शास्त्र के अध्येता को एकान्त दृष्टि से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

सम्यक् चारित्र—

सम्यक्त्व और ज्ञान की साधना के अतिरिक्त कर्मो के संवर व निर्जरा द्वारा मोक्ष सिद्धि के लिये चारित्र की आवश्यकता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन मे धार्मिकता किसप्रकार उत्पन्न होती है। अधार्मिकता के क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक क्षेत्र मे लानेवाली वस्तु है सम्यक्त्व जिससे व्यक्ति को एक नई चेतना मिलती है कि मैं केवल अपने शरीर के साथ जीने-मरनेवाला नही हूँ, किन्तु एक अविनाशी तत्व हू। यही नही, किन्तु इस चेतना के साथ क्रमश. उसे ससार के अन्य तत्वो का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे उसका अपने जीवन की ओर तथा अपने आसपास के जीवजगत् की ओर दृष्टिकोण बदल जाता है। जहा मिथ्यात्व की अवस्था मे अपना स्वार्थ, अपना पोषण व दूसरो के प्रति द्वेष और ईर्ष्या भाव प्रधान था, वहा अब सम्यक्त्वी को अपने आसपास के जीवो मे भी अपने समान आत्मतत्व के दर्शन होने से, उनके प्रति स्नेह, कारुण्य व सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो जाती है, और जिन वृत्तियो के कारण जीवो मे संघर्ष पाया जाता है, उनसे उसे विरक्ति होने लगती है। उसकी दृष्टि मे अब एक ओर जीवन का अनुपम माहात्म्य,

और दूसरी ओर जीवो की घोर दु ख उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तिया स्पष्टत सम्मुख आ जाती हैं। इस नई दृष्टि के फलस्वरूप उसकी अपनी वृत्ति मे जो सम्यक्त्व के उपर्युक्त चार लक्षण-प्रशम, सवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य प्रगट होते है, उससे उनकी जीवनधारा मे एक नया मोड आ जाता है, और वह दुराचरण छोडकर सदाचारी बन जाता है। इस सदाचार की मूल प्रेरक भावना होती है—अपना और पराया हित व कल्याण। आत्महित से परहित का मेल बैठाने में जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह है विचारो की विषमता और क्रिया-स्वातत्र्य। विचारो की विषमता दूर करने मे सम्यग्ज्ञानी को सहायता मिलती है स्याद्वाद व अनेकान्त की सामजस्यकारी विचार-शैली के द्वारा, और आचरण की शुद्धि के लिये जो सिद्धान्त उसके हाथ आता है, वह है अपने समान दूसरे की रक्षा का विचार अर्थात् अहिंसा।

अहिंसा—

जीव-जगत् मे एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। पशु-पक्षी और उनसे भी निम्न स्तर के जीव-जन्तुओ मे अपनी जाति के जीवो मारने व खाने की प्रवृत्ति प्राय नही पाई जाती। सिंह, व्याघ्रादि हिंस्र प्राणी भी अपनी सन्तति की तो रक्षा करते ही हैं, और अन्य जाती के जीवो को भी केवल तभी मारते हैं, जब उन्हे भूख की वेदना सताती है। प्राणिमात्र मे प्रकृति की अहिंसोन्मुख वृत्ति की परिचायक कुछ स्वाभाविक चेतनाए पाई जाती हैं, जिनमे मैथुन सतानपालन, सामूहिक जीवन आदि प्रवृत्तियाँ प्रधान है। प्रकृति मे यह भी देखा जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा मे अहिंसकवृत्ति का होता है, वह उतना ही अधिक शिक्षा के योग्य व उपयोगी सिद्ध हुआ है। बकरी, गाय, भैंस, घोडा, ऊट, हाथी आदि पशु मासभक्षी नही हैं, और इसीलिये वे मनुष्य के व्यापारो मे उपयोगी सिद्ध हो सके हैं। यथार्थत उन्ही मे प्रकृति की शीतोष्ण आदि द्वन्द्वात्मक शक्तियो को सहने और परिश्रम करने की शक्ति विशेष रूप मे पाई जाती है। वे हिंस्र पशुओ से अपनी रक्षा करने के लिये दल बाध कर सामूहिक शक्ति का का उपयोग भी करते हुए पाये जाते हैं। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी ही है, और समाज तबतक बन ही नही सकता जबतक व्यक्तियो मे हिंसात्मक वृत्ति का परित्याग न हो। यही नही, समाज बनने के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियो मे परस्पर रक्षा और सहायता करने की भावना भी हो। यही कारण है कि मनुष्य-समाज मे जितने धर्म स्थापित हुए है, उनमे, कुछ मर्यादाओ के भीतर, अहिंसा का उपदेश पाया ही जाता है, भले ही वह कुटुब, जाति, धर्म या मनुष्य मात्र तक ही सीमित हो। भारतीय सामाजिक जीवन मे

श्रादित जो श्रमण-परम्परा का वैदिक परम्परा से विरोध रहा, वह इस अहिंसा की नीति को लेकर। धार्मिक विधियो मे नरबलि का प्रचार तो बहुत पहिले उत्तरोत्तर मन्द पड गया था, किन्तु पशुवलि यज्ञक्रियाओ का एक सामान्य अग बना रहा। इसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। आगे चलकर श्रमणो के जो दो विभाग हुए, जैन और बौद्ध, उन दोनो मे अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया गया जो अभी तक चला आता है। तथापि बौद्धधर्म मे अहिंसा का चिन्तन, विवेचन व पालन बहुत कुछ परिमित रहा। परन्तु यह सिद्धान्त जैन-धर्म मे समस्त सदाचार की नीव ही नही, किन्तु धर्म का सर्वोत्कृष्ट अग वन गया। अहिसा परमो धर्म वाक्य को हम दो प्रकार से पढ सकते है—तीनो शब्दो को यदि पृथक्-पृथक् पढें तो उसका अर्थ होता है कि अहिंसा ही परम धर्म है, और यदि अहिंसा-परमो को एक समास पद माने तो वह वाक्य धर्म की परिभाषा बन जाता है, जिसका अर्थ होता है कि धर्म वही है जिसमे अहिंसा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो। समस्त जैनाचार इसी अहिंसा के सिद्धात पर अवलम्बित है, और जितने भी आचार सम्बन्धी व्रत नियमादि निर्दिष्ट किये गये हैं, वे सब अहिंसा के ही सर्वांग परिपालन के लिये है। इसी तथ्य को मनुस्मृति (२, १५९) की इस एक ही पक्ति मे भले प्रकार स्वीकार किया गया है— अहिसयैव भूताना कार्य श्रेयोऽनुसशानम्।

श्रावक-धर्म —

मुख्य व्रत पाच हैं—अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह। इसका अर्थ है हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्याभिचार मत करो, और परिग्रह मत रखो। इन व्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतो के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियो का नियत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज में मुख्य रूप से वैर-विरोध की जनक हुआ करती हैं। दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमो के द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति जो क्रियाए करता है, वे मूलत उसके स्वार्थ से प्रेरित होती है। उन क्रियाओ मे कौन अच्छी है, और कौन बुरी, यह किसी मापदड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है। हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह, ये सामाजिक पाप ही तो है। जितने ही अश मे व्यक्ति इनका परित्याग, उतना ही वह सभ्य और समाज-हितैषी माना जायगा, और जितने व्यक्ति इन व्रतो का पालन करें उतना ही समाज शुद्ध, सुखी और प्रगतिशील बनेगा। इन व्रतो पर जैन शास्त्रो मे बहुत अधिक भार दिया गया है, और उनका सू

एव सुविस्तृत विवेचन किया गया है; जिसमे जैन शास्त्रकारों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन के प्रयत्न का पता चलता है। उन्होने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सब के लिये सब अवस्थाओ मे इन व्रतो का एकसा परि-पालन सम्भव नही हैं; अतएव उन्होने इन व्रतो के दो स्तर स्थापित किये-अणु और महत् अर्थात् एकाश और सर्वांग। गृहस्थो की आवश्यकता और अनिवार्यता का ध्यान रखकर उन्हे इनका आशिक अणुव्रत रूप से पालन करने का उपदेश किया, और त्यागी मुनियो को परिपूर्ण महाव्रत रूप से। इन व्रतो के द्वारा जिस प्रकार पापो के निराकरण का उपदेश दिया गया है, उसका स्वरूप सक्षेप मे निम्न प्रकार है।

अहिसाणुव्रत—

प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिसा है। प्रमाद का अर्थ है-मन को रागद्वेषात्मक कषायो से अछूता रखने मे शिथिलता, और प्राण-घात से तात्पर्य है, न केवल दूसरे जीवों को मार डालना, किन्तु उन्हे किसी प्रकार की पीडा पहुचाना। इस हिंसा के दो भेद हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपनी शारीरिक-क्रिया द्वारा किसी जीव के शरीर को प्राणहीन कर डालना, या वध-बन्धन आदि द्वारा उसे पीडा पहुचाना द्रव्यहिंसा है, और अपने मन मे किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है यथार्थ पाप मुख्यत इस भाव हिंसा मे ही है, क्योकि उसके द्वारा दूसरे प्राणी की हिंसा हो या न हो चिन्तक के स्वय विशुद्ध अतरग का घात तो होता ही है। इसीलिये कहा है —

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मान हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।

पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा ना वध॰॥ (सर्वार्थसिद्धि सू० ७,१३)

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपने की हिंसा पहले ही कर डालता है, तत्पश्चात् दूसरे प्राणियो का उसके द्वारा वध हो या न हो। इसके विपरीत यदि व्यक्ति अपनी भावना शुद्ध रखता हुआ शक्ति भर जीव-रक्षा का प्रयत्न करता है, तो द्रव्यहिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागी नही होता। इस सम्बन्ध मे दो प्राचीन गाथाए उल्लेखनीय है—

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।

आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज त जोगमासेज्ज॥१॥

ए हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिदो समये ।

जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिद्दिट्ठा ॥२॥

अर्थात् गमन सम्बन्धी नियमो का सावधानी से पालन करनेवाले सयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट मे आकर मर गया । किन्तु इसमे शास्त्रानुसार उस सयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धन नही हुआ, क्योकि सयमी ने प्रमाद नही किया, और हिंसा तो प्रमाद से ही होती है । भावहिंसा कितनी बुरी मानी गयी है, यह इस गाथा से प्रकट हैं—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे, जा अपने आचरण मे यत्नशील नही हैं, वह भावमात्र से हिंसा का दोषी अवश्य होता है, और इसके विपरीत, यदि कोई सयमी अपने आचरण मे सतर्क है, तो द्रव्यहिंसा मात्र से वह कर्मबन्ध का भागी नही होता । इससे स्पष्ट है कि अहिंसा के उपदेश मे भार यथार्थत मनुष्य की मानसिक शुद्धि पर है ।

गृहस्थ और मुनि जो अहिंसा व्रत क्रमश अणु व महत् रूप मे पालन करने का उपदेश दिया गया है वह जैन व्यवहार दृष्टि का परिणाम है । मुनि तो सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्री से लगाकर किसी भी जीव की जानबूझकर कभी हिंसा नही करेगा, चाहे उसे जीव रक्षा के लिये स्वय कितना ही क्लेश क्यों न भोगना पडे । किन्तु गृहस्थ की सीमाओ का ध्यान रखकर उसकी सुविधा के लिये वनस्पति आदि स्थावर हिंसा के त्याग पर उतना भार नही दिया गया । द्वीन्द्रियादि त्रस जीवो के सम्बन्ध मे हिंसा के चार भेद किये गये है—**आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और सकल्पी** हिंसा । चलने-फिरने से लेकर झाडना बुहारना व चूल्हा-चक्की आदि गृहस्थी सबधी क्रियाए आरम्भ कहलाती है, जिसमे अनिवार्यत होनेवाली हिंसा आरम्भी है । कृषि, दुकानदारी, व्यापार, वाणिज्य, उद्योगधन्धे आदि मे होनेवाली हिंसा उद्योगी हिंसा हैं । अपने स्वजनो व परिजनो के, तथा धर्म, देश व समाज की रक्षा के निमित्त जो हिंसा अपरिहार्य हो वह विरोधी हिंसा है, एव विनोद मात्र के लिये, वैर का वदला चुकाने के लिये, अपना पौरुष दिखाने के लिये, अथवा अन्य किसी कुत्सित स्वार्थभाव से जान-बूझकर जो हिंसा

की जाती है, वह सकल्पी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से गृहस्थ, व्रतरूप से तो केवल सकल्पी हिंसा का ही त्यागी हो सकता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं में उसे स्वय अपनी परिस्थिति और विवेकानुसार सयम रखने का उपदेश दिया गया है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार—

प्राणघात के अतिरिक्त अन्य प्रकार पीडा देकर हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनसे बचते रहने की व्रती को आवश्यकता है। विशेषत परिजनो व पशुओं के साथ पाच प्रकार की क्रूरता को अतिचार (अतिक्रमण) कहकर उनका निषेध किया गया है—उन्हे बाधकर रखना, डडो, कोडो आदि से पीटना, नाक-कान आदि छेदना-काटना, उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादना, व समय पर अन्न-पानी न देना। इन अतिचारो से बचने के अतिरिक्त, अहिंसा के भाव को दृढ करने के लिये पाच भावनाओ का उपदेश दिया गया है—अपने मन के विचारो, वचन-प्रयोगों, गमनागमन, वस्तुओं को उठाने रखने तथा भोजन-पान की क्रियाओं मे जागरूक रहना। इस प्रकार जैनशास्त्र-प्रणीत हिंसा के स्वरूप तथा अहिंसा व्रत के विवेचन से स्पष्ट है कि इस व्रत का विधान व्यक्ति को सुशील, सुसभ्य व समाजहितैषी बनाने, और उसे अनिष्टकारी प्रवृत्तियो से रोकने के लिये किया है, और इस सयम की आज भी ससार मे अत्यधिक आवश्यकता है। जिस प्रकार यह व्रत व्यक्ति के आचरण का शोधन करता है, उसी प्रकार वह देश और समाज की नीति का अग बनकर ससार मे सुख और शान्ति की स्थापना कराने मे भी सहायक हो सकता है। अहिंसा के इसी सद्गुण के कारण ही यह सिद्धान्त जैन व बौद्ध धर्मों तक ही सीमित नही रहा, किन्तु वह वैदिक परम्परा मे भी आज से शताब्दियो पूर्व प्रविष्ट हो चुका है, तथा एक प्रकार से समस्त देश पर छा गया है, और इसीलिये हमारे देश ने अपनी राजनीति के लिये अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है।

सत्याणव्रत व उसके अतिचार—

असद् वचन बोलना-अनृत, असत्य, मृषा या झूठ कहलाता है। असत् का अर्थ है जो सत् अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुकूल एव हितकारी नही है। इसीलिये शास्त्र मे कहा गया है सत्य ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, सत्य को इस प्रकार मत बोलो कि वह दूसरे को अप्रिय हो जाय। इस प्रकार सत्य-भाषण व्रत की मूल भावना आत्म-परिणामों की शुद्धि तथा स्व व परकीय पीडा व अहित रूप हिंसा का निवारण ही हैं।

इसके पालन मे गृहस्थ के अणुव्रत की सीमा यह है कि यदि स्नेह या मोहवश तथा स्व-पर-रक्षा निमित्त असत्य भाषण करने का अवसर आ जाय, तो वह उससे विशेष पाप का भागी नही होता, क्योकि उसकी भावना मूलत दूषित नही है, और पाप-पुण्य विचार मे द्रव्यक्रिया से भावक्रिया का महत्व अधिक है। किन्तु झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना, झूठे लेख तैयार करना, किसी की धरोहर को रखकर भूल जाना या उसे कम बतलाना, अथवा किसी की अग-चेष्टाओ व इशारो आदि से समझकर उसके मन्त्र के भेद को खोल देना, ये पॉच इस व्रत के **अतिचार** है, जो स्पष्टत सामाजिक जीवन मे बहुत हानिकर है। सत्यव्रत के परिपालन के लिये जिन **पाच भावनाओ** का विधान किया गया है वे है—क्रोध, लोभ, भीरुता, और हसी-मजाक इन चार का परित्याग, तथा भाषण मे औचित्य रखने का अभ्यास।

अस्तेयाणुव्रत व उसके अतिचार—

बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना **अदत्तादान** रूप स्तेय या चोरी है। अणुव्रती गृहस्थ के लिये आवश्यक मात्रा में जल-मृत्तिका जैसी उन वस्तुओ को लेने का निषेध नही, जिन पर किसी दूसरे का स्पष्ट अधिकार व रोक न हो। महाव्रती मुनि को तिल-तुष मात्र भी बिना दिये लेने का निषेध है। स्वय चोरी न कर दूसरे के द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओ के बाहर वस्तुओ का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बॉट नियत परिणाम से हीनाधिक रखना, और नकली वस्तुओ को असली के बदले मे चलाना—ये पॉच अचौर्य अणुव्रत के **अतिचार** है, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिये। मुनि के लिये तो यहाँ तक विधान किया गया है कि उन्हे केवल पर्वतो की गुफाओ मे व वृक्षकोटर या परित्यक्त घरो मे ही निवास करना चाहिये। ऐसे स्थान का ग्रहण भी न करना चाहिये जिसमे किसी दूसरे के निस्तार मे बाधा पहुँचे। भिक्षा द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न मे यहा तक शुद्धि का विचार रखना चाहिये कि वह आवश्यक मात्रा से अधिक न हो। मुनि अपने सहधर्मी साधुओ के साथ मेरे-तेरे के विवाद मे न पडे। इस प्रकार इस व्रत द्वारा व्यापार मे सचाई और ईमानदारी तथा साधु-समाज मे पूर्ण निस्पृहता की स्थापना का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व उसके अतिचार—

स्त्री-अनुराग व कामक्रीडा के परित्याग का नाम अव्यभिचार या ब्रह्मचर्य व्रत है। अणुव्रती श्रावक या श्राविका अपने पति-पत्नी के अतिरिक्त शेप समस्त

स्त्री-पुरुषो से माता, बहन, पुत्री अथवा पिता, भाई व पुत्र सदृश शुद्ध व्यवहार रखें और महाव्रती तो सर्वथा ही काम-क्रीडा का परित्याग करे। दूसरे का विवाह कराना, गृहीत या वेश्या गणिका के साथ गमन, अप्राकृतिक रूप से कामक्रीडा करना, और काम की तीव्र अभिलाषा होना, ये पाँच इस व्रत के अतिचार है। शृगारात्मक कथावार्ता सुनना, स्त्री-पुरुष के मनोहर अगो का निरीक्षण, पहले की काम-क्री ा आदि का स्मरण, काम-पोषक रस औषधि आदि का सेवन, तथा शरीर-शृ गार, इन पाचो प्रवृत्तियो का परित्याग करना इस व्रत को दृढ करने वाली पाच भावनाए हैं। इस प्रकार इस व्रत के द्वारा व्यक्ति की काम-वासना को मर्यादित तथा समाज से तत्सम्बन्धी दोषो का परिहार करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार—

पशु, परिजन आदि सजीव, एव घर-द्वार, धन-धान्य आदि निर्जीव वस्तुओ मे ममत्व बुद्धि रखना परिग्रह है। इस परिग्रह रूप लोभ का पारावार नही, और इसी लोभ के कारण समाज मे बडी आर्थिक विषमताए तथा वैर-विरोध व सघर्ष उत्पन्न होते है। इसलिये इस वृत्ति के निवारण व नियत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। राज्य-नियमो के द्वारा परिग्रहवृत्ति को सीमित करने के प्रयत्न सर्वथा असफल होते हैं, क्योकि उनसे जनता की मनोवृत्ति तो शुद्ध होती नही, और इसलिये वाह्य नियमन से उनकी मानसिक वृत्ति छल-कपट अनाचार की ओर बढने लगती है। इसीलिये धर्म मे परिग्रहवृत्ति को मनुष्य की आभ्यन्तर चेतना द्वारा नियत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। महाव्रती मुनियो को तो तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखने का निषेध है। किन्तु गृहस्थो के कुटुम्ब-परिपालनादि कर्तव्यो का विचार कर उनसे स्वय अपने लिये परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेने का अनुरोध किया गया है। एक तो उन्हे उस सीमा से वाहर धन-धान्य का सचय करना ही नही चाहिये, और यदि अनायास ही उसकी आमद हो जावे, तो उसे औषधि, शास्त्र, अभय और आहार, अर्थात् औषधि-वितरण व औषध-शालाओ की स्थापना, शास्त्रदान या विद्यालयो की स्थापना, जीव-रक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओ मे, तथा अन्न-वस्त्रादि दान मे उस द्रव्य का उपयोग कर देना चाहिये। नियत किये हुए भूमि, घरद्वार, सोना-चाँदी, धन-धान्य, दास-दासी तथा वर्तन-भाडो के प्रमाण का अतिक्रमण करना इस व्रत के अतिचार है। इस परिग्रह-परिमाण व्रत को दृढ कराने वाली पाच भावनाएँ हैं—पाचो इन्द्रियो सम्बन्धी मनोज्ञ वस्तुओ के प्रति राग व अमनोज्ञ के प्रति द्वेष-भाव का परित्याग, क्योकि इसके विना मानसिक परिग्रहत्याग नही हो सकता।

मैत्री आदि चार भावनाएं—

उपर्युक्त व्रतो के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिये ऐसी भावनाओ का भी विधान किया गया है, जिनसे उक्त पापो के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो। व्रती को वारम्वार यह विचार करते रहना चाहिये कि हिंसादिक पाप इस लोक और परलोक मे दु खदायी है, और उनसे जीवन मे वडे अनर्थ उत्पन्न होते है, जिनके कारण अन्तत वे सव सुख की अपेक्षा दु ख का ही अधिक निर्माण करते है। उक्त पापो के प्रलोभन का निवारण करने के लिये ससार के व शरीर के गुणधर्मो की क्षणभगुरता की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये, जिससे विपयो के प्रति आसक्ति न हो और सदाचारी जीवन की ओर आकर्पण उत्पन्न हो। जीवमात्र के प्रति मैत्री भावना, गुणीजनो के प्रति प्रमोद, दीन-दुखियो के प्रति कारुण्य, तथा विरोधियो के प्रति रागद्वेप व पक्ष-पात के भाव से रहित माध्यस्थ-भाव, इन चार वृत्तियो का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिये, जिससे तीव्र रागद्वेपात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाए जागृत न होने पावें। इन समस्त व्रतो का मन से, वचन से, काय से परिपालन करने का अनुरोध किया गया है और उनके द्वारा त्यागे जाने वाले पापों को केवल स्वय न करने की प्रतिज्ञा मात्र नही, किन्तु अन्य किसी से उन्हे कराने व किये जाने पर उस कुकृत्य का अनुमोदन करने के विरुद्ध भी प्रतिज्ञा अर्थात् उनका कृत, कारित व अनुमोदित तीनो रूपो मे परित्याग करने पर जोर दिया गया है। इस प्रकार इस नैतिक सदाचार द्वारा जीवन को शुद्ध और समाज को सुसस्कृत वनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

तीन गुणव्रत—

उक्त पाच मूलव्रतो के अतिरिक्त गृहस्थ के लिये कुछ अन्य ऐसे व्रतो का विधान भी किया गया है कि जिनसे उसकी तृष्णा व सचयवृत्ति का नियत्रण हो, इन्द्रिय-लिप्सा का दमन हो, और दानशीलता जागृत हो। उसे चारो दिशाओ मे गमनागमन, आयात-निर्यातादि की सीमा वाँध लेनी चाहिये—यह दिग्व्रत कहा गया है। अल्पकाल मर्यादा सहित दिग्व्रत के भीतर समुद्र, नदी, पर्वत, पहाडी, ग्राम व दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाए वाँधकर अपना व्यापार चलाना चाहिये, यह उसका देशव्रत होगा। पापात्मक चिन्तन व उपदेश, तथा दूसरो को अस्त्र-शस्त्र, विप, वन्धन आदि ऐसी वस्तुओ का दान, जिनका वह स्वय उपयोग नही करना चाहता, अनर्थदण्ड कहा गया है, जिनका गृहस्थ को

त्याग करना चाहिये। इन तीन व्रतों के अभ्यास से मूलव्रतों के गुणों की वृद्धि होती है, और इसीलिये इन्हे गुणव्रत कहा गया हैं।

चार शिक्षाव्रत—

गृहस्थ को सामयिक का भी अभ्यास करना चाहिये। सामयिक का अर्थ है—समताभाव का आह्वान। मनकी साम्यावस्था वह है जिसमे हिंसादि समस्त पापवृत्तियो का शमन हो जाय। इसीलिये सामायिक की अपेक्षा समस्त व्रत एक ही कहे गये है, और इसी पर महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा जोर दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस भावना के अभ्यास के लिए गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्याह्न सायकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक बार एकान्त मे शान्त और शुद्ध वातावरण मे बैठकर, अपने मन को सांसारिक चिन्तन से निवृत्त करके, शुद्ध ध्यान अथवा धर्म-चिन्तन मे लगाने का आदेश दिया गया है। इसे ही व्यवहार मे जैन लोग सन्ध्या कहते है। खान-पान व गृह-व्यापारादि का त्यागकर देव-वन्दन पूजन तथा जप व शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओ मे ही दिन व्यतीत करना **प्रोषधोपवास** कहलाता है। इसे गृहस्थ यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी-चतुर्दशी को करे, जिससे उसे भूख प्यास की वेदना पर विजय प्राप्त हो। प्रतिदिन के आहार मे से विशेष प्रकार खट्टे-मीठे रसो का, फल-अन्नादि वस्तुओ का तथा वस्त्राभूषण शयनासन व वाहनादि के उपयोग का त्याग करना व सीमा बांधना **भोगोपभोग-परिमाण** व्रत है। अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि साधुजनो को सत्कार पूर्वक आहार औषधि आदि दान देना **अतिथिसंविभाग** व्रत है। ये चारो शिक्षाव्रत कहलाते है, क्योकि इनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। सामान्य रूप से ये सातो व्रत सप्तशील या सप्त शिक्षापद भी कहे गये हैं। इन समस्त व्रतो के द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थ को मरण भी धार्मिक रीति से करना सिखाया गया है।

सल्लेखना—

महान् सकट, दुर्भिक्ष, असाध्य रोग, व वृद्धत्व की अवस्था मे जब साधक को यह प्रतीत हो कि वह उस विपत्ति से बच नही सकता, तब उसे कराह-कराह कर व्याकुलता पूर्वक मरने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि वह क्रमश अपना आहारपान इस विधि से घटाता जावे जिससे उसके चित्त मे क्लेश व व्याकुलता उत्पन्न न हो, और वह शान्तभाव से अपने शरीर का उसी प्रकार त्याग कर सके, जैसे कोई धनी पुरुप अपने गृह को सुख का साधन समझता हुआ भी

उसमे आग लगने पर स्वय सुरक्षित निकल आने मे ही अपना कल्याण समझता है। इसे सल्लेखना या समाधिमरण कहा गया है। इसे आत्मघात नही समझना चाहिये, क्योकि आत्मघात तीव्र रागद्वेषवृत्ति का परिणाम है, और वह शस्त्र व विपके प्रयोग, भृगुपात आदि घातक क्रियाओ द्वारा किया जाता है, जिनका कि सल्लेखना मे सर्वथा अभाव है। इस प्रकार यह योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण, जीवन सम्बन्धी सुयोजना का एक अग है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए—

पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म के व्रतो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वह धर्म सव व्यक्तियो के लिये, सव काल मे, पूर्णत पालन करना सम्भव नही है। इसीलिये परिस्थितियो, सुविधाओं तथा व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक वृत्तियो के अनुसार श्रावकधर्म के ग्यारह दर्जे नियत किये गये है जिन्हे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए कहते हैं। गृहस्थ की प्रथम प्रतिमा उस सम्यग्दृष्टि (दर्शन) की प्राप्ति के साथ आरम्भ हो जाती है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक किसी भी व्रत का विधिवत् पालन नही करता। सम्भव है वह चाण्डाल कर्म करता हो, तथापि आत्मा और पर की सत्ता का भान हो जाने से उसकी दृष्टि शुद्ध हुई मानी गई है, जिसके प्रभाव से वह पशु व नरक योनि मे जाने से वच जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही परिस्थिति वश वह अहिंसादि व्रतो का पालन न कर सके, किन्तु जव दृष्टि सुधर गई, तव वह भव्य सिद्ध हो चुका, और कभी न कभी चारित्र-शुद्धि प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हुए विना नही रह सकता।

श्रावक की दूसरी प्रतिमा उसके अहिंसादि पूर्वोक्त व्रतो के विधिवत् ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है, और वह क्रमश पाच अणुव्रतो व सातो शिक्षापदो का निरतिचार पालन करने का अभ्यास करता जाता है। तीसरी प्रतिमा सामयिक है। यद्यपि सामायिक का अभ्यास पूर्वोक्त शिक्षाव्रतो के भीतर दूसरी प्रतिमा मे ही प्रारम्भ हो जाती है, तथापि इस तीसरी प्रतिमा मे ही उसकी वह साधना ऐसी पूर्णता को प्राप्त होती है जिससे उसे अपने क्रोधादि कषायो पर विजय प्राप्त हो जाती हे, और सामान्यत सासारिक उत्तेजनाओ से उसकी शान्ति भग नही होती; तथा वह अपने मन को कुछ काल आत्मध्यान मे निराकुलतापूर्वक लगाने मे समर्थ हो जाता है।

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा मे वह उस उपवासविधि का पूर्णत पालन करने

मे समर्थ होता है जिसकी अभ्यास वह दूसरी प्रतिमा मे प्रारम्भ कर चुका है, और जिसका स्वरूप ऊपर वर्णित किया जा चुका है । पाचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा मे श्रावक अपनी स्थावर जीवो सम्बन्धी हिंसावृत्ति को विशेपरूप से नियन्त्रित करता है और हरे शाक, फल, कन्द-मूल तथा अप्राशुक अर्थात् विना उवले जल के आहार का त्याग कर देता है । छठी प्रतिमा मे वह रात्रि भोजन करना छोड देता है, क्योकि रात्रि मे कीट पतगादि क्षुद्र जन्तुओ द्वारा आहार के दूपित हो जाने की सम्भावना रहती है । सातवीं प्रतिमा मे श्रावक पूर्ण ब्रह्मचारी वन जाता है, और अपनी स्त्री से भी काम-क्रीडा करना छोड देता है, यहा तक की रागात्मक कथा-कहानी पढना-सुनना भी छोड देता है, व तत्सवधी वार्तालाप भी नही करता । आठवीं प्रतिमा आरम्भ-त्याग की हे, जिसमे श्रावक की सासारिक आसक्ति इतनी घट जाती है कि वह घर-गृहस्थी सम्बन्धी काम-धधे व व्यापार मे रुचि न रख, उसका भार अपने पुत्रादि पर छोड देता है ।

नौवीं प्रतिमा परिग्रह-त्याग की है । श्रावक ने जो अणुव्रतो मे परिग्रह-परिमाण का अभ्यास प्रारम्भ किया था, वह इस प्रतिमा मे आने तक ऐसे उत्कर्प को पहुच जाता हे कि गृहस्थ को अपने घर-सम्पत्ति व धन-दौलत से कोई मोह नही रहता वह अव इस सवको भी अपने पुत्रादि को सौप देता है और अपने लिये भोजन-वस्त्र मात्र का परिग्रहण रखता है । दसवीं प्रतिमा मे उसकी विरक्ति एक दर्जे आगे वढती है, और वह अपने पुत्रादि को काम धधो सम्वन्धी अनुमति देना भी छोड देता है । ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्ट-त्याग की हे, जहा पर श्रावक धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुच जाता है । इस प्रतिमा के दो अवान्तर भेद हैं—एक 'क्षुल्लक' और दूसरा 'ऐलक' । प्रथम प्रकार का अद्दिष्टत्यागी एक वस्त्र धारण करता है, कैंची, छुरे से अपने वाल वनवा लेता है, तथा पात्र मे भोजन कर लेता है । किन्तु दूसरा उद्दिष्ट-त्यागी वस्त्र के नाम पर केवल कोपीन मात्र धारण करता हैं, स्वय केशलौच करता है, पीछी-कमडल रखता है, और भोजन केवल अपने हाथ मे लेकर ही करता है, थाली आदि पात्र से नही । इस उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा का सार्थक लक्षण यह है कि इसमे श्रावक अपने निमित्त वनाया गया भोजन नही करता । वह भिक्षावृत्ति स्वीकार कर लेता है ।

इन प्रतिमाओ मे दिखाई देगा कि जिन व्रतो का समावेश बारह-व्रतो के भीतर हो चुका है, और जिनके पालन का विधान दूसरी प्रतिमा मे ही किया जा चुका है, उन्ही की प्राय अन्य प्रतिमाओ मे भी पुनरावृत्ति हुई है । किन्तु उनमे भेद यह है कि जिन-जिन व्रतो का विधान ऊपर की प्रतिमाओ मे किया

चक्षु आदि पाँचों इंद्रियों का निरोध करना, अर्थात् अपने-अपने विषयों की ओर लोलुपता से आसक्त न होने देना, ये मुनियों के पाँच इन्द्रिय-निग्रह हैं। जीवन मरण में, मित्र-शत्रु में, सुख दुख में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग आदि का परित्याग कर समताभाव रखना, तीर्थंकरों की गुणानुकीर्तन रूप स्तुति करना, अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन-वचन-काय से प्रदक्षिणा-प्रणाम आदि रूप वन्दना करना, नियमितरूप से आत्मशोधन-निमित्त अपने अपराधों की निन्दा-गर्हा रूप प्रतिक्रमण करना, समस्त अयोग्य आचरण का परित्याग, अर्थात् अनुचित नाम नहीं लेना, अनुचित स्थापना नहीं करना, एवं अनुचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परित्याग रूप प्रत्याख्यान, तथा अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ने रूप कायोत्सर्ग करना, ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियाएं हैं। समय-समय पर अपने हाथों से केशलोंच, अचेलवृत्ति, स्नानत्याग, दन्तधावन-त्याग, क्षितिशयन, स्थितिभोजन अर्थात् खड़े रह कर आहार करना, और एकभक्त अर्थात् दिन में केवल एक बार भोजन करना, ये मुनि की अन्य सात विशेष साधनाएं हैं। इसप्रकार मुनियों के कुल अट्ठाइस मूलगुण नियत किये गये हैं।

२२ परीषह—

उपर्युक्त नियमों से यह स्पष्ट है कि साधु की मुख्य साधना है समत्व, जिसे भगवद्गीता में भी योग का मुख्य लक्षण कहा है (समत्व योग उच्यते)। इस समताभाव को भंग करने वाली अनेक परिस्थितियों का मुनि को सामना करना पड़ता है, और ये ही स्थितियां मुनि के समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। ऐसी परिस्थितियां तो अगणित हो सकती हैं किन्तु उनमें से बाईस का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये तत्सम्बन्धी क्लेशों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। साधु अपने पास न खाने-पीने का सामान रखता, और न स्वयं पकाकर खा सकता। उसे इसके लिये भिक्षा वृत्ति पर अवलंबित रहना पड़ता है, सो भी दिन में केवल एक बार। उसे समय-समय पर एक व अनेक दिनों के लिये उपवास भी करना पड़ता है। अतएव बीच-बीच में उसे भूख-प्यास सतावेंगे ही। इसीलिये क्षुधा (१) और तृषा (२) परीषह उसे आदि में ही जीतना चाहिये। वस्त्रों के अभाव में उसे शीत, उष्ण (३-४), डांस-मच्छर (५) व नग्नता (६) के क्लेश होना अनिवार्य है, जिन्हें भी उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। एकान्त में रहने, उक्त भूख-प्यास आदि की बाधाएं सहने तथा इन्द्रिय-विषयों के अभाव से उसे मुनि अवस्था से कभी अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है। इस अरति

परीषह् को भी उन्हे जीतना चाहिये (७)। मुनि को जब-तब और विशेषत भिक्षा के समय नगर व ग्राम मे परिभ्रमण करते हुए व गृहस्थो के घरो मे सुन्दर व युवती स्त्रियो का एव उनके हाव-भाव-विलासो का दर्शन होना अनिवार्य है। इससे उसके मन मे चचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे जीतना स्त्री-परीषह्-जय कहलाता है (८) मुनि को वर्षाऋतु के चार माह छोड़कर शेष-काल मे एक स्थान पर अधिक न रह कर देश-परिभ्रमण करते रहना चाहिये। इस निरतर यात्रा मे उसे मार्ग की अनेक कठिनाइया सहनी पडती हैं; यही मुनि का चर्या परीषह् है (९)। ठहरने के लिये मुनि को श्मशान, वन, उजड घर, पर्वत-गुफाओ आदि का विधान किया गया है, जहा उन्हे नाना-प्रकार की, यहा तक की सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओ द्वारा आक्रमण की, बाधाए सहनी पडती है, यही साधु का निषद्या परीषह्-विजय है (१०)। मुनि को किंचित् काल शयन के लिये कठोर विषम, शिलातल आदि हीमिलेंगे, इसका क्लेश सहन करना शय्या-परीषह्-जय है (११)। विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली-गलौच भी कर बैठते हैं, इसे सहन करना आक्रोश-परीषह्-जय है (१२)। यदि कोई इससे भी आगे बढकर मार-पीट कर बैठे, तो उसे भी सहन करना वध-परीषह्-जय है (१३) मुनि को अपने आहार, वसति, औषध आदि के लिये गृहस्थो से याचना ही करनी पडती है (१४)। किन्तु इस कार्य मे अपने मे दीनता भाव न आने देने को याचना-परीषह्-जय, तथा याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि मे लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर सन्तोष भाव रखने को अलाभ-विजय कहते है (१५)। यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीडा के वशीभूत हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम रोग-विजय है (१६)। चर्या, शैया व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, काटा ककड आदि चुभने की पीडा हो, उसे सहना तृणस्पर्श-विजय है (१७)। साधु को अपने शरीर से मोह छोडने के लिये जो स्नान न करने, दन्तादि अग-प्रत्यगो को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी सस्कार न करने के कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को मल परीषह्-विजय कहते है (१८)। सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार-पुरस्कार मिलने से हर्ष, और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु मुनि को उक्त दोनो अवस्थाओ मे रोष-तोष की भावना से विचलित नही होना चाहिये। यह उसका सत्कार-पुरस्कार विजय है (१९)। विशेष ज्ञान का मद होना भी बहुत सामान्य है। साधु इस मद से मुक्त रहे, यह उसका प्रज्ञा-विजय (२०)। एव ज्ञान न होने पर उद्विग्न न हो, यह उसका अज्ञान-विजय है (२१)। दीर्घ काल तक तप करते रहने पर भी

अवधि या मन पर्ययज्ञानादि की प्राप्ति रूप ऋद्धि-सिद्धि उपलब्ध न होने पर मुनि का श्रद्धान विचलित हो सकता है कि ये सब सिद्धिया प्राप्य है या नही, केवलज्ञानी ऋषि, मुनि, तीर्थंकरादि हुए हैं या नही, यह सब तपस्या निरर्थक ही है, ऐसी अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना अदर्शन-विजय है (२२)। ये बाईस परीषह-जय मुनियो की विशेष साधनाएँ हैं, जिनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी व योगी बना लेता है।

१० धर्म—

उपर्युक्त बाईस परीषहो मे मन को उभाड कर विचलित करके, रागद्वेष रूप दुर्भावो से दूषित करनेवाली जो मानसिक अवस्थाए हैं उनके उपशमन के लिये दश-धर्मों और बारह अनुप्रेक्षाओ (भावनाओ) का विधान किया गया है। धर्मों के द्वारा मन को कषायो को जीतने के लिये उनके विरोधी गुणो का अभ्यास कराया जाता है, तथा अनुप्रेक्षाओ से तत्व-चिन्तन के द्वारा सासारिक वृत्तियो से अनासक्ति उत्पन्न कर वैराग्य की साधना मे विशेष प्रवृत्ति कराई जाती है। दश धर्म है—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। क्रोधोत्पादक गाली-गलौच, मारपीट, अपमान आदि परिस्थितियो मे भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा धर्म हैं। (१) कुल, जाति, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व एव शील आदि सबधी अभिमान करना मद कहलाता है। इस मान कषाय को जीतकर मन मे सदैव मृदुता भाव रखना मार्दव धर्म है। (२) मन मे एक बात सोचना, वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से करना कुछ और, यह कुटिलता या मायाचारी कहलाती है। इस माया कषाय को जीतकर मन-वचन-काय की क्रिया मे एकरूपता (ऋजुता) रखना आर्जव धर्म है। (३) मन को मलिन बनाने वाली जितनी दुर्भावनाए हैं उनमे लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी हैं। इस लोभ कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म हैं। (४) असत्य वचन की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है। (५) इन्द्रियो के विषयो की ओर से मन की प्रवृत्ति को रोककर उसे सत्प्रवृत्तियो मे लगाना सयम धर्म है। (६) विषयो व कषायो का निग्रह करके आगे कहे जानेवाले बारह प्रकार के तप मे चित्त को लगाना तप धर्म है। (७) बिना किसी प्रत्युपकार व स्वार्थ भावना के दूसरो के हित व कल्याण के लिये विद्या आदि का दान देना त्याग धर्म है। (८) घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बान्धव, शत्रु-मित्र सबसे ममत्व छोडना, ये मेरे नही है, यहा तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहनेवाला नही

है, ऐसा अनासक्ति भाव उत्पन्न करना अकिंचन धर्म है, (९) तथा रागोत्पादक परिस्थितियों मे भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना व उसे आत्म चिन्तन मे लगाये रहना ब्रह्मचर्य धर्म है (१०)।

इस दश धर्मों के भीतर सामान्यत चार कपायो तथा अणुव्रत व महाव्रतो द्वारा निर्धारित पाच पापो के अभाव का समावेश प्रतीत होता है। किन्तु धर्मों की व्यवस्था की विशेषता यह है कि उनमे कपायो और पापो के अभाव मात्र पर नही, किन्तु उनके उपशामक विधानात्मक क्षमादि गुणो पर जोर दिया गया है। चार कपायो के उपशामक प्रथम चार धर्म है, तथा हिंसा असत्य, चौर्य, अब्रह्म व परिग्रह के उपशामक क्रमश सयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और अकिंचन धर्म हैं। इन नौ के अतिरिक्त तप का विधान मुनिचर्या को विशेष रूप से गृहस्थ धर्म से आगे बढाने वाला है।

१२ अनुप्रेक्षाएं—

अनासक्ति योग के अभ्यास के लिये जो बारह अनुप्रेक्षाए या भावनाए बतलाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—आराधक यह चिन्तन करे कि ससार का स्वभाव बडा क्षणभगुर है, यहा मेरा-तेरा कहा जाने वाला जो कुछ है, सब अनित्य है, अतएव उसमे आसक्ति निष्फल है, यह अनित्य भावना है (१)। जन्म-जरा-मृत्यु रूप भयो से कोई किसी की रक्षा नही कर सकता, इन भयो से छुटने का उपाय आत्मा मे ही है, अन्यत्र नही, यह अशरण भावना है (२)। ससार मे जीव जिस प्रकार चारो गतियो मे घूमता है, और मोहवश दुख पाता रहता है, इसका विचार करना ससार भावना है (३)। जीव तो अकेला ही जन्मता व बाल्य, यौवन व वृद्धत्व का अनुभव करता हुआ अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है, यह विचार एकत्व भावना है (४)। देहादि समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, इनसे आत्मा का कोई सच्चा नाता नही है, यह अन्यत्व भावना है (५)। यह शरीर रुधिर, मांस व अस्थि का पिंड है, और मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है, इनसे अनुराग करना व उसे सजाना-धजाना निष्फल है, यह अशुचित्व भावना है (६)। क्रोधादि कपायो से तथा मन-वचन काय की प्रवृत्तियो से किस प्रकार कर्मो का आस्रव होता है, इसका विचार करना आस्रव भावना है (७)। व्रतो तथा समिति, गुप्ति, धर्म, परीषहजय व प्रस्तुत अनुप्रेक्षाओ द्वारा किस प्रकार कर्मास्रव को रोका जा सकता है, यह चिन्तन सवर भावना है (८)। व्रतो आदि के द्वारा तथा विशेष रूप से बारह

प्रकार के तपो द्वारा वधे हुए कर्मों का किस प्रकार क्षय किया जा सकता हे, यह चिन्तन निर्जरा भावना है (९)। इस अनन्त आकाश, उसके लोक व आलोक विभाग, उनके अनादित्व व अकर्तृत्व तथा लोक मे विद्यमान समस्त जीवादि द्रव्यो का विचार करना लोक भावना है (१०)। इस अनादि ससार मे यह जीव किस प्रकार अज्ञान और मोह के कारण नाना योनियो मे भ्रमण के दु ख पाता रहा है, कितने पुण्य के प्रभाव से इसे यह मनुष्य योनि मिली है, तथा इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने वाले दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीन रत्न कितने दुर्लभ है, यह चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है (११)। सच्चे धर्म का स्वरूप क्या है, और उसे प्राप्त कर किस प्रकार सासारिक दु खो से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, यह चिन्तन धर्म भावना है (१२)। इस प्रकार इन वारह भावनाओ से साधक को अपनी धार्मिक प्रवृत्ति मे दृढता व स्थिरता प्राप्त होती है।

३ गुप्तिया—

ऊपर अनेक वार कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया रुप योग के द्वारा कर्मास्रव होता हैं, और कर्मवन्ध को रोकने तथा वधे हुए कर्मो की निर्जरा करने मे इस त्रियोग की साधना विशेप रुप से आवश्यक है। यथार्थत समस्त धार्मिक साधना के मूल मे मन-वचन-काय की प्रवृत्ति-निवृत्ति ही तो प्रधान है। अतएव इनकी सदसत् प्रवृत्ति का विशेप रुप से स्वरुप वतलाकर साधक को उनके सम्वन्ध मे विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। मन और वचन इन दोनो की प्रवृत्ति चार प्रकार की कही गयी है—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय। सत्य मे यथार्थता और हित, इन दोनो बातो का समावेश माना गया हैं। इसी सत्य के अनुचिन्तन मे प्रवृत्त मन की अवस्था को सत्य मन, उससे विपरीत असत्यमन, मिश्रित भाव को उभय मन, और सत्यासत्य दोनो से हीन मानसिक अवस्था को अनुभय रुप मन कहा गया है। इन अवस्थाओ मे से सत्य मनोयोग की ही साधना को मनोगुप्ति कहा गया है। शब्दात्मक वचन यथार्थत मन की अवस्था को व्यक्त करने वाला प्रतीक मात्र है। अतएव उक्त चारो मनोदशाओ के अनुकूल वचन-पद्धति भी चार प्रकार की हुई। तथापि लोक व्यवहार मे सत्य-वचन भी दस प्रकार का रुप धारण कर लेता है। कही शब्द अपने मूल वाच्यार्थ से च्युत होकर भी जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रुप, अपेक्षा, व्यवहार, सम्भावना, भाव व उपमा सम्वन्धी रुढियो द्वारा सत्य को प्रगट करता है। वाणी के अन्य प्रकार से भी नौ भेद

किये गये हैं, जैसे—आमत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, सशयवचनी, इच्छानुलोमनी और अनक्षरगता। इनका सत्य-असत्य से कोई सम्बन्ध नही। अतएव इन्हे अनुभय वचनरुप कहा गया है। साधक को इस प्रकार मन और वचन के सत्यासत्य स्वरुप का विचारकर, अपनी मन-वचन की प्रवृत्ति को सम्भालना चाहिये, और तदनुसार ही कायिक क्रिया मे प्रवृत्त होना चाहिये, यही मुनि का त्रिगुप्ति रुप आचरण हैं।

६ प्रकार का बाह्य तप—

उक्त समस्त व्रतो आदि की साधना कर्मास्रव के निरोध रूप सवर व बधे हुए कर्मो के क्षय रूप निर्जरा करानेवाली है। कर्म-निर्जरा के लिये विशेषरूप से उपयोगी तप साधना मानी गई है, जिसके मुख्य दो भेद हैं—**बाह्य** और **अभ्यन्तर**। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसख्यान रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एव कायक्लेश, ये वाह्य तप के छह प्रकार है। सब प्रकार के आहार का परित्याग **अनशन**, तथा अल्प आहार मात्र ग्रहण करना **अवमौदर्य** या ऊनोदर तप है। एक ही घरसे भिक्षा लूगा, इस प्रकार दिये हुए आहार मात्र को ग्रहण करूगा, इत्यादि रूप से आहार सम्बन्धी परिस्थितियो का नियन्त्रण करना **वृत्ति-परिसख्यान**, तथा घृतादि विशेप पौष्टिक एव विकार वस्तुओ का त्याग, तथा मिष्टादि रसो का नियमन करना **रस-परित्याग** हे। शून्य गृहादि एकान्त स्थान मे वास करना **विविक्तशय्यासन** है, तथा धूप, शीत, वर्पा आदि वाधाओ को विशेष रूप से सहने का एव आसन-विशेप से लम्वे समय तक स्थिर रहने आदि का अभ्यास करना **कयक्लेश** तप है।

६ प्रकार का आभ्यन्तर तप—

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। प्रमादवश उत्पन्न हुए दोपो के परिहार के लिये आलोचन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओ मे प्रवृत्त होना **प्रायश्चित** तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व उपचार की साधना मे विशेष रूप से प्रवृत्त होना **विनय** तप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वरूप वताया ही जा चुका है। आचार्यादि गुरुजनो व शास्त्रो व प्रतिमाओ आदि पूज्य पापो का प्रत्यक्ष मे व परोक्ष मे मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा आदर-सत्कार व गुणानुवाद आदि करना उपचार विनय है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षाशील, रोगी, गण, कुल, सघ, साधु तथा लोक-सम्मत अन्य योग्यजनो की पीडा-वाधाओ को दूर करने के लिये सेवा मे प्रवृत्त

होना वैयावृत्य तप है। धर्म शास्त्रो की वाचना, पृच्छना, अनुचिन्तन, बार-बार अवृत्ति व धर्मोपदेश, यह सब स्वाध्याय तप है। गृह, धन-धान्यादि बाह्योपाधियो तथा क्रोधादि अन्तरगोपाधियो का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान—(आर्त व रौद्र)—

छठा अन्तिम अन्तरग तप ध्यान है, जिसके चार भेद माने गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। अनिष्ट के सयोग, इष्ट के वियोग, दुख की वेदना तथा भोगो की अभिलाषा से जो सक्लेश भाव होते हैं, तथा इस अनिष्ट परिस्थिति को बदलने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वन सब आर्त ध्यान है। झूठ बोलने, चोरी करने, धन-सम्पत्ति की रक्षा करने तथा जीवो के घात करने मे जो क्रूर परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह रौद्र ध्यान है। ये दोनो ध्यान व्यक्ति को स्वय दु ख देते हैं, समाज मे भी अशान्ति उत्पन्न करने के कारण होते हैं, एव इनसे अशुभकर्मो का बन्ध होता हैं, इसलिये ये ध्यान अशुभ और त्याज्य माने गये हैं, शेष दो ध्यान जीव के लिये कल्याणकारी होने से शुभ है।

धर्म ध्यान—

इन्द्रियो तथा राग-द्वेष भावो से मन का निरोध करके उसे धार्मिक चिन्तन मे लगाना धर्मध्यान है। इस चिन्तन का विषय चार प्रकार का हो सकता है—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और सस्थान-विचय। जब ध्याता शास्त्रोक्त तत्वो के स्वरूप, कर्मबन्ध आदि ज्ञान की व्यवस्था व चरित्र के नियम आदि के सूक्ष्म चिन्तन मे ध्यान लगाता है, तब आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है। आज्ञा का अर्थ हैं—शास्त्रादेश, और विचय का अर्थ है—खोज या गवेषण। इस प्रकार शास्त्रादेश का गवेषण, अर्थात् धर्म के सिद्धान्तो को तर्क, न्याय, प्रमाण, दृष्टान्त आदि की योजना द्वारा समझने का मानसिक प्रयत्न धर्म-ध्यान है। अपाय का अर्थ है विघ्न-बाधा, अतएव धर्म के मार्ग मे जो विघ्न-बाधाए उपस्थित हो, उन्हे दूरकर धर्म की प्रभावना बढाने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह अपाय-विचय धर्मध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार अपना फल देते हैं, तथा जीवन के नाना अनुभवन किस-किस कर्मोदय से प्राप्त हुए, इस प्रकार कर्मफल सम्बन्धी चिन्तन **विपाक-विचय** धर्मध्यान है, और लोक का स्वरूप कैसा है, उसके ऊर्ध्व अध· तिर्यक् लोको की रचना किस प्रकार की है, और उनमे जीवो की कैसी-क्या दशाए पाई जाती है, इत्यादि चिन्तन **सस्थान-विचय**

नामक धर्मध्यान हैं। इन चार प्रकार के धर्मध्यानो से ध्याता की दृष्टि शुद्ध होती है, श्रद्धान दृढ, बुद्धि निर्मल, तथा चारित्र-पालन विशुद्ध व स्थिर होता है। इसलिये धर्म-ध्यान का आत्म-कल्याण के लिये बडा माहात्म्य है।

शुक्ल ध्यान—

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क-अवीचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति। अनेक जीवादि द्रव्यो व उनकी पर्यायो का अपने मन-वचन-काय इन तीनो योगो द्वारा चिन्तन पृथक्त्व कहलाता है। वितर्क का अर्थ है श्रुत या शास्त्र, और वीचार का अर्थ है—विचरण या विपरिवर्तन। अत द्रव्य से पर्याय व पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्र-वचन से दूसरे शास्त्रवचन, तथा एक योग से दूसरे योग के आलम्बन से ध्यान की धारा चलना पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान कहलाता है। जब आलम्बनभूत द्रव्य व उसकी पर्याय का व योग का सक्रमण न होकर, एक ही द्रव्य पर्याय का किसी एक ही योग के द्वारा, ध्यान किया जाता है, तब एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान होता है। जब ध्यान मे न तो वितर्क अर्थात् श्रुत-वचन का आश्रय रहता, और न वीचार अर्थात् योग-सक्रमण होता, किन्तु केवल सूक्ष्म काययोग मात्र का अवलम्बन रहता है, तब सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है, तथा जब न वितर्क रहे, न वीचार न योग का अवलम्बन, तब व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान होता है यह ध्यान केवलज्ञान की चरम अवस्था मे ही होता है, और आत्मा द्वारा शरीर का परित्याग होने पर सिद्धो के आत्मज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शुक्लध्यान द्वारा ही योगी क्रमश आत्मा को उत्तरोत्तर कर्म-मल से रहित बनाकर अन्तत मोक्ष पद प्राप्त करता है।

२४ गुणस्थान व मोक्ष—

ऊपर मोक्ष-प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का प्ररूपण किया गया है। मिथ्यात्व से लेकर मोक्षप्राप्ति तक जिन आध्यात्मिक दशाओ मे से जीव निकलता है, वे **गुणस्थान** कहलाते है। सामान्यत इन दशाओ मे परिवर्तन करनेवाले वे कर्म हैं जिनकी नाना प्रकृतियो का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है। इन कर्मों की परिस्थितियो के अनुसार जीव के जो भाव होते है, वे चार प्रकार है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक। कर्मों के उदय

से उत्पन्न होनेवाले भाव औदयिक कहलाते है, जैसे राग, द्वेष, अज्ञान, असयम रति आदि भाव। कर्मो की उपशम अर्थात् उदयरहित अवस्था मे होनेवाले भाव औपशमिक कहे गये है, जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति, सदाचार, व्रत-नियम-पालन आदि। कर्मों के उपशम काल मे जीव की उसी प्रकार शुद्ध अवस्था हो जाती है, जैसे जल मे फिटकिरी आदि शोधक वस्तुओ के प्रभाव से उसका सब मैल नीचे बैठ जाता है और ऊपर का समस्त जल निर्मल हो जाता है। किन्तु आत्म-परिणामो की यह विशुद्धि चिरस्थायी नही होती, क्योकि जिसप्रकार उपशान्त हुआ मल पानी मे थोडी भी हलचल उत्पन्न होने से पुन ऊपर उठकर समस्त जल को मलिन कर देता है, उसी प्रकार उपशान्त हुए कर्म शीघ्र ही पुन कषायोदय द्वारा उभर उठते हैं, और जीव के परिणामो को पुन मलिन बना देते हैं। किन्तु यदि एकत्र हुए मल को छानकर जल से पृथक् कर दिया जाय, तो फिर वह जल स्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मो के क्षय से जो शुद्ध आत्म-परिणाम होते हैं, उन्हे जीव के क्षयिक भाव कहा जाता है, जैसे केवलज्ञान-दर्शन आदि। कर्मो के सर्वघाती स्पर्द्धको का उदय-क्षय व सत्तागत सर्वघाती स्पर्द्धको का उपशम, तथा देशघाती स्पर्द्धको का उदय होने से जीव के जो परिणाम होते है, वे **क्षायोपशमिकभाव** कहलाते हैं। ये परिणाम क्षायिक व औपशमिक भावो की अपेक्षा कुछ मलिनता लिये हुए रहते है, जिस प्रकार कि गदले पानी को छान लेने से उसका बहुत कुछ मल तो उससे पृथक् हो जाता है, शेष मे से कुछ भाग पात्र की तली मे बैठा जाता है, और कुछ उसी मे मिला रह जाता है, जिसके कारण उस जल मे अल्प मलिनता बनी रहती है। सामान्य मति-श्रुत ज्ञान, अणुव्रतपालन आदि क्षायोपशमिक भावो के उदाहरण है। इन चार भावो के अतिरिक्त जीव के जीवत्व, भव्यत्व, द्रव्यत्व आदि स्वाभाविक गुण **पारिणामिक** भाव कहलाते हैं।

इन जीवगत भावो का सामान्यत समस्त कर्मो से, किन्तु विशेषत- मोहनीय कर्म की प्रकृतियो से घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उसी की नाना अवस्थाओ के अनुसार जीव की, वे चौदह आध्यात्मिक भूमिकाए उत्पन्न होती हैं, जिन्हे गुणस्थान कहा गया है। मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के वे समस्त मिथ्याभाव उत्पन्न होते हे, जिनमे अधिकाश जीव अनादि काल से विद्यमान है। यह जीव का **मिथ्यात्व** नामक प्रथम गुणस्थान है। निमित्त पाकर जब जीव को औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती हैं, तब वह **चौथे सम्यक्त्व** नामक गुणस्थान मे पहुच जाता है। इनमे से क्षायिक सम्यक्त्व तो स्थायी होता है, और औपशमिक सम्यक्त्व अनिवार्यत अल्पकालीन।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दीर्घकालीन भी हो सकता है, अल्पकालीन भी। यद्यपि इनमें से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त होने पर एक नियत काल-मर्यादा के भीतर वह जीव निश्चयतः मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, तथापि उसके लिये उसे कभी न कभी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करना अनिवार्य है। जब तक उसे उसकी प्राप्ति नही होगी, तब तक वह परिणामों के अनुसार ऊपर-नीचे के गुणस्थानों में चढ़ता-उतरता रहेगा। यदि वह सम्यक्त्व से च्युत हुआ तो उसे तीसरा गुणस्थान भी प्राप्त हो सकता है, जो उसमें होनेवाले मिश्र भावों के कारण, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहलाता है, अथवा दूसरा गुणस्थान भी, जो सासादन कहलाता है, क्योंकि उसमें जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर भी पूर्णतः मिथ्यात्व भाव को प्राप्त नही हो पाता, और उसमें सम्यक्त्व का कुछ आस्वादन (अनुभवन) बना रहता है। यह यथार्थतः चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम स्थान में पहुंचने से पूर्व की मध्यवर्ती अवस्था है, जिसका काल स्वभावतः अत्यल्प होता है, और जीव उस भाव से निकल कर शीघ्र ही प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गिरता है।

सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान में आत्म-चेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योंकि कषायों की अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियों का उपशम, क्षय, या क्षयोपशम हो जाता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है, और इसीलिये यह गुणस्थान अविरत-सम्यक्त्व कहलाती है। जब उन प्रकृतियों का भी उपशमादि हो जाता है तो जीव के अणुव्रत धारण करने योग्य परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और वह देशविरत व संयतासंयत नामक पांचवां गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान की सीमा अणुव्रत तक ही है, क्योंकि यहां प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय बना रहता है। जब इन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब जीव के परिणाम और भी विशुद्ध होकर वह महाव्रत धारण कर लेता है। यह छठा व इसमें ऊपर के समस्त गुणस्थान सामान्यतः संयत कहलाते हैं। किन्तु उनमें भी विशुद्धि का तरतमभाव पाया जाता है, जिसके अनुसार छठा गुणस्थान प्रमत्तविरत कहलाता है, क्योंकि यहां संयमभाव पूर्ण होते हुए भी प्रमाद रूप मन्द कषायों का उदय रहता है, जिसके कारण उसकी परिणति स्त्रीकथा, चोरकथा, राजकथा आदि विकथाओं व इन्द्रियों आदि की ओर झुक जाती है, क्योंकि उसके संज्वलन कषाय का उदय रहता है। जब संज्वलन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब उसे अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यहां से लेकर आगे की समस्त अवस्थाएं ध्यान की हैं, क्योंकि ध्यानावस्था के सिवाय प्रमादों का अभाव सम्भव नही। इस ध्यानावस्था में जब संयमी यथाप्रवृत्तकरण अर्थात् विशुद्धि की पूर्वधारा को

चलाता हुआ और प्रतिक्षण शुद्धतर होता हुआ ऐसी असाधारण आध्यात्मिक विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है, जैसी पहले कभी नही हुई थी, तव वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान मे आ जाता है। इस गुणस्थान मे किंचित् काल रहने पर जव ध्याता के प्रतिसमय के एक-एक परिणाम अपनी विशेष विशुद्धि को लिये हुए भिन्न रूप होने लगते है, तव अनिवृत्तिकरण नामक नौवा गुणस्थान आरम्भ हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती समस्त साधको का उस समयवर्ती परिणाम एकसा ही होता है, अर्थात् प्रथम समयवर्ती समस्त ध्याताओ का परिणाम एकसा ही होगा, दूसरे समय का परिणाम प्रथम समय से भिन्न होगा, और वह भी सव का एकसा ही होगा। इसप्रकार इस गुणस्थान मे रहने के काल के जितने समय होंगे, उतने ही भिन्न परिणाम होंगे, और वे सभी साधको के उसी समय मे एकसे होंगे, अन्य समय मे नही। इस गुणस्थान सम्वन्धी विशेष विशुद्धि के द्वारा जव कर्मो का इतना उपशमन व क्षय हो जाता है कि लोभ कषाय के अतिसूक्ष्माश को छोडकर शेष समस्त कषाय क्षीण या उपशान्त होजाते हैं, तव जीव को सूक्ष्म साम्पराय नामक दशवा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है, यहा आत्मविशुद्धि का स्वरूप ऐसा वतलाया गया है कि जिस प्रकार केशर से रगे हुए वस्त्र को धो डालने पर भी उसमे केशरी रग का अतिसूक्ष्म आभास रह जाता है, उसी प्रकार इस गुण-स्थान वर्ती के लोभ सज्वलन कषाय का सद्भाव रह जाता है।

उपशम व क्षपक श्रेणियां—

सातवे गुणस्थान से आगे जीव उपशम व क्षपक, इन दो श्रेणियो द्वारा ऊपर के गुणस्थानों मे वढते है। यदि वे कर्मो का उपशम करते हुए दसवे गुणस्थान तक आये है, तब तो उस अवशिष्ट लोभ सज्वलन कषाय का भी उपशमन करके उपशात-मोह नामक ग्यारहवा गुणस्थान प्राप्त करेंगे, और उसमे किंचित काल रहकर नियमत. नीचे के गुणस्थानों मे गिरेंगे। इस प्रकार उपशमश्रेणी की यही चरमसीमा है। किन्तु जो जीव सातवे गुणस्थान से क्षायिकश्रेणी द्वारा अर्थात् कर्मो का क्षय करते हुए ऊपर वढते हैं, वे दसवें गुणस्थान के पश्चात् उसी शेष लोभ सज्वलन कषाय का क्षय करके, ग्यारहवे गुणस्थान मे न जाकर, सीधे क्षीणमोह नामक वार बाहरवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार ग्याहरवे व वारहवें दोनो गुणस्थानो मे मोहनीय कर्म के अभाव से उत्पन्न आत्मविशुद्धि की मात्रा एक सी ही होती हैं, और जीव पूर्णत वीतराग हो जाते हैं, किन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्मो के सद्भाव के कारण केवलज्ञान प्राप्त नही होता, इसीलिए छद्मस्थ वीतराग कहलाते है। इन दोनो गुणस्थानो मे भेद यह है कि ग्याहरवे गुणस्थान मे मोहनीय

कर्म उपशान्त अवस्था मे अभी भी शेष रहता है, जो अन्तर्मुहूर्त के भीतर पुन उभरकर जीव को नीचे के गुणस्थान मे ढकेल देता है, किन्तु बारहवे गुणस्थान मे मोहके सर्वथा क्षीण हो जाने के कारण इस पतन की कोई सम्भावना नही रहती। इसे अब केवल अपने ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों की शेष प्रकृतियो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करना रह जाता है। यह कार्य सम्पन्न होने पर जीव को सयोग केवली नामक तेरहवा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवों को वह केवलज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा उन्हे विश्व की समस्त वस्तुओ का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इन केवलियो के दो भेद है—एक सामान्य, और दूसरे वे जो तीर्थकर नामकर्म के उदय से धर्म की व्यवस्था करने वाले तीर्थंकर बनते है। इस गुणस्थान को सयोगी कहने की सार्थकता यह है कि इन जीवो के अभी भी शरीर का सम्बन्ध बना हुआ है, व नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का उदय विद्यमान है। जब केवली की आयु स्वल्प मात्र शेष रहती है, तब यदि उसके नाम, गोत्र और वेदनीय, इन तीन कर्मो की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो तो वह उसे समुद्घात-क्रिया द्वारा आयुप्रमाण कर लेता है। इस क्रिया मे पहले आत्म-प्रदेशो को दड रूप से लोकाग्र तक फैलाया जाता है, फिर दोनो पार्श्वों मे फैलाकर कपाटरूप चौडा कर लिया जाता है, तत्पश्चात् आगे पीछे की ओर शेष दो दिशाओ मे फैलाकर उसे प्रतर रूप किया जाता है, और अन्तत लोक के अवशिष्ट कोण रूप भागो मे फैलाकर समस्त लोक को भर दिया जाता है। ये क्रियाए एक-एक समय मे पूर्ण होती है, और वे क्रमश दड, कपाट, प्रतर लोकपूरण समुद्घात कहलाती है। अन्य चार समयो मे विपरीत क्रम से आत्म प्रदेशो को पुन समेट कर शरीर प्रमाण कर लिया जाता हैं। इस क्रिया से जिस प्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र निकल जाती है, उसी प्रकार आत्मप्रदेशो के फैलने से उनमे ससक्त कर्म-प्रदेशो का स्थिति व अनुभागाश क्षीण होकर आयुप्रमाण हो जाता है। इसके पश्चात् केवली काययोग से भी मुक्त होकर, अयोग केवली नामक चौदहवा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस अष्टकर्म-विमुक्त सर्वोत्कृष्ट सासारिक अवस्था का काल अतिस्वल्प कुछ समय मात्र ही है, जिसे पूर्णकर जीव अपनी शुद्ध, शाश्वत, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य से युक्त परम अवस्था को प्राप्त कर सिद्ध बन जाता है।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदित-निखिलज्ञेयतत्त्वप्रेपञ्चा

प्रोद्धूय ध्यानवातै· सकलमथ रज प्राप्तकैवल्यरूपा ।

कृत्वा सत्त्वोपकार त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धा. सन्तु लोकत्रयगिखरपुरीवासिन. सिद्धये व ॥

====

व्याख्यान – ४

जैन कला

व्याख्यान—४

जैन कला

जीवन और कला—

जैन तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है कि जीव का लक्षण उपयोग है, और वह उपयोग दो प्रकार का होता है—एक तो जीव को अपनी सत्ता का भान होता है कि मैं हूं, और दूसरे उसे यह भी प्रतीत होता है कि मेरे आसपास अन्य पदार्थ भी हैं। प्रकृति के ये अन्य पदार्थ उसे नाना प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। कितने ही पदार्थ, भोज्य बनकर उसके शरीर का पोषण करते हैं, तथा अन्य कितने हा पदार्थ, जैसे वृक्ष, पर्वत, गुफा आदि उसे प्रकृति की विपरीत शक्तियो-तूफान, वर्षा, ताप आदि से रक्षा करते व आश्रय देते हैं। अन्य जीव, जैसे पशु-पक्षी आदि, तो प्रकृति के पदार्थो का इतना ही उपयोग लेते हुए जीवन-यापन करते है, किन्तु मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण इनसे कुछ विशेपता रखता है। मनुष्य मे जिज्ञासा होती है। वह प्रकृति को विशेष रुप से समझना चाहता है। इसी ज्ञान-गुण के कारण उसने प्रकृति पर विशेष अधिकार प्राप्त किया है, तथा विज्ञान और दर्शन शास्त्रो का विकास किया है। मनुष्य का दूसरा गुण है-अच्छे और बुरे का विवेक। इसी गुण की प्रेरणा से उसने धर्म, नीति व सदाचार के नियम और आदर्श स्थापित किये है, और उन्ही आदर्शो के अनुसार ही जीवन को परिमार्जित और सुसस्कृत बनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण मानव-समाज उत्तरोत्तर सभ्य बनता गया है, और ससार मे नाना मानव सस्कृतियो का आविष्कार हुआ है। मनुष्य का तीसरा विशेष गुण है—सौन्दर्य की उपासना। अपने पोषण व रक्षण के लिये मनुष्य जिन पदार्थों का ग्रहण व रक्षण करता है, उन्हे वह उत्तरोत्तर सुन्दर बनाने का भी प्रयत्न करता है। वह अपने खाद्य पदार्थों को सजाकर खाने मे

अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करता है । आदि मे उसने शीत, धूप आदि से रक्षा के लिये जिन वल्कल, मृगछाला आदि शरीराच्छादनो को ग्रहण किया, उनमे क्रमश परिष्कार करते-करते नाना प्रकार के सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्रो का अविष्कार किया, और उन्हे नाना रीतियो से काटछाटकर व सीकर सुन्दर वेष-भूषा का निर्माण किया है । किन्तु जिन बातो मे मनुष्य की सौदर्योपासना चरम सीमा को पहुँची है, और मानवीय सभ्यता के विकास मे विशेष सहायक हुई है, वे हैं—गृहनिर्माण, मूर्तिनिर्माण, चित्रनिर्माण तथा सगीत और काव्य कृतिया । इन पाचो कलाओ का प्रारम्भ उनके जीवन के लिये उपयोग की दृष्टि से ही हुआ । मनुष्य ने प्राकृतिक गुफाओ आदि मे रहते-रहते क्रमश अपने आश्रय के लिये लकडी, मिट्टी, व पत्थर के घर बनाये, अपने पूर्वजो की स्मृति रखने के लिये प्रारम्भ मे निराकार और फिर साकार पाषाण आदि की स्थापना की, अपने अनुभवो की स्मृति के लिये रेखाचित्र खीचे, अपने बच्चो को सुलाने व उनका मन बहलाने के लिये गीत गाये व किस्से कहानी सुनाये । किन्तु इन प्रवृत्तियो मे उसने उत्तरोत्तर ऐसा परिष्कार किया कि कालान्तर मे उनके भौतिक उपयोग की अपेक्षा, उनका सौन्दर्यपक्ष अधिक प्रबल और प्रधान हो गया, और इस प्रकार उन उपयोगी कलाओ ने ललित कलाओ का रूप धारण कर लिया, और किसी भी देश व समाज की सभ्यता व सस्कृति केये ही अनिवार्य प्रतीक माने जाने लगे । भिन्न-भिन्न देशो, समाजो, व धर्मो के इतिहास को पूर्णता से समझने के लिये उनके आश्रय मे इन कलाओ के विकास का इतिहास जानना आवश्यक प्रतीत होता है ।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो जाता है कि कला की मौलिक प्रेरणा, मनुष्य की जिज्ञासा के समान, सौन्दर्य की इच्छारूप उसकी स्वाभाविक वृत्ति से ही मिलती है । इसलिये कहा जा सकता है कि कला का ध्येय कला ही है । तथापि उक्त प्राकृतिक सौन्दर्य-वृत्ति ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये जिन आलम्बनो को ग्रहण किया है, उनके प्रकाश मे यह भी कहा जा सकता है कि कला का ध्येय जीवन का उत्कर्ष है । यह बात सामान्यत भारतीय, और विशेष रूप से जैन कला-कृतियो के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है । यहा का कलाकार कभी प्रकृति के जैसे के तैसे प्रतिबिम्ब मात्र से सन्तुष्ट नही हुआ । उसका सदैव यह प्रयत्न रहा है कि उसकी कलाकृति के द्वारा मनुष्य की भावना का परिष्कार व उत्कर्षण हो । उसकी कृति मे कुछ न कुछ व कही न कही धर्म व नीति का उपदेश छुपा या प्रकट रहता ही है । यही कारण है कि यहाँ की प्राय समस्त कलाकृतिया धर्म के अचल मे पली और पुष्ट हुई है । यूनान के

कलाकार ने प्रकृति के यथार्थ प्रतिविम्वन में ही अपनी कला की सफलता मानी है, इस कारण उस कला को हम पूर्णत आधिभौतिक व धर्म निरपेक्ष कह सकते हैं। किन्तु भारतीय कलाकारों ने प्रकृति के इस यान्त्रिक (फोटो-ग्राफिक) चित्रण मात्र को अपने कला के आदर्श की दृष्टि से पर्याप्त नही समझा। उनके मन से उनकी कलाकृति द्वारा यदि दर्शक ने कुछ सीखा नही, समझा नही, कुछ धार्मिक, नैतिक व भावात्मक उपदेश पाया नही, तो उस कृति से लाभ ही क्या हुआ ? इसी जन-कल्याण की भावना के फलस्वरूप हमारी कलाकृतियों में नैसर्गिकता के अतिरिक्त कुछ और भी पाया जाता है, जिसे हम कलात्मक अतिशयोक्ति कह सकते हैं। स्थापत्य की कृतियों में हमारा कलाकार अपनी दिव्य विमान की कल्पना को सार्थक करना चाहता है। देवों की मूर्तियों में तो वह दिव्यता भरता ही है, मानवीय मूर्तियों व चित्रों में भी उसने आध्यात्मिक उत्कर्ष के आरोप का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी व वृक्षादि का चित्रण यथावत् होते हुए भी उसे ऐसी भूमिका देने का प्रयत्न किया है कि जिससे कुछ न कुछ श्रद्धा, भाव-शुद्धि व नैतिक परिष्कार-उत्पन्न हो। इस प्रकार जैन कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्षण रहा है, उसकी समस्त प्रेरणा धार्मिक रही है, और उसके द्वारा जैन तत्त्वज्ञान व आचार के आदर्शों को मूर्तिमान रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

जैन धर्म और कला—

बहुधा कहा जाता है कि जैन धर्म ने जीवन के विधान-पक्ष को पुष्ट न कर निषेधात्मक वृत्तियों पर ही विशेष भार दिया है। किन्तु यह दोषारोपण यथार्थत जैन धर्म की अपूर्ण जानकारी का परिणाम है। जैन धर्म में अपनी अनेकान्त दृष्टि के अनुसार जीवन के समस्त पक्षों पर यथोचित ध्यान दिया गया है। अच्छे और बुरे के विवेक से रहित मानव व्यवहार के परिष्कार के लिये कुछ आदर्श स्थापित करना और उनके अनुसार जीवन की कुत्सित वृत्तियों का निषेध करना सयम की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आवश्यक होता है। जैन धर्म ने आत्मा को परमात्मा बनाने का चरम आदर्श उपस्थित किया, उस ओर गतिशील होने के लिये अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णत उत्तरदायी बनाया और प्रेरित किया, तथा व्रत-नियम आदि धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक व आध्यात्मिक अहित करने वाली प्रवृत्तियों से उसे रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका विधान-पक्ष सर्वथा अपुष्ट रहा हो, सो वात नही। इस वात को स्पष्टत समझने के लिये जैनधर्म

ने मानव जीवन की जो धाराएं व्यवस्थित की है, उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। मुनिधर्म के द्वारा एक ऐसे वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा नि स्वार्थ, निस्पृह और निरीह होकर वीतराग भाव से अपने व दूसरो के कल्याण मे ही अपना समस्त समय व शक्ति लगावे। साथ ही गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओ द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य और शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्ब की, तथा समाज व देश की सेवा करता हुआ उन्हे उन्नत बना सके। दया दान व परोपकार के श्रावकधर्म मे यथोचित स्थान का निरुपण जैन-चारित्र के प्रकरण मे किया जा चुका है। जैन परम्परा मे कला की उपासना को जो स्थान दिया गया है, उससे उसका यह विधान पक्ष और भी स्पष्ट हो जाता है।

कला के भेद-प्रभेद—

प्राचीनतम जैन आगम मे बालको को उनके शिक्षण-काल मे शिल्पो और कलाओ की शिक्षा पर जोर दिया गया है, और इन्हे सिखाने वाले कलाचार्यो व शिल्पाचार्यो का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। गृहस्थो के लिये जो षट्कर्म बतलाये गये है उनमे मसि, कृषि, विद्या व वाणिज्य के अतिरिक्त शिल्प का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जैन साहित्य मे स्थान-स्थान पर बहत्तर कलाओ का उल्लेख पाया जाता है। समवायाग सूत्र के अनुसार ७२ कलाओ के नाम ये है— १ लेख, २ गणित, ३ रुप, ४ नृत्य, ५ गीत, ६ वाद्य, ७ स्वरगत, ८ पुष्करगत, ९ समताल, १० द्यूत, ११ जनवाद, १२ पोक्खच्च, १३ अष्टापद, १४ दगमट्टिय (उदकमृत्तिका), १५ अन्नविधि, १६ पानविधि, १७ वस्त्रविधि, १८ शयनविधि, १९ अज्ज (आर्या), २० प्रहेलिका, २१ मागधिका, २२ गाथा, २३ श्लोक, २४ गधयुक्ति, २५ मधुसिक्थ, २६ आभरण विधि, २७ तरुणीप्रतिकर्म, २८ स्त्रीलक्षण, २९ पुरुषलक्षण, ३० हयलक्षण, ३१ गजलक्षण, ३२ गोण (वृषभ लक्षण), ३३ कुक्कुटलक्षण, ३४ मेढालक्षण, ३५ चक्रलक्षण, ३६ छत्रलक्षण, ३७ दडलक्षण, ३८ असिलक्षण, ३९ मणिलक्षण, ४० काकनिलक्षण, ४१ चर्मलक्षण, ४२ चद्रलक्षण, ४३ सूर्यचरित, ४४ राहुचरित, ४५ ग्रहचरित, ४६ सौभाग्यकर, ४७ दुर्भाग्यकर, ४८ विद्यागत, ४९ मन्त्रगत, ५० रहस्यगत, ५१ समास, ५२ चार, ५३ प्रतिचार, ५४ व्यूह, ५५ प्रतिव्यूह, ५६ स्कधावारमान, ५७ नगरमान, ५८ वास्तुमान, ५९ स्कधावारनिवेश, ६० वास्तुनिवेश, ६१ नगरनिवेश, ६२ ईसत्थ (इष्वस्त्र), ६३ छरुप्पवाय (त्सरुप्रवाद), ६४ अश्व-

धातुपाक, ६८ वाहुयुद्ध, दडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुंद्ध, जुद्धाइजुद्ध, ६६ सूत्रक्रीडा, नालिकाक्रीडा, वृतक्रीडा, धर्मक्रीडा, चर्मक्रीडा, ७० पत्रछेद्य, कटकछेद्य, ७१ सजीव निर्जीव, ७२ शकुनरुत।

१ लेख का अर्थ है अक्षर-विन्यास। इस कला मे दो बातों का विचार किया गया है—लिपि और लेख का विषय। लिपि देशभेदानुसार १८ प्रकार की वतलाई गई है। उनके नाम ये है —१ ब्राह्मी, २ जवणालिया, ३ दोसाऊरिया, ४ खरोष्ठिका, ५ खरसाविया, ६ पहाराइया, ७ उच्चत्तरिया, ८ अक्खरमुट्ठिया, ६ भोगवइया, १० वेणतिया, ११ निन्हइया; ११ अकलिपि, १२ गणितलिपि, १३ गन्धर्वलिपि १४ भूतलिपि, १५ आदर्शलिपि, १६ माहेश्वरीलिपि, १७ दामिलिलिपि और (१८) वोलिदि (पोलिदिआन्ध्र) लिपि। इन लिपि-नामो मे से ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो लिपियो के लेख प्रचुरता से मिले हैं। खरोष्ठि का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती के मौर्य सम्राट अशोक के लेखो से लेकर दूसरी-तीसरी शती ई० तक के पजाव व पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर चीनी तुर्किस्तान तक मिले हैं। ब्राह्मी लिपि की परम्परा देश मे आज तक प्रचलित है, व भारत की प्राय समस्त प्रचलित लिपिया उसी से विकसित हुई है। इसका सबसे प्राचीन लेख समवत वारली (अजमेर) से प्राप्त वह छोटा सा लेख है जिसमे वीर (महावीर) ८४, सम्भवतः निर्वाण से ८४ वा वर्ष, तथा मध्यमिक स्थान का उल्लेख है। अशोक के शिलालेखो मे इसका प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है, और तव से आज तक भिन्न-भिन्न काल व भिन्न-भिन्न प्रदेश के लेखो मे इसका अनुक्रम से प्रयोग व विकास मिलता है। ब्राह्मी लिपी के विषय मे जैन आगमों व पुराणों मे वतलाया गया है कि आविष्कार आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने किया और उसे अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाया। इसी से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पडा। समवायाग सूत्र मे ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरो (स्वरों व व्यजनो) का उल्लेख है। पाचवें जैनागम भगवती वियाहपण्णत्ति सूत्र के आदि मे अरहतादि पचपरमेष्ठी नमस्कार के साथ 'नमो बमीए लिवीए। नमो सुयस्स' इस प्रकार ब्राह्मी लिपी व श्रुत को नमस्कार किया गया है। अन्य उल्लिखित लिपियो के सबध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही। सम्भव है जवणालिया से यवनानी या यूनानी लिपि का तात्पर्य हो। अक्षरमुष्ठिका कथन को वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे ६४ कलाओं के भीतर गिनाया हैं, और उनके टीकाकार यशोधर ने अक्षरमुष्टिका के साभासा व निराभासा इन दो भेदो का उल्लेख कर कहा है कि का साभासा प्रकरण आचार्य रविगुप्त ने 'चन्द्रप्रभाविजय' काव्य मे पृथक् कहा है। उनके उदाहरणो से प्रतीत

होता है कि अक्षर मात्र से पूरे शब्द का सकेत करना मामासा तथा अगुली-आदि के सकेतो द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति को निरामामा अक्षरमुष्टिका कहते थे। इनका समावेश सम्भवत• प्रस्तुत ७२ कलाओं मे ५० और ५१ वी रहस्य-गत व समास नामक कलाओ मे होता हैं। अकलिपि से १,२ आदि सख्यावाचक चिन्हो का गणितलिपि से जोड (+), बाकी (—), गुणा (×), भाग (÷) आदि चिन्हो का, तथा गन्धर्वलिपि से सगीत शास्त्र के स्वरो के चिन्हो का तात्पर्य प्रतीत होता है। आदर्शलिपि अनुमानत उल्टे अक्षरो के लिखने से बनती है, जो दर्पण आदर्श) मे प्रतिबिम्बित होने पर सीधी पढी जा सकती हैं। आश्चर्य नही जो भूतलिपि से भोट (तिब्बत) देश की, माहेश्वरी से महे-श्वर (ओंकारमाधाता-मध्यप्रदेश) की, तथा दामिलिलिपि से द्रविड (दमिल-तामिल) देश की विशेष लिपियो से तात्पर्य हो। इसी प्रकार भोगवइया से अभि प्राय नागो की प्राचीन राजधानी भोगवती मे प्रचलित किसी लिपि-विशेष से हो तो आश्चर्य नही।

१८ लिपियो की एक अन्य सूची विशेष आवश्यक सूत्र (गा० ४६४) की टीका मे इस प्रकार दी है —१ हसलिपि, २ भूतलिपि, ३ यक्षलिपि, ४ राक्षस-लिपि, ५ ओड (उडिया) लिपि, ६ यवनी, ७ तुरुष्की, ८ कीरी, ९ द्राविडी १० सैंधवी, ११ मालविनी, १२ नडी, १३ नागरी १४ लाटी, १५ पारसी, १६ अनि-मित्ती, १७ चाणक्यी, १८ मूलदेवी। यह नामावली समवायाग की लिपिसूची से बहुत भिन्न है। इनमे समान तो केवल तीन हैं—भूतलिपि, यवनी और द्राविडी। शेष नामो मे अधिकाश स्पष्टत भिन्न-भिन्न जाति व देशवाची है। प्रथम चार हस, भूत, यक्ष, और राक्षस, उन-उन अनार्य जातियो की लिपिया व भाषाए प्रतीत होती है। उडिया से लेकर पारसी तक की ११ भाषाए स्प-ष्टत देशवाची हैं। शेष तीन मे से चाणक्यी और मूलदेवी की परम्परा बहुत कालतक चलती आई है, और उनका स्वरूप कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने कौटिलीय या दुर्बोध, तथा मूलदेवीय इन नामों से बतलाया है। यशोधर ने एक तीसरी भी गूढलेख्य नामक लिपि का व्याख्यान किया है, जिसका स्वरूप स्पष्ट समझ मे नही आता। सम्भवत• वह कोई अकलिपि थी। आश्चर्य नही जो आनिमित्ती से उसी लिपि का तात्पर्य हो। यशोधर के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त मे क्ष अक्षर जोडने तथा ह्रस्व और दीर्घ व अनुस्वार और विसर्ग की अदला-बदली कर देने से कौटीलीय लिपि बन जाती है, एव अ और क, ख और ग, घ और ङ, चवर्ग और टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा य और श, इनका परस्पर व्यत्यय कर देने से मलदेवी बन जाती है। मूलदेव प्राचीन जैन कथाओ के बहुत

प्रसिद्ध चतुर व धूर्त नायक पाये जाते है। (देखो मूलदेव कथा उ० सू० टीका)।

लेख के आधार पत्र, वल्कल काष्ठ, दत, लोह, ताम्र, रजत आदि वतलाये गये है, और उन पर लिखने की क्रिया उत्कीर्णन (अक्षर खोदकर) स्यूत (सीकर), व्यूत (वुनकर), छिन्न (छेदकर), भिन्न (भेदकर), दग्ध (जलाकर), और सक्रान्तित (ठप्पा लेकर) इन पद्धतियो मे की जाती थी। लिपि के अनेक दोष भी वतलाये गये हैं। जैसे अतिकृश, अतिस्थल, विषम, टेढी पक्ति और भिन्न वर्णो को एक जसा लिखना (जैसे घ और ध, भ और म, म और य आदि), व पदच्छेद न करना, आदि। विषय के अनुसार भी लेखो का विभाजन किया गया था। तथा स्वामि-भृत्य, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, शत्रु-मित्र, इत्यादि को पत्र लिखने की भिन्न-भिन्न शैलिया स्थिर की गई थी।

जैन समाज मे लेखन प्रणाली का प्रयोग वहुत प्राचीन पाया जाता है। तथापि डेढ-दो हजार वर्ष से पूर्व के लिखित ग्रन्थो के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त न होने का एक वडा कारण यह हुआ कि विद्याप्रचार का कार्य प्राचीनकाल मे मुनियो द्वारा विशेष रूप से होता था, और जैन मुनि सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण अपने साथ ग्रन्थ न रखकर स्मृति के सहारे ही चलते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उपदेशो को उनके साक्षात गणधरो ने तत्काल ग्रन्थ-रचना का रूप दे दिया था। किन्तु मौर्यकाल मे उनके एक अश का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था, और पाटलिपुत्र की वाचना मे वारहवें अग दृष्टिवाद का सकलन नही किया जा सका, क्योकि उसके एकमात्र ज्ञाता भद्रवाहु उस मुनिसघ मे सम्मिलित नही हो सके। वीरनिर्वाण की दसवी शती मे आकर पुन आगमो की अस्त-व्यस्त अवस्था हो गई थी। अतएव मथुरा मे स्कदिल आचार्य और उसके कुछ पश्चात् वलभी मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे आगमो की वाचनाए की गई। पाटलिपुत्रीय व माथुरीय वाचनाओ के ग्रन्थ तो अव नही मिलते, किन्तु वलभी वाचना द्वारा सकलित आगमो की प्रतिया तव से निरन्तर ताडपत्र और तत्पश्चात् कागजो पर उत्तरोत्तर सुन्दर कलापूर्ण रीति से लिखित मिलती है, और वे जैन लिपिकला के इतिहास के लिये वडी महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त तीनो वाचनाओ का नाम ही यह सूचित करता हैं कि उनमे ग्रन्थ वाचे या पढ़े गये थे। इससे लिखित ग्रन्थो की परम्परा की प्राचीनता सिध्द होती हैं। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रीय टीका मे पाच प्रकार की पुस्तको का वर्णन मिलता है-गडी, कच्छपी, मुष्टि, सपुष्ट-फलक और छेदपाटी लवाई-चौडाई मे समान अर्थात् चौकोर पुस्तक को गडी, जो पुस्तक वीच मे चौडी व दोनो वाजुओ मे सकरी हो वह कच्छपी, जो केवल चार अगुल की

गोलाकार व चौकोर होने से मुट्ठी में रखी जा सके वह मुष्टि, लकडी के पट्टे पर लिखी हुई पुस्तक सपुट-फलक, तथा छोटे-छोटे पन्नो वाली मोटी या लम्बे किन्तु सकरे ताडपत्र जैसे पन्नोवाली पुस्तक छेदपाटी कही गई है।

(२) गणित शास्त्र का विकास जैन परम्परा मे करणानुयोग के अन्त-र्गत खूब हुआ है। जहाँ इन ७२ कलाओं का सक्षेप से उल्लेख है, वहा प्राय उन्हे लेखादिक व गणित-प्रधान कहकर सूचित किया गया है। इससे गणित की महत्ता सिद्ध होती है। (३) रूपगत से तात्पर्य मूर्तिकला व चित्रकला से हैं, जिनका निरूपण आगे किया जायगा। (४-९) नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत, और समताल का विषय सगीत हैं। इन कलाओ के सबध मे जैन शास्त्रो व पुराणो मे बहुत कुछ वर्णन किया गया है। और उन्हे बालक-बालि-काओ की शिक्षा का आवश्यक अग बतलाया गया है। कथा-कहानियो मे प्राय वीणावाद्य मे प्रवीणता के आधार पर ही युवक-युवतियो के विवाह-सबध के उल्लेख मिलते हैं। (१०-१३) द्यूत, जनवाद, पोक्खच्च व अष्टापद ये द्यूतक्रीडा के प्रकार है। (१४) दगमट्टिया,-उदकमृत्ति का पानी से मिट्टी को सानकर घर, मूर्ति आदि के आकार क्रीडा, सजावव व निर्माण हेतु बनाने की कला है। (१५-१६) अन्नविधि व पानविधि भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय पदार्थ बनाने की कलाए हैं। (१७) वस्त्रविधि नाना प्रकार के वस्त्र बुनने व सीने की एव (१८) शयनविधि अनेक प्रकार के खाट-पलग बुनने व शैया की साज-सजावट करने की कला है (१९-२३) आर्या, प्रहेलिका, मागधिका व गाथा और श्लोक इन्ही नामो के छदों व काव्य-रीतियो मे रचना करने की कलाए है। (२४) गधयुक्ति नाना प्रकार के सुगधी द्रव्यों के रासायनिक सयोगो से नये-नये सुगधी द्रव्य निर्माण करने की कला है। (२५) मधुसित्थ अलक्तक, लाक्षारस या माहुर (महावर) को कहते है। इस द्रव्य से पैर रगने की कला का नाम ही मधुसित्थ है। (२६-२७) आभरणविधि व तरुणी प्रतिकर्म भूषण व अलकार धारण करने व स्त्रियो की साज-सज्जा की कलाए है।

त्रि० प्र० (४, ३६१-६४) मे पुरुष के १६ व स्त्री के १४ आभरणो की विकल्प रूप मे दो सूचिया पाई जाती हैं, जो इस प्रकार है -

प्रथम सूची :

१ कुडल, २ अगद, ३ हार, ४ मुकुट, ५ केयूर, ६ भालपट्ट, ७ कटक, ८ प्रालम्ब, ९ सूत्र, १० नुपुर, ११ मुद्रिका-युगल, १२ मेखला, १३ ग्रैवेयक

(कंठा), १४ कर्णपूर, १५ गड्डुग और १६ डूनी ।

दूसरी वैकल्पिक सूची में १३ आभरणों के नाम समान हैं किन्तु केयूर, भालपट्ट, कर्णपूर, ये तीन नाम नहीं हैं। तथा किरीट, अर्धहार व चूड़ामणि, ये तीन नाम नये हैं सम्भव है केयूर और अंगद ये आभरण एक ही या एक समान ही रहे हों, और इसी प्रकार भालपट्ट व चूड़ामणि भी। अर्धहार का समावेश हार में ही किया जा सकता है। किरीट एक प्रकार का मुकुट ही है। इस प्रकार दूसरी सूची में कोई नया आभरण-विशेष नहीं रहता किन्तु प्रथम सूची के कर्णपूर नामक आभरण का समावेश नहीं पाया जाता। उक्त १६ अलंकारों में गड्डुग और डूनी को छोड़कर शेष १४ स्त्रियों के आभूषण माने गये हैं। भूषण, आभरण व अलंकारों की एक विशाल सूची हमें अंगविज्जा (पृ० ३५५-५७) में मिलती है, जिसमें ३५० नाम पाये जाते हैं। यह सूची केवल आभरणों की ही नहीं है, किन्तु उसमें एक तो धातुओं की अपेक्षा भी अलग-अलग नाम गिनाये गये हैं जैसे सुवर्णमय, रूप्यमय, ताम्रमय आदि, अथवा शंखमय, दंतमय, बाल-मय, काष्ठमय, पुष्पमय, पत्रमय आदि। दूसरे उसमें भिन्न-भिन्न अंगों की अपेक्षा आभरण-नामों की पुनरावृत्ति हुई है, जैसे शिराभरण, कर्णाभरण, अंगुल्याभरण, कटिआभरण, आदि। और तीसरे उसमें अंजन, चूर्ण, अलक्तक, गंधवर्ण आदि तथा नाना प्रकार के सुगन्धी चूर्ण व तेल, परिधान, उत्तरासंग आदि वस्त्रों व छत्र पताकादि शोभा-सामग्री का भी संग्रह किया गया है। तथापि शुद्ध अलंकारों की संख्या कोई १०० से अधिक ही पाई जाती है। इस ग्रन्थ में नाना प्रकार के पात्रों, भोज्य व पेय पदार्थों, वस्त्रों व आच्छादनों एवं शयनासनों की सुविस्तृत सूचियाँ अलग-अलग भी पाई जाती हैं, जिनसे उपर्युक्त नाना कलाओं और विशेषतः अन्नविधि (१५), पानविधि (१६), वस्त्रविधि (१७), शयनविधि (१८), गंधयुक्ति (२४), मधुसिक्थ (२५), आभरणविधि (२६), तरुणीप्रतिकर्म (२७), पत्रछेद्य तथा कटकछेद्य (७०), इन कलाओं के स्वरूप व उपयोग पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

स्त्री-लक्षण से चर्म-लक्षण (२८-४१) तक की कलाएं उन-उन स्त्री, मनुष्यों, पशुओं व वस्तुओं के लक्षणों को जानने व गुण-दोष पहचानने की कलाएं हैं। स्त्री पुरुषों के लक्षण सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी नाना ग्रन्थों तथा हाथी, घोड़ों व बैलों के लक्षण भिन्न-भिन्न तत्तद्विषयक जीवशास्त्रों में विस्तार से वर्णित पाये जाते हैं। चन्द्रलक्षण से ग्रहचरित (४२-४५) कलाएं ज्योतिषशास्त्र विषयक हैं और उनमें उन-उन ज्योतिष मण्डलों के की साधना की जाती थी। सौभाग्यकर से मंत्रगत (४६-४९) तक की .

मत्र-तन्त्र विद्याओं से सम्बन्ध रखती है, जिनके द्वारा अपना व अपने इष्टजनो का इष्टसाधन व शत्रु का अनिष्ट साधन किया जा सकता है। रहस्यगत और समास (५०-५१) के विषय मे ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे समवत वात्स्यायनोक्त अक्षरमुष्टिका के प्रकार है। चार प्रतिचार, व्यूह व प्रतिव्यूह (५२-५५) ये युद्ध सम्बन्धी विद्याए प्रतीत होती है, जिनके द्वारा क्रमश सेना के आगे बढाने, शत्रुसेना की चाल को विफल करने के लिये सेना का सचार करने, चक्रव्यूह आदि रूप से सेना का विन्यास करने व शत्रु की व्यूह-रचना को तोडने योग्य सेना विन्यास किया जाता था। स्कधावार-मान से नगरनिवेश (५६-६१) तक की कलाओ का विषय शिविर आदि को बसाने व उसके योग्य भूमि, गृह आदि का मान-प्रमाण निश्चित करना है। ईसत्थ (इषु-अस्त्र) अर्थात् बाणविद्या (६२) और छरुप्पवाय (त्सरुप्रवाद) (६३) छुरी, कटार, खड्ग आदि चलाने की विद्याए है। अश्वशिक्षा आदि से यष्टि-युद्ध (६४-६८) तक की कलाए उनके नाम से ही स्पष्ट है। युद्ध नियुद्ध एव जुद्धाइजुद्ध (६८) ये भी नाना प्रकार से युध्द करने की कलाए हैं। सूत्रक्रीडा डोरी को अगुलियो द्वारा नाना प्रकार से रचकर चमत्कार दिखाना व धागे के द्वारा पुतलियो को नचाने की कला है। नालिका क्रीडा एक प्रकार की द्यूतक्रीडा है। वृत्तक्रीडा, धर्मक्रीडा व चर्मक्रीडा, ये क्रमश मडल बाधकर, वायु फूककर जिससे श्वास न टूटे व चर्म के आश्रय से क्रीडा (खेलने) के प्रकार है (६९) पत्रछेद्य व कटक छेद्य (७०) क्रमश पत्तो व तृणो को नाना प्रकार से काट-छाँटकर सुन्दर आकार की वस्तुए बनाने की कला हैं। सजीव-निर्जीव (७१) वही कला प्रतीत होती है जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने यत्रमात्रिका नाम से किया है, व जिसके सम्बन्ध मे टीकाकार यशोधर ने कहा हैं कि वह गमनागमन व सग्राम के लिये सजीव व निर्जीव यत्रो की रचना की कला हैं जिसका स्वय विश्वकर्मा ने स्वरूप बतलाया हैं। शकुनिरुत (७२) पक्षियो की बोली को पहचानने की कला है।

बहत्तर कलाओ की एक सूची औपपात्तिक सूत्र (१०७) मे भी पाई जाती है। वह समवायान्तर्गत सूची से मिलती हैं, केवल कुछ नामो मे हेर-फेर पाया जाता है। उसमे उपर्युक्त नामावली मे से मधुसिक्थ (२५) मेढालक्षण, दड-लक्षण, चन्द्रलक्षण से लगाकर समास पर्यन्त (४२-५१) दडयुद्ध, यष्टियुद्ध, और धर्मक्रीडा ये नाम नही है, तथा पाशक (पाँसा से जुआ खेलना), गीतिका (गेय छद रचना), हिरण्ययुक्ति सुवर्णयुक्ति, चूर्णयुक्ति (चाँदी, सोना व मोतियो आदि रत्नो से मिला-जुलाकर भिन्न-भिन्न आभूषण बनाना), गरुडव्यूह, शकटव्यूह, लता-युद्ध एव मुक्ताक्रीडा, ये नाम नवीन है। औपपात्तिक सूत्र मे गिनाई गई कलाए

यद्यपि ७२ कही गई हैं, तथापि पृथक् रूप मे गिनने से उनकी कुल सख्या ८० होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न जैन पुराणो व काव्यो मे जहा भी शिक्षण का प्रसग आया हैं, वहाँ प्राय कलाए भी गिनाई गई हैं जिनके नामो व सख्या मे भेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, दसवीं शताब्दी मे पुष्पदत कृत अपभ्रंश काव्य नागकुमार-चरित (३, १) मे कथानायक की एक नाग द्वारा शिक्षा के प्रसग मे कहा गया है कि उसने उन्हे सिद्धो को नमस्कार कहकर निम्न कलाए सिखाई —(१) अठारह लिपिया, (२) कालाक्षर, (३) गणित, (४) गांधर्व, (५) व्याकरण, (६) छद, (७) अलकार, (८) निघट, (९) ज्योतिष (ग्रह गमन-प्रवृत्तियाँ), (१०) काव्य, (११) नाटकशास्त्र, (१२) प्रहरण, (१३) पटह, (१४) शख, (१५) तन्त्री, (१६) ताल आदि वाद्य, (१७) पत्रछेद्य, (१८) पुष्पछेद्य, (१९) फल छेद्य, (२०) अश्वारोहण, (२१) गजा-रोहण, (२२) चन्द्रबल, (२३) स्वर्गोदय, (२४) सप्तभौमप्रासाद-प्रमाण, (२५) तत्र, (२६) मत्र, (२७) वशीकरण, (२८) व्यूह-विरचन, (२९) प्रहारहरण, (३०) नानाशिल्प, (३१) चित्रलेखन, (३२) चित्राभास, (३३) इन्द्रजाल, (३४) स्तम्भन, (३५) मोहन, (३६) विद्या-साधन, (३७) जनसक्षोभन, (३८) नर-नारीलक्षण, (३९) भूषण-विधि, (४०) कामविधि, (४१) सेवा विधि, (४२) गधयुक्ति, (४३) मणियुक्ति, (४४) औषध-युक्ति और (४५) नरेश्वर-वृत्ति (राजनीति)।

उपर्युक्त समवायाग की कला-सूची मे कही-कही एक सख्या के भीतर अनेक कलाओ के नाम पाये जाते हैं, जिनको यदि पृथक् रूप मे गिना जाय तो कुल कलाओ की सख्या ८६ हो जाती है। महायान बौद्ध परम्परा के ललितविस्तर नामक ग्रन्थ मे गिनाई गई कलाओं की सख्या भी ८६ पाई जाती है, यद्यपि वहा अनेक कलाओं के नाम प्रस्तुत सूची से भिन्न हे, जैसे अक्षुण्ण-वेधित्व, मर्मवेधित्व, शब्दवेधित्व, वैशिक आदि।

कलाओ की अन्य सूची वात्स्यायन कृत कामसूत्र मे मिलती है। यही कुछ हेर-फेर के साथ भागवत पुराण की टीकाओं मे भी पाई जाती है। इसमे कलाओ की सख्या ६४ है, और उनमे प्रस्तुत कलासूची से अनेक भिन्नताए पाई जाती है। ऐसी कुछ कलाए है—विशेषक छेद्य (ललाट पर चन्दन आदि लगाने की कला), तडुल कुसुम बलिविकार (पूजानिमित्त तडुलो व फूलो की नाना प्रकार से सुन्दर रचना), चित्रयोग (नाना प्रकार के आश्चर्य), हस्तलाघव (हाथ की सफाई), तक्ष कर्म (काटछाटकर यथेष्ट वस्तु बनाना), उत्सादन, सवाहन, केशमर्दन, पुष्पशकटिका आदि। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने

स्वतत्र सूची दी है, और उन्हे शास्त्रान्तरो से प्राप्त ६४ मूल कलाए कहा है, और यह भी कहा है कि इन्ही ६४ मूल कलाओं के भेदोपभेद ५१८ होते हैं। उन्होने उक्त मूलकलाओ का वर्गीकरण भी किया है, जिसके अनुसार गीत आदि २४ कर्माश्रय, आयुप्राप्ति आदि १५ निर्जीव, द्यूताश्रय, उपस्थान विधि आदि ५ सजीव आश्रय, पुरुष भावग्रहण आदि १६ शयनोपचारिक, तथा साश्रुपात, पातशापन आदि चार उत्तर कलाए कही गयी है। इनके अतिरिक्त अनेक पुराणो व काव्य ग्रन्थो मे भी कलाओ के नाम मिलते है, जो सख्या व नामो मे भी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, जैसे कादम्बरी मे ४८ कलाए गिनाई गई हैं, जिनमे प्रमाण, धर्मशास्त्र, पुस्तक-व्यापार, आयुर्वेद, सुरुगोपभेद आदि विशेष है।

वास्तु कला

जैन निर्मितियो का आदर्श—

उपर्युक्त कलासूची मे वास्तुकला का भी नाम तथा स्कन्धावार, नगर और वास्तु इनके मान व निवेश का पृथक्-पृथक् निर्देश भी पाया जाता है। वास्तु-निवेश व मानोन्मान सम्बन्धी अपनी परम्पराओ मे जैनकला जैनधर्म की त्रैलोक्य सम्बन्धी मान्यताओ से प्रभावित हुई पाई जाती है। अतएव यहा उसका सामान्यरूप से स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। जैन साहित्य के करणानुयोग प्रकरण मे बतलाया जा चुका है कि अनन्त आकाश के मध्य मे स्थित लोकाकाश ऊँचाई मे चौदह राजू प्रमाण है, और उसका सात राजू प्रमाण ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहा जाता है, जिसमे १६ स्वर्ग आदि स्थित हैं। सात राजू प्रमाण नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है, और उसमे सात नरक स्थित हैं। इनके मध्य मे झल्लरी के आकार का मध्यलोक है, जिसमे गोलाकार व वलयाकार जबू द्वीप, लवणसमुद्र आदि उत्तरोत्तर दुगुने प्रमाण वाले असख्य द्वीप-समुद्र स्थित है। इनका विस्तार से वर्णन हमे यतिवृषभ कृत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे मिलता है। इनमे वास्तु-मान व विन्यास सम्बन्धी जो प्रकरण उपयोगी है उनका सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

तिलोय पण्णत्ति के तृतीय अधिकार की गाथा २२ से ६२ तक असुरकुमार अदि भवनवासी देवो के भवनो, वेदिकाओ, कूटो, जिन मन्दिरो व प्रासादो का वर्णन है। भवनो का आकार समचतुष्कोण होता है। प्रत्येक भवन की चारों दिशाओ मे चार वेदिया होती है, जिनके बाह्य भाग मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, इन वृक्षो के उपवन रहते है। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष स्थित है, जिनकी चारो दिशाओ मे तोरण, आठ महामगल द्रव्य और मानस्तम्भ

सहित जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं। वेदियों के मध्य मे वेत्रासन के आकार वाले महाकूट होते है, और प्रत्येक कूट के ऊपर भी एक-एक जिनमन्दिर स्थित होता हैं। प्रत्येक जिनालय क्रमशः तीन कोटो से घिरा हुआ होता है, और प्रत्येक कोट के चार-चार गोपुर होते हैं। इन कोटों के बीच की वीथियों में एक-एक मानस्तम्भ, व नौ-नौ स्तूप, तथा वन एवं ध्वजाएं और चैत्य स्थित हैं जिनालयों के चारों ओर के उपवनो में तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएं हैं। ध्वजाएं दो प्रकार की हैं, महाध्वजा और क्षुद्रध्वजा। महाध्वजाओ मे सिंह गज, वृषभ, गरुड, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म व चक्र के चिन्ह अंकित हैं। जिनालयो मे वन्दन, अभिषेक, नृत्य, संगीत और आलोक, इनके लिये अलग-अलग मंडप हैं, व क्रीडागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) तथा पट्टशालाएं (चित्र-शाला) भी हैं। मन्दिरों मे जिनेन्द्र की मूर्तियों के अतिरिक्त देवच्छंद के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी, तथा यक्षों की मूर्तियां एवं अष्टमंगल द्रव्य भी स्थापित होते हैं। ये आठ मंगल द्रव्य हैं—झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ। जिनप्रतिमाओं के आसपास नागो व यक्षों के युगल अपने हाथों में चमर लिये हुए स्थित रहते हैं। असुरो के भवन सात, आठ, नौ, दस आदि भूमियो (मंजिलो) से युक्त होते हैं, जिनमे जन्म, अभिषेक, शयन, परिचर्या और मन्त्रणा, इनके लिये अलग-अलग शालाएं होती है। उनमे सामान्य गृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह व लतागृह आदि विशेष गृह होते हैं, तथा तोरण, प्राकार, पुष्करणी, वापी और कूप, मत्तवारण (ओटे) और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओं व नाना प्रकार की पुतलियों से सुसज्जित होते है।

मेरु की रचना—

जिनेन्द्र मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय उनका पंच-कल्याण महोत्सव मनाया जाता है, जिनका सम्बन्ध तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण, इन पांच महत्वपूर्ण घटनाओ से है। जन्म महोत्सव के लिये मन्दर मेरु की रचना की जाती है, क्योंकि तीर्थंकर का जन्म होने पर उसी महान् पर्वत पर स्थित पांडुक शिलापर इन्द्र उनका अभिषेक करते है। मन्दर मेरु का वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्ति (४,१७८०) आदि मे पाया जाता है। मन्दर मेरु जंबूद्वीप के व महा-विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह महापर्वत गोलाकार है उसकी कुल ऊंचाई एक लाख योजन, व मूल आयाम १००९० योजन से कुछ अधिक है। इसका १००० योजन निचला भाग नींव के रूप मे पृथ्वीतल के भीतर व शेष पृथ्वीतल से ऊपर आकाशतल की ओर है। उसका विस्तार ऊपर की ओर उत्तरोत्तर

कम होता गया है, जिससे वह पृथ्वीतल पट १०००० योजन तथा शिखरभूमि पर १००० योजन मात्र विस्तार युक्त है। पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर ५०० योजन का मकोच हो गया हैं, तत्पश्चात् वह ११००० योजन तक समान विस्तार से ऊपर उठकर व वहा मे क्रमश सिकुडता हुआ ५१५०० योजन पर सव ओर से पुन ५०० योजन सकीण हो गया है। तत्पश्चात् ११००० योजन तक समान विस्तार रखकर पुन क्रम-हानि से २५००० योजन ऊपर जाकर वह ४६४ योजन प्रमाण सिकुड गया है। (१०००+५००+११०००+५१५००+११०००+२५०-००=१००००० योजन। १००० योजन विस्तार वाले शिखर के मध्य भाग मे वारह योजन विस्तार वाली चालीस योजन ऊची चूलिका है, जो क्रमश सिकुडती हुई ऊपर चार योजन प्रमाण रह गई हैं। मेरु के शिखर पर व चूलिका के तलभाग मे उसे चारो ओर से घेरने वाला पाडु नामक वन है, जिसके भीतर चारो ओर मार्गो, अट्टालिकाओ, गोपुरो व ध्वजापताकाओ से रमणीक तटवेदी है। उस वेदी के मध्यभाग मे पर्वत की चूलिका को चारो ओर से घेरे हुए पाडु वन-खड की उत्तरदिशा मे अर्द्धचन्द्रमा के आकार की पाडुक शीला हैं, जो पूर्व-पश्चिम १०० योजन लम्वी व उत्तर-दक्षिण ५० योजन चौडी एव ८ योजन ऊची हैं। इस पाडुशिला के मध्य मे एक सिहासन है, जिसके दोनो ओर दो भद्रासन विद्यमान है। अभिपेक के समय जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिहासन पर विराजमान कर सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर तथा ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित हो अभिपेक करते हैं।

नंदोश्वर द्वीप की रचना—

मध्यलोक का जो मध्यवर्ती एक लाख योजन विस्तार वाला जवूद्वीप है, उसको क्रमश वेष्टित किये हुए उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तार वाले लवणसमुद्र व घातकी-खडद्वीप, कालोदसमुद्र व पुष्करवरद्वीप पुष्करवर समुद्र व वारुणीवर द्वीप एव वारुणीवर समुद्र, तथा उसी प्रकार एक ही नामवाले क्षीरवर, घृतवर व क्षौद्रवर नामक द्वीप-समुद्र हैं। तत्पश्चात् जम्वूद्वीप से आठवा द्वीप नदीश्वर नामक है, जिसका जैनधर्म मे व जैन वास्तु एव मूर्तिकला की परम्परा मे विशेष माहात्म्य पाया जाता हैं। इस वलयाकार द्वीप की पूर्वादि चारो दिशाओ मे वलय सीमाओ के मध्यभाग मे स्थित चार अजनगिरि नामक पर्वत हैं। प्रत्येक अजनगिरि की चारो दिशाओ मे एक-एक चौकोण द्रह (वापिका) है, जिनके नाम क्रमश नदा, नदवती, नदोत्तरा व नदीघोषा है। इनके चारो ओर अशोक सप्तच्छद, चम्पक व आम्र, इन वृक्षो के चार-चार वन है। चारो वापियो के

मध्य मे एक-एक पर्वत है जो दधि के समान श्वेतवर्ण होने के कारण दधिमुख कहलाता है। वह गोलाकार है, व उसके ऊपरी भाग मे तटवेदिया और वन है। नदादि चारो वापियों के दोनो वाहरी कोनो दर एक-एक सुवर्णमय गोलाकार रतिकर नामक पर्वत है। इस प्रकार एक-एक दिशा मे एक अजनगिरि, चार दधिमुख व आठ रतिकर, इस प्रकार कुल मिलाकर तेरह पर्वत हुए। इसी प्रकार के १३-१३ पर्वत चारो दिशाओ मे होने से कुल पर्वतो की सख्या ५२ हो जाती है। इन पर एक-एक जिनमदिर स्थापित है, और ये ही नदीश्वर द्वीप के ५२ मदिर या चैत्यालय प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार पूर्व की दिशा चार वापियो के पूर्वोक्त नदादिक चार नाम हैं, उसी प्रकार दक्षिण दिशा की चार वापिकाओं के नाम अरजा विरजा अशोका और वीतशोका, पश्चिम दिशा में विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता, तथा उत्तर दिशा के रम्या, रमणीया, सुप्रभा व सर्वतोभद्रा ये नाम हैं। प्रत्येक वापिका के चारो ओर जो अशोकादि वृक्षो के चार-चार वन हैं, उनकी चारो दिशाओं की सख्या ६४ होती है। इन वनो मे प्रत्येक के बीच एक-एक प्रासाद स्थित है, जो आकार मे चौकोर तथा ऊचाई मे लवाई मे दुगुना कहा गया है। इस प्रासादो मे व्यन्तर देव अपने परिवार सहित रहते हैं। (त्रि० प्र० ५, ५२-८२) वर्तमान जैन मदिरो मे कही-कही नदीश्वर पर्वत के ५२ जिनालयो की रचना मूर्तिमान् अथवा चित्रित की हुई पाई जाती है। हाल ही मे सम्मेदशिखर (पारसनाथ) की पहाडी के समीप पूर्वोक्त प्रकार से ५२ जिन मदिरो युक्त नदीश्वर की रचना की गई है।

समवसरण रचना—

तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुवेर उनके समवसरण अर्थात् सभाभवन की रचना करता है, जहा तीर्थंकर का धर्मोपदेश होता है। समवसरण की रचना का बडे विस्तार से वर्णन मिलता है, और उसी के आधार से जैन वास्तुकला के नाना रूप प्रभावित हुए पाये जाते हैं। त्रि० प्र० (४,७११-९४२) मे समवसरण सबधी सामान्य भूमि, सोपान, वीथि, धूलिशाल, चैत्य प्रासाद, नृत्यशाला, मानस्तभ, स्तूप, मडप, गधकुटी आदि के विन्यास, प्रमाण, आकार आदि का वहुत कुछ वर्णन पाया जाता है। वही वर्णन जिनसेन कृत आदिपुराण (पर्व २३) मे भी आया है। समवसरण की रचना लगभग वारह योजन आयाम मे सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार होती है। उसका पीठ इतना ऊचा होता है कि वहा तक पहुचने के लिये समवसरण भूमि की चारो दिशाओ मे एक-एक हाथ ऊची २००० सीढिया होती है। वहा से आगे वीथिया

होती हैं, जिनके दोनों ओर वेदिकाए वनी रहती हैं। तत्पश्चात् वाहिरी धूलिशाल नामक कोट बना रहता है, जिसकी पूर्वादिक चारो दिशाओ मे विजय, वैजयत, जयन्त और अपराजित नामक गोपुरद्वार होते हैं। ये गोपुर तीन भूमियो वाले व अट्टालिकाओ से रमणीक होते है, और उनके वाह्य, मध्य व आभ्यन्तर पार्श्व भागो मे मगल द्रव्य, निधि, व धूपघटो से युक्त बडी-बडी पुतलिया वनी रहती है। अष्ठ मगलद्रव्य भवनों के प्रकरण मे (पृ०२९२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियो के नाम हैं-काल, महाकाल, पाडु, माणवक, शख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, और नाना रत्न जो क्रमश ऋतुओ के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरो के वाह्य भाग मे मकर-तोरण तथा आभ्यन्तर भाग मे रत्न-तोरणो की रचना होती है, और मध्य के दोनो पार्श्वो मे एक-एक नाट्यशाला इन गोपुरों का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है, जो अपने हाथ मे रत्नदड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पाच-पाच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओ से शोभायमान हैं, तथा वीथियो के दोनो पार्श्वभागो मे दो-दो नाट्यशालाए शरीराकृति से १२ गुनी ऊची होती है। एक-एक नाट्यशाला मे ३२ रगभूमिया ऐसी होती है जिनमे प्रत्येक पर ३२ भवनवासी कन्याए अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तंभ—

वीथियो के वीचोवीच एक-एक मानस्तभ स्थापित होता है। यह आकार मे गोल, और चार गोपुरद्वारो तथा ध्वजापताकाओ से युक्त एक कोट से घिरा होता हैं। इसके चारो ओर सुन्दर वनखड होते है, जिनमे पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम, यम, वरुण और कुवेर, इन लोकपालों के रमणीक क्रीडानगर होते है। मानस्तभ क्रमश छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठो पर स्थापित होता है। मानस्तभ की ऊचाई तीर्थंकर की शारीराकृति से १२ गुनी बतलाई गई हैं। मानस्तभ तीन खडो मे विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारों से युक्त मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरिम भाग वैडूर्य मणिमय होता है, और उसके चारो ओर चवर, घटा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओ की शोभा होती है। मानस्तभ के शिखर पर चारो दिशाओ मे आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यो के नाम है—अशोकवृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, भामडल, दुन्दुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तभ की पूर्वादिक चारो दिशाओ मे एक-एक वापिका होती है। पूर्वादि दिशा-

वर्ती मानस्तभ की वापिकाओ के नाम है—नदोत्तर, नदा, नदीमती और नदीघोषा। दक्षिण मानस्तंभ की वापिकाए हैं—विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तभ सबधी वापिकाए है—अशोका, सुप्रतियुद्धा, कुमुदा, और पुडरीका, तथा उत्तर मानस्तभ की वापिकाओ के नाम है—हृदयानदा, महानदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभकरा। ये वापिकाए चौकोर वेदिकाओं व तोरणो से युक्त तथा जल-क्रीडा के योग्य दिव्य द्रव्यो व सोपानो से युक्त होती हैं। मानस्तभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शको का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमे धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियो मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चत्यवृक्ष होते हैं, जिनकी ऊचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारो दिशाओ मे आठ प्रातिहार्यो से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाए होती हैं। वनभूमि मे देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागो मे प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते है। ये स्तूप तीर्थंकरो और सिद्धो की प्रतिमाओ से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एव आठ मगल द्रव्यो व ध्वजाओ से शोभित होते है। इन स्तूपो की ऊचाई भी चैत्यवृक्षो के समान तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी होती है।

श्रीमंडप--

समवसरण के ठीक मध्य मे गधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमडप अर्थात् कोठे होते हैं। ये श्रीमडप प्रत्येक दिशा मे वीथीपथ को छोड-कर ४-४ भित्तियो के अन्तराल से तीन-तीन होते है, और उनकी ऊचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमश पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरो, (२) कल्पवासिनी देवियो, (३) आर्यिका व श्राविकाओ, (४) ज्योतिषी देवियो, (५) व्यतर देवियो, (६) भवनवासिनी देवियो, (७) भवनवासी देवो, (८) व्यतर देवो, (९) ज्योतिषी देवो, (१०) कल्पवासी देवो व इन्द्रो, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यो व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिर्यंच जीवो के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गंधकुटी—

श्रीमडप के बीचोबीच तीन पीठिकाओ के ऊपर गधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर की गधकुटी

की ऊचाई ७५ धनुष अर्थात् लगभग ५०० फुट बतलाई गई है। गंधकुटी के मध्य मे उत्तम सिंहासन होता है, जिसपर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

नगर विन्यास—

जैनागमो मे देश के अनेक महान् नगरो, जैसे चपा, राजगृह, श्रावस्ती, कौशाबी, मिथिला आदि का बार-बार उल्लेख आया है, किन्तु उनका वर्णन एकसा ही पाया जाता है। यहा तक कि पूरा वर्णन तो केवल एकाध सूत्र मे ही दिया गया है, और अन्यत्र 'वण्णओ' (वर्णन) कहकर उसका सकेत मात्र कर दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के उन नगरो की रचना प्राय एक ही प्रकार की होती थी। उस नगर की रचना व स्वरूप को पूर्णत समझने के लिये यहा उववाइय सूत्र (१) से चपा नगरी का पूरा वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

"चपानगरी धन-सम्पत्ति से समृद्ध थी, और नगरवासी खूब प्रमुदित रहते थे। वह जनता से भरी रहती थी। उसके आसपास के खेतो मे हजारो हल चलते थे, और मुर्गों के झुड के झुड चरते थे। व गन्ने, जौ व धान से भरपूर थी। वहाँ गाय, भैंस, व भेड-बकरियां प्रचुरता से विद्यमान थीं। वहा सुन्दर आकार के बहुत से चैत्य बने हुए थे, और सुन्दरी शीलवती युवतियां भी बहुत थीं। वह घूसखोर, बटमार, गठमार, दुसाहसी, तस्कर, दुराचारी व राक्षसो से रहित होने से क्षेम व निरुपद्रव थी। वहा भिक्षा सुख से मिलती थी, और लोग निश्चित होकर सुख से निवास करते थे। करोडो कुटुम्ब वहा सुख से रहते थे। वहाँ नटो, नर्तको, रस्से पर खेल करने वाले नट, मल्ल, मुष्टियुद्ध करने वाले (बोक्सर्स), नकलची (विदूषक), कथक, कूदने वाले, लास्यनृत्य करने वाले आख्यायक, मख (चित्रदर्शक), लख (बडे बास के ऊपर नाचने वाले), तानपूरा, तुबी व वीणा बजाने वाले तथा नाना प्रकार के वादित्र बजाने वाले आते जाते रहते थे। वहाँ आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका व वापियाँ भी खूब थीं, जिनसे वह नदनवन के समान रमणीक थी। वह विपुल और गभीर खाई से घिरी हुई थी। चक्र, गदा, मुसुंठि (मूठ), अवरोध, शतघ्नी तथा दृढ सघन कपाटो के कारण उसमे प्रवेश करना कठिन था। वह धनुष के समान गोलाकार प्राकार से घिरी हुई थी, जिसपर कपिशीर्षक (कगूरे) और गोल गुम्मट बने हुए थे। वहाँ ऊची-ऊची अट्टालिकाए, चरियापथ, द्वार, गोपुर, तोरण तथा सुन्दर रीति से विभाजित राजमार्ग थे। प्राकार तथा गृहो के परिघ व इन्द्रखील (लगर व चटकिनी) कुशल कारीगरो द्वारा निर्माण किये गये थे।

वहा दुकानो मे व्यापारियो द्वारा नाना प्रकार के शिल्प तथा सुखोपभोग की वस्तुए रखी गई थी । वह सिघाटक (त्रिकोण), चौकोन व चौको मे विविध वस्तुए खरीदने योग्य दुकानो से शोभायमान थी । उसके राजमार्ग राजाओ के गमनागमन से सुरम्य थे, और वह अनेक सुन्दर-सुन्दर उत्तम घोडो, मत्त-हाथियो, रथो व डोला-पालकी आदि वाहनो से व्याप्त थी । वहा के जलाशय नव प्रफुल्ल कमलों से शोभायमान थे । वह नगरी उज्ज्वल, श्वेत महाभवनो से जगमगा रही थी, और आखे फाड-फाडकर देखने योग्य थी । उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता था । वह ऐसी दर्शनीय, सुन्दर और मनोज्ञ थी ।"

प्राचीन नगर का यह वर्णन तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है-(१) उसकी समृद्धि व धन-वैभव सम्बन्धी, (२) वहा नाना प्रकार की कलाओ, विद्याओ, व मनोरजन के साधनो सम्बन्धी, और (३) नगर की रचना सबधी । नगर-रचना मे कुछ बातें सुस्पष्ट और ध्यान देने योग्य हैं । नगर की रक्षा के निमित्त उसको चारों ओर से घेरे हुए परिखा या खाई होती थी । तत्पश्चात् एक प्राकार या कोट होता था, जिसकी चारो दिशाओ मे चार-चार द्वार होते थे । प्राकार का आकार धनुष के समान गोल कहा गया है । इन द्वारो मे गोपुर और तोरणो का शोभा की दृष्टि से विशेष स्थान था । कोट कगूरेदार कपिशीर्षको से युक्त बनते थे, और उनपर शतघ्नी आदिक नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की स्थापना की जाती थी । नगर मे राजमार्गों व चरियापथ (मेन रोड्स एव फुटपाथ्स) बडी व्यवस्था से बनाये जाते थे, जिसमे तिराहो व चौराहो का विशेष स्थान था । स्थान-स्थान पर सम्भवत प्रत्येक मोहल्ले मे विशाल चौको (खुले मैदान-पार्कस्), उद्यानो, सरोवरो व कूपो का निर्माण भी किया जाता था । घर कतारो से बनाये जाते थे, और देवालयो, बाजारो व दुकानो की सुव्यवस्था थी ।

जैन सूत्रो से प्राप्त नगर का यह वर्णन पुराणो, बौध ग्रन्थो, तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के वर्णनो से मिलता हैं, तथा पुरातत्व सबधी खुदाई से जो कुछ नगरों के भग्नावशेष मिले हैं उनसे भी प्रमाणित होता है । उदाहरणार्थ प्राचीन पाचाल देश की राजधानी अहिच्छत्र की खुदाई से उसकी परिखा व प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए हैं । यह वही स्थान है जहा जैन परम्परानुसार तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तप मे उपसर्ग होने पर धरणेद्रनाग ने उनकी रक्षा की थी, और इसी कारण इसका नाम भी अहिच्छत्र पडा । प्राकार पकाई हुई ईटो का बना व ४०-५० फुट तक ऊचा पाया गया है । कोट के द्वारो से राजपथ सीधे नगर के केन्द्र की ओर जाते हुए पाये गये हैं, और केन्द्र मे एक

स्थानो से प्राप्त पाषाणोत्कीर्ण चित्रकारी मे जो राजगृह, श्रावस्ती, वाराणसी, कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि की प्रतिकृतियाँ (मोडेल्स) पाई जाती है, उनसे भी परिखा, प्राकार तथा द्वारो, गोपुरो व अट्टालिकाओ की व्यवस्था समझ मे आती है। देश के प्राचीन नगरो की बनावट व शोभा का परिचय हमे मैंगस्थनीज, फाहियान आदि यूनानी व चीनी यात्रियो द्वारा किये गये सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के वर्णन से भी प्राप्त होता है, और उसका समर्थन पटना के समीप बुलदीबाग और कुमराहर नामक स्थानो की खुदाई से प्राप्त हुए प्राकार व राजप्रासाद आदि के भग्नावशेषो से होता है। मैंगस्थनीज के वर्णनानुसार पाटलिपुत्र नगर का प्राकार काष्ठमय था। इसकी भी प्राप्त भग्नावशेषो से पुष्टि हुई है, तथा उपलब्ध पाषाण स्तम्भो के भग्नावशेषो से शालाओ व प्रासादो की निर्माण-कला की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है, जिससे जैन ग्रन्थो से प्राप्त नगरादि के वर्णन का भले प्रकार समर्थन होता है।

चैत्य रचना—

जैन सूत्रो मे नगर के वर्णन मे तथा स्वतत्र रूप से भी चैत्यो का उल्लेख बार-बार आता है। यहा औपपातिक सूत्र (२) से चपानगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा मे स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य का वर्णन दिया जाता है। वह चैत्य बहुत प्राचीन, पूर्व पुरुषो द्वारा पहले कभी निर्माण किया गया था, और सुविदित व सुविख्यात था। वह छत्र, घटा, ध्वजा व पताकाओ से मडित था। वहा चमर (लोमहस्त-पीछी) लटक रहे थे। वहा गोशीर्ष व सरस रक्तचन्दन से हाथ के पजों के निशान बने हुए थे और चन्दन-कलश स्थापित थे। वहा बडी-बडी गोलाकार मालाए लटक रही थी। पचरगे, सरस, सुगधी फूलों की सजावट हो रही थी। वह कालागुरु, कुदुरुक्क एव तुरुष्क व धूप की सुगध से महक रहा था। वहा नटो, नर्तको, नाना प्रकार के खिलाडियो, सगीतको, भोजकों व मागधो की भीड लगी हुई थी। वहा बहुत लोग आते जाते रहते थे, लोग घोषणा कर-करके दान देते थे व अर्चा, वदना, नमस्कार, पूजा, सत्कार, सम्मान करते थे। वह कल्याण, मगल व देवतारूप चैत्य विनयपूर्वक पर्युपासना करने के योग्य था। वह दिव्य था, सब मनोकामनाओ की पूर्ति का सत्योपाय-भूत था। वहा प्रातिहार्यो का सद्भाव था। वह चैत्य याग के सहस्त्र-भाग का प्रतीक्षक था। बहुत लोग आ-आकर उस पूर्णभद्र चैत्य की पूजा करते थे।"

जैन चैत्य व स्तूप—

समोसरण के वर्णन मे चैत्य वृक्षो व स्तूपो का उल्लेख किया जा चुका है।

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (३, २. १४३) मे भगवान् महावीर के अपनी छद्मस्थ अवस्था मे सु सुमारपुर के उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान करने का वर्णन है। त्रि०प्र० (४,९१५) मे यह भी कहा गया है कि जिस वृक्ष के नीचे जिस केवली को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ, वही उस तीर्थंकर का अशोक वृक्ष कहलाया। इस प्रकार अशोक एक वृक्ष-विशेष का नाम भी है, व केवलज्ञान सबधी समस्त वृक्षो की सज्ञा भी। अनुमानत इसी कारण वृक्षो के नीचे प्रतिमाए स्थापित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। स्वभावत वृक्षमूल मे मूर्तिया स्थापित करने के लिए वृक्ष के चारो ओर एक वेदिका या पीठिका बनाना भी आवश्यक हो गया। यह वेदी इष्टकादि के चयन से बनाई जाने के कारण वे वृक्ष चैत्यवृक्ष कहे जाने लगे होगे। इष्टको (ईटो) से बनी वेदिका को चिति या चयन कहने की प्रथा बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य मे यज्ञ की वेदी को भी यह नाम दिया गया पाया जाता है। इसी प्रकार चयन द्वारा निर्मापित स्तूप भी चैत्य-स्तूप कहलाये।

आवश्यक नियुंक्ति (गा० ४३५) मे तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्र सूरी ने भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति मे उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह-निषद्या-आयतन निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है। अर्द्धमागधी जू बदीवपण्णत्ति (२, ३३) मे तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-सस्कार तथा चैत्य-स्तूप निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

"तीर्थंकर का निर्वाण होने पर देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि गोशीर्ष व चदन काष्ठ एकत्र कर चितिका बनाओ, क्षीरोदधि से क्षीरोदक लाओ, तीर्थंकर के शरीर को स्नान कराओ, और उसका गोशीर्ष चदन से लेप करो। तत्पश्चात् शक्र ने हसचिन्ह-युक्त वस्त्रशाटिका तथा सर्व अलकारो से शरीर को भूषित किया, व शिविका द्वारा लाकर चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार देव ने चिता को प्रज्वलित किया, और पश्चात् मेघकुमार देव ने क्षीरोदक से अग्नि को उपशात किया। शक्र देवेन्द्र ने भगवान की ऊपर की दाहिनी व ईशान देव ने बायी सक्थि (अस्थि) ग्रहण की, तथा नीचे की दाहिनी चमर असुरेन्द्र ने व बायी बलि ने ग्रहण की। शेष देवो ने यथायोग्य अवशिष्ट अग-प्रत्यगो को ग्रहण किया। फिर शक्र देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि एक अतिमहान् चैत्य स्तूप भगवान तीर्थंकर की चिता पर निर्माण किया जाय, एक गणधर की चिता पर और एक शेष अनगारो की चिता पर। देवो ने तदनुसार ही परिनिर्वाण-महिमा

की। फिर वे सब अपने-अपने विमानो व भवनो को लौट आये, और अपने-अपने चैत्य-स्तभों के समीप आकर उन जिन-अस्थियो को वज्रमय, गोल वृत्ताकार समुद्गको (पेटिकाओ) मे स्थापित कर उत्तम मालाओ व गधो से उनकी पूजा-अर्चा की।"

इस विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरूपो की चिताओ पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे। इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थो के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-सस्कार सबधी वृत्तांत से होती है।

महापरिनिब्बानसुत्त मे कथन है कि बुद्ध भगवान के शिष्यो ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाय, तब इसके उत्तर मे बुद्ध ने कहा—हे आनद, जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तैल की द्रोणी मे रखकर चितक बनाकर शरीर को झाँप देते है, और चतुर्महा पथ पर स्तूप बनाते है, इसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाय। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल मे राजाओ व धार्मिक महापुरुषों की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति मे स्तूप बनवाने की प्रथा थी। स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है। इस सबध मे शतपथ ब्राह्मण का एक उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यों के दैव श्मशान चौकोर, तथा अनार्यों के आसुर्य श्मशान गोलाकार होते हैं। धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई, और शताब्दियो तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही। धीरे धीरे इन का आकार-परिणाम भी खूब बढा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिये एक व अनेक वेदिकाए भी बनने लगीं। उनके आसपास कलापूर्ण कटहरा भी बनने लगा। ऐसे स्तूपो के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी साची, भरहुत, सारनाथ आदि स्थानो मे देखे जा सकते है। दुर्भाग्यत उपलब्ध स्तूपो मे जैन स्तूपो का अभाव पाया जाता हैं। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीनकाल मे जैन स्तूपो का भी खूब निर्माण हुआ था। जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि मे उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल मे बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति मे एक स्तूप वैशाली मे बनवाया गया था। किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिन्ह व भग्नावशेष प्राप्त नही किये जा सके। तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले है। हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष (१२, १३२) के अनुसार यहाँ अति प्राचीनकाल मे विद्याधरो द्वारा पाच स्तूप बनवाये गये थे। इन पाच स्तूपो की विख्याति और स्मृति एक मुनियो की वशावली से सबद्ध पाई जाती हैं। पहाड़पुर (बगाल) से जो पाचवी शताब्दी का गुहनदि आचार्य

का ताम्रपत्र मिला है, उसमे इस पचस्तूपान्वय का उल्लेख है। धवलाटीका के के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्ता जिनसेन ने अपने को पचस्तूपान्वयी कहा है। इसी अन्वय का पीछे सेनअन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। जिनप्रभसूरी कृत विविध-तीर्थ-कल्प मे उल्लेख है कि मथुरा मे एक स्तूप सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्मृति मे एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल मे बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय मे उसका जीर्णोद्धार कराया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुन उसका उसका उद्धार वप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत जबूस्वामिचरित के अनुसार उनके समय मे (मुगल सम्राट अकबर के काल मे) मथुरा मे ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे विद्यमान थे, जिनका उद्धार तोडर नाम के एक धनी साहू ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषो मे एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख मे यहा के देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिषेण व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखो से भी होता है। हरिभद्रसूरी कृत आवश्यक-निर्युक्ति वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू मे भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है। इन सब उल्लेखो से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

मथुरा का स्तूप—

मथुरा के स्तूप का जो भग्नाश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रगट हो जाता है। स्तूप का तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास ४७ फुट पाया जाता है। उसमे केन्द्र से परिधि की ओर बढते हुए व्यासार्ध वाली ८ दिवाले पाई जाती है, जिनके बीच के स्थान को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था। दीवाले ईंटो से चुनी गई थी। ईंटे भी छोटी-बडी पाई जाती हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाए बनी थी। पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तभ मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरण द्वार रहे होगे। दो ऐसे भी आयाग पट्ट मिले हैं, जिन पर स्तूप की पूर्ण आकृतिया चित्रित हैं, जो सभवत यही के स्तूप व स्तूपो की होगी। स्तूप पट्टिकाओ के घेरे से घिरा हुआ है, व तोरण द्वार पर पहुँचने के लिये सात-आठ सीढिया बनी हुई है। तोरण दो खभो व ऊपर थोडे-थोडे अन्तर से एक पर एक तीन आडे खभो से बना हैं। इनमे सबसे निचले खभे के दोनो पार्श्वभाग मकराकृति सिंहो से आधारित हैं। स्तूप के दायें-बायें दो सुन्दर स्तभ हैं, जिन पर क्रमश धर्मचक्र व बैठे हुए सिंहो

की आकृतिया बनी हैं। स्तूप की बाजू मे तीन आराधको की आकृतियाँ बनी है। ऊपर की ओर उडती हुई दो आकृतिया समवत चारण मुनियो की है। वे नग्न हैं, किन्तु उनके बाये हाथ मे वस्त्रखड जैसी वस्तु एव कमडलु दिखाई देते है, तथा दाहिना हाथ मस्तक पर नमस्कार मुद्रा मे हैं। एक ओर आकृति युगल सुपर्ण पक्षियो की हैं, जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दायी ओर का सुपर्ण एक पुष्पगुच्छ व बायी ओर का पुष्पमाला लिये हुए हैं। स्तूप की गुम्बज के दोनो ओर विलासपूर्ण रीति से झुकी हुई नारी आकृतिया सम्भवत यक्षिणियो की हैं। घेरे के नीचे सीढियो के दोनो ओर एक-एक आला हैं। दक्षिण बाजू के आले मे एक बालक सहित पुरुषाकृति व दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है। स्तूप की गुम्मट पर छह पक्तियो मे एक प्राकृत का लेख है, जिसमे अर्हन्त वर्द्धमान को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "श्रमण-श्राविका आर्या-लवणोशोभिका नामक गणिका की पुत्री श्रमण-श्राविका वासु-गणिका ने जिन मदिर मे अरहत की पूजा के लिये अपनी माता, भगिनी, तथा दुहिता पुत्र सहित निर्ग्रन्थो के अरहत आयतन में अरहत का देवकुल (देवालय), आयाग सभा, प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराये।" यह शिलापट २ फुट × १ इच × १$\frac{3}{4}$ फुट तथा अक्षरो की आकृति व चित्रकारी द्वारा अपने को कुषाणकालीन (प्र० द्वि० शती ई०) सिद्ध करता है।

इस शिलापट से भी प्राचीन एक दूसरा आयागपट भी मिला है, जिसका ऊपरी भाग टूट गया है, तथापि तोरण, घेरा, सोपानपथ एव स्तूप के दोनो ओर यक्षिणियो की मूर्तियाँ इसमे पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक सुस्पष्ट है। इस पर भी लेख है जिसमे अरहतो को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि 'फग्गुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने अरहत-पूजा के लिये यह यागपट बनवाया'। वि० स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षरों की आकृति ई० पू० १५० के लगभग शुग-कालीन भरहुत स्तूप के तोरण पर अकित धनभूति के लेख से कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। बुलर ने भी उन्हे कनिष्क के काल से प्राचीन स्वीकार किया है। इस प्रकार लगभग २०० ई० पू० का यह आयागपट सिद्ध कर रहा है कि स्तूपो का प्रकार जैन परम्परा मे उससे बहुत प्राचीन है। साथ ही, जो कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था मे नही पाये जाते, उसके अनेक कारण है। एक तो यह कि गुफा-चैत्यो और मन्दिरों के अधिक प्रचार के साथ-साथ स्तूपो का नया निर्माण बन्द हो गया, व प्राचीन स्तूपो की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया। दूसरे, उपर्युक्त स्तूप के आकार व निर्माणकला के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध व जैन स्तूपो की कला प्राय एक सी ही थी। यथार्थत यह कला श्रमण सस्कृति की

समान धारा थी। इस कारण अनेक जैन स्तूप भ्रान्तिवश बौद्ध स्तूप ही मान लिये गये। इन बातो के स्पष्ट उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। मथुरा के पास जिस स्थान पर उक्त प्राचीन जैन स्तूप था, वह वर्तमान मे ककाली टीला कहलाता है। इसका कारण यह है कि जैनियो की उपेक्षा से, अथवा किन्ही बाह्य विध्वसक आघातो से जब उस स्थान के स्तूप व मन्दिर नष्ट हो गये, और उस स्थान ने एक टीले का रूप धारण कर लिया, तब मन्दिर का एक स्तभ उसके ऊपर स्थापित करके वह कंकालीदेवी के नाम से पूजा जाने लगा। यहा के स्तूप का जो आकार-प्रकार उपर्युक्त 'वासु' के आयागपट्ट से प्रगट होता है, ठीक उसी प्रकार का स्तूप का नीवभाग तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' नामक स्थान पर पाया गया है। इस स्तूप के सोपान-पथ के दोनो पार्श्वों मे उसी प्रकार के दो आले रहे हैं, जैसे उक्त आयागपट मे दिखाई देते हैं। इसी कारण पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर सर जानमार्शल ने उसे जैन स्तूप कहा है, और उसे बौद्ध धर्म से सब प्रकार असबद्ध बतलाया है। तो भी पीछे के लेखक उसे बौद्ध स्तूप ही कहते हैं, और इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि उस स्थान मे जैनधर्म का कभी कोई ऐतिहासिक सबध नही पाया जाता। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि तक्षशिला से जैनधर्म का बडा प्राचीन सबध रहा है। जैन पुराणो के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहाँ अपने पुत्र बाहुबली की राजधानी स्थापित की थी। उन्होने यहा विहार भी किया था, और उनकी स्मृति मे यहा धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था। यही नही, किन्तु अति प्राचीन काल से सातवी शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत मे अफगानिस्तान तक जैनधर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। हुएनच्वाग ने अपने यात्रा वर्णन मे लिखा है कि उसके समय मे "हुसीना (गजनी) व हजारा (या होसला) मे बहुत से तीर्थक थे, जो क्षुणदेव (शिश्न या नग्न देव) की पूजा करते थे, अपने मन को वश मे रखते थे, व शरीर की पर्वाह नही करते थे।" इस वर्णन से उन देवो के जैन तीर्थंकर और उनके अनुयाइयो के जैन मुनि व श्रावक होने मे कोई सदेह प्रतीत नही होता। पालि ग्रन्थो मे निग्गठ नातपुत्त (महावीर तीर्थंकर) को एक तीर्थक ही कहा गया है। अतएव तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' स्तूप को जैन-स्तूप स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।

मथुरा से प्राप्त अन्य एक आयागपट के मध्य मे छत्र-चमर सहित जिन मूर्ति विराजमान है व उसके आसपास त्रिरत्न, कलश, मत्स्य युगल, हस्ती आदि मगल द्रव्य व अलकारिक चित्रण है। आयागपट चित्रित पाषाणपट्ट होते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

जैन गुफाएं

प्राचीनतम काल से जैन मुनियो को नगर-ग्रामादि बहुजन-सकीर्ण स्थानो से पृथक् पर्वत व वन की शून्य गुफाओ वा कोटरो आदि मे निवास करने का विधान किया गया है, और ऐसा एकान्तवास जैन मुनियो की साधना का आवश्यक अग बतलाया गया है (त० सू० ७, ६ स० सिद्धि)। और जहां जैन मुनि निवास करेगा, वहा ध्यान व वदनादि के लिये जैन मूर्तियो की भी स्थापना होगी। आरम्भ मे शिलाओं से आधारित प्राकृतिक गुफाओ का उपयोग किया जाता रहा होगा। ऐसी गुफाए प्राय सर्वत्र पर्वतों की तलहटी मे पाई जाती है। ये ही जैन परम्परा मे मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहे जा सकते हैं। क्रमश इन गुफाओ का विशेष सस्कार व विस्तार कृत्रिम साधनो से किया जाने लगा, और जहां उसके योग्य शिलाए मिली उनको काटकर गुफा-विहार व मन्दिर बनाये जाने लगे। ऐसी गुफाओ मे सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाए बराबर व नागार्जुनी पहाडियो पर स्थित हैं। ये पहाडिया गया से १५-२० मील दूर पटना-गया रेलवे के बेला नामक स्टेशन से ८ मील पूर्व की ओर है। बराबर पहाडी मे चार, व उससे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाडी मे तीन गुफाए हैं। बराबर की गुफाए अशोक, व नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियो के हेतु निर्माण कराई गई थी। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल (ई० पू० तृतीय शती) मे एक पृथक सम्प्रदाय था, तथापि ऐतिहासिक प्रमाणो से उसकी उत्पत्ति व विलय जैन सम्प्रदाय मे ही हुआ सिद्ध होता है। जैन आगमो के अनुसार इस सम्प्रदाय का स्थापक मखलिगोशाल कितने ही काल तक महावीर तीर्थंकर का शिष्य रहा, किन्तु कुछ सैद्धान्तिक मतभेद के कारण उसने अपना एक पृथक सम्प्रदाय स्थापित किया। परन्तु यह सम्प्रदाय पृथक् रूप से केवल दो-तीन शती तक ही चला, और इस काल मे भी आजीवक साधु जैन मुनियो के सदृश नग्न ही रहते थे, तथा उनकी भिक्षादि सबधी चर्या भी जैन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से भिन्न नही थी। अशोक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का जैन सघ मे ही विलीनीकरण हो गया, और तब से इसकी पृथक् सत्ता के कोई उल्लेख नही पाये जाते। इस प्रकार आजीवक मुनियो को दान की गई गुफाओ का जैन ऐतिहासिक परम्परा मे ही उल्लेख किया जाता है।

बराबर पहाडी की दो गुफाए अशोक ने अपने राज्य के १२ वे वर्ष मे, और तीसरी १९ वे वर्ष मे निर्माण कराई थी। सुदामा और विश्व झोपडी

नामक गुफाओ के लेखो मे आजीवको को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। सुदामा गुफा के लेख मे उसे न्यग्रोध गुफा कहा गया है। इसमे दो मडप है। वाहिरी ३३'×२०' का व भीतरी १९'×१९' लम्बा-चौडा है। ऊचाई लगभग १२' हैं। विश्व-झोपडी के लेख मे इस पहाडी का 'खलटिक पर्वत' के नाम से उल्लेख पाया जाता है। शेष दो गुफाओ के नाम 'करण चौपार' व 'लोमसऋषि' गुफा है। किन्तु करणचौपार को लेख मे 'सुपियागुफा' कहा गया है, और लोमस-ऋषि गुफा को 'प्रवरगिरिगुफा'। ये सभी गुफाए कठोर तेलिया पाषाण को काट कर बनाई गई हैं, और उन पर वही चमकीला पालिश किया गया है, जो मौर्य काल की विशेषता मानी गई है।

नागार्जुनी पहाडी की तीन गुफाओ के नाम हैं—गोपी गुफा, वहिया की गुफा, और वेदथिका गुफा। प्रथमे गुफा ४५'×१९' लम्बी-चोडी है। पश्चात् कालीन अनन्तवर्मा के एक लेख मे इसे 'विन्ध्यभूधर गुहा' कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख मे इसका नाम गोपिक गुहा स्पष्ट अकित है, और आजीवक भदन्तो को दान किये जाने का भी उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओ मे भी है। ई० पू० तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओ के पश्चात् उल्लेखनीय है उडीसा की कटक के समीपवर्ती उदयगिरि व खडगिरि नामक पर्वतो की गुफाए जो उनमे प्राप्त लेखो पर से ई० पू० द्वितीय शती की सिद्ध होती है। उदयगिरि की 'हाथीगुफा' नामक गुफा मे प्राकृत भाषा का यह सुविस्तृत लेख पाया गया है जिसमे कलिंग सम्राट खारवेल के वाल्यकाल व राज्य के १३ वर्षो का चरित्र विधिवत् वर्णित है। यह लेख अरहतो व सर्वसिद्धो को नमस्कार के साथ प्रारम्भ हुआ है, और उसकी १२ वी पक्ति मे स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होने अपने राज्य के १२ वे वर्ष मे मगध पर आक्रमण कर वहा के राजा वृहस्पतिमित्र को पराजित किया, और वहा से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश मे लौटा लिया जिसे पहले नदराज अपहरण कर ले गया था। इस उल्लेख से जैन इतिहास व सस्थानो सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण वाते सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि नदकाल अर्थात् ई० पू० पाचवी-चौथी शती मे भी जैन मूर्तिया निर्माण कराकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश मे एक प्रसिद्ध जैन मदिर व मूर्ति थी, जो उस प्रदेश भर मे लोक-पूजित थी। तीसरे यह कि वह नद-सम्राट जो इस जैन मूर्ति को अपहरण कर ले गया, और उसे अपने यहा सुरक्षित रखा, अवश्य जैन धर्मावलवी रहा होगा, व उसने उसके लिये अपने यहा भी जैन मदिर वनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग देश की जनता व राजवश मे उस जैन मूर्ति के लिये वरावर दो-तीन

शती तक ऐसा श्रद्धान बना रहा कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट ने उसे वापस लाकर अपने यहा प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और वहाँ का लेख भारतीय इतिहास, और विशेषत जैन इतिहास, के लिये बड़े महत्व की वस्तु है।

उदयगिरि की यह रानी गुफा (हाथी गुफा) यथार्थत एक सुविस्तृत विहार रहा है जिसमे मूर्ति-प्रतिष्ठा भी रही, व मुनियो का निवास भी। इसका अंतरंग ५२ फुट लम्बा व २८ फुट चौड़ा है, तथा द्वार की ऊचाई ११½ फुट है। वह दो मंजिलो मे बनी है। नीचे की मंजिल मे पंक्तिरूप से आठ, व ऊपर की पंक्ति मे छह प्रकोष्ठ हैं। २० फुट लम्बा बरामदा ऊपर की मंजिल की एक विशेषता है। बरामदो मे द्वारपालो की मूर्तिया खुदी हुई हैं। नीचे की मंजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक सा प्रतीत होता है। बरामदो मे छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को सम्भालने के लिये अनेक स्तम्भ खडे किये गये हैं। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिन्ह व अशोक वृक्ष की पूजा का चित्रण महत्वपूर्ण है। त्रिरत्न-चिन्ह सिंधघाटी की मुद्रा पर के आसीन देव के मस्तक पर के त्रिशृंग मुकुट के सदृश है। द्वारो पर बहुत सी चित्रकारी भी है, जो जैन पौराणिक कथाओ से सम्बन्ध रखती है। एक प्रकोष्ठ के द्वार पर एक पक्षयुक्त हरिण व धनुषबाण सहित पुरुष, युद्ध, स्त्री-अपहरण आदि घटनाओ का चित्रण बडा सुन्दर हुआ है। एक मतानुसार यह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन की एक घटना का चित्रण है, जिसके अनुसार उन्होने कलिंग के यवन नरेश द्वारा हरण की गई प्रभावती नामक कन्या को बचाया और पश्चात् उससे विवाह किया था। एक मत यह भी है कि यह वासवदत्ता व शकुन्तला सम्बन्धी आख्यानो से सम्बन्ध रखता है। किन्तु उस जैन गुफा मे इसकी सम्भावना नही प्रतीत होती। चित्रकारी की शैली सुन्दर और सुस्पष्ट है, व चित्रो की योजना प्रमाणानुसार है। विद्वानो के मत से यहा की चित्रण कला भरहुत व साची के स्तूपो से अधिक सुन्दर है। उदयगिरि व खडगिरि मे सब मिलाकर १९ गुफाए हैं, और उन्ही के निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाडी मे और भी तीन गुफाए देखने मे आती हैं। इनमे उपर्युक्त रानीगुफा के अतिरिक्त मचपुरी और वैकुंठपुरी नामक गुफाए भी दर्शनीय हैं, और वहाँ के शिलालेखो तथा कलाकृतियो के आधार से खारवेल व उनके समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खडगिरि की नवमुनि नामक गुफा मे दसवी शती का एक शिलालेख है जिसमे जैन मुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्थान ई०पू० द्वितीय शती से लगाकर कम से कम दसवी शती तक

जैन धर्म का एक सुदृढ केन्द्र रहा है ।

राजगिरि की एक पहाडी मे मनियार मठ के समीप सोनभडार नामक जैन-गुफा उल्लेखनीय है । निर्माण की दृष्टि से यह अतिप्राचीन प्रतीत होता है । प्र०-द्वि० शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न वैरदेवमुनि ने यहा जैन मुनियो के निवासार्थ दो गुफाए निर्माण करवाई, और उनमे अर्हन्तो की मूर्तिया प्रतिष्ठित कराई । एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैन-प्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहाँ अब भी विद्यमान हैं । जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख मे उल्लेख है, वह निश्चयत उसके ही पार्श्व मे स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है । दिगम्बर परम्परा मे वैरजस का नाम आता है, और वे त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे प्रज्ञाश्रमणो मे अन्तिम कहे गये हैं । श्वे० परम्परा मे अज्ज-वैर का नाम आता है, और वे पदानुसारी कहे गये है । प्रज्ञाश्रमणत्व और पदानुसारित्व, ये दोनो बुद्धि ऋद्धि के उपभेद है, और षठ्खडागम के वेदनाखड मे पदानुसारी तथा प्रज्ञाश्रमण दोनो को नमस्कार किया गया है । इसप्रकार ये दोनो उल्लेख एक ही आचार्य के हो तो आश्चर्य नही । कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवेर का काल वीर निर्वाण से ४९६ से लेकर ५८४ वर्ष तक पाया जाता है, जिसके अनुसार वे प्रथम शती ई० पू० व पश्चात् के सिद्ध होते है । सोन भडार गुफा उन्ही के समय मे निर्मित हुई हो तो आश्चर्य नही ।

प्रयाग तथा कौसम (प्राचीन कौशाम्बी) के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान मे दो गुफाए है, जिनमे शुग-कालीन (ई० पू० द्वितीय शती) लिपि मे लेख हैं । इन लेखो मे कहा गया है कि इन गुफाओ को अहिच्छत्रा के आषाढसेन ने काश्य-पीय अर्हन्तो के लिये दान किया । ध्यान रखना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर कश्यप गोत्रीय थे । सम्भव है उन्ही के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे । इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल मे महावीर के अनुयाइयो के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि सघ सम्भवत- पार्श्वनाथ के अनुयाइयो का रहा होगा जो क्रमश. महावीर की मुनि-परम्परा मे ही विलीन हो गया ।

जूनागढ (कठियावाड) के वावा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाए है, जो तीन पक्तियो मे स्थित है । एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग मे और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है । ये सब गुफाए दो भागो मे विभक्त की जा सकती है—एक तो चैत्य-गुफाए और तत्सबधी साधा-रण कोठरिया है जो वर्जेस साहब के मतानुसार सम्भवत ई० पू० द्वितीय शती की है, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात मे पहुचे । दूसरे भाग मे वे गुफाए व शालागृह है जो प्रथमभाग की गुफाओ से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं,

और जिनमे जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ई० की द्वितीय अर्थात् क्षत्रप राजाओ के काल की सिद्ध होती हैं। जैनगुफाओं मे की एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है। इस गुफा से जो खडित लेख मिला है उसमे क्षत्रप राजवश का तथा चष्टन के प्रपौत्र व जयदामन् के पोत्र रुद्रसिंह प्रथम का उल्लेख है। लेख पूरा न पढे जाने पर भी उसमे जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द पढे गये हैं उनसे, तथा गुफा मे अकित स्वस्तिक, भद्रासन, मीनयुगल आदि प्रख्यात जैन मागलिक चिन्हो के चित्रित होने से, वे जैन साधुओ की व सम्भवत. दिगबर परम्परानुसार अतिम अग-ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्धित अनुमान की जाती है। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने धर सेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्र-गुफा के निवासी कहा है(देखो महावध भाग२ प्रस्ता०)प्रस्तुत गुफासमूह मे एक गुफा ऐमी है जो पार्श्वभाग मे एक अर्द्धचन्द्राकार विविक्त स्थान से युक्त है। यद्यपि भाजा, कार्ली व नासिक की बौद्ध गुफाओ से इस बात मे समता रखने के कारण यह एक वौद्ध गुफा अनुमान की जाती है, तथापि यही धवलाकार द्वारा उल्लिखित धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो तो आश्चर्य नही। (दे० वर्जेस एटीक्विटीज ओफ कच्छ एण्ड काठियावाड १८७४-७५ पृ० १३९ आदि, तथा साकलिया आर्केओ-लोजी आफ गुजरात, १९४१)। इसी स्थान के समीप ढक नामक स्थान पर भी गुफाए हैं, जिनमे ऋषभ पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ है। ये सभी गुफाएँ उसी क्षत्रप काल अर्थात् प्र० द्वि० शती की सिद्ध होती है। जैन साहित्य मे ढक पर्वत का अनेक स्थानो पर उल्लेख आया है, वह पादलिप्त सूरि के शिष्य नागार्जुन यही के निवासी कहे गये है। (देखो रा० शे० कृत प्रवन्धकोश व विवधतीर्थकल्प)।

पूर्व मे उदयगिरि खडगिरि व पश्चिम मे जूनागढ के पश्चात् देश के मध्यभाग मे स्थित उदयगिरि की जैन गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। यह उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर से उत्तर-पश्चिम की ओर वेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर है। इन पहाडो पर पुरातत्व विभाग द्वारा अकित या सख्यात २० गुफाएँ व मदिर हैं। इनमे पश्चिम की ओर की प्रथम पूर्व दिशा मे स्थित बीसवी, ये दो स्पष्ट रूप से जैन गुफाए हैं। पहली गुफा को कनिंघम ने झूठी गुफा नाम दिया है, क्योकि वह किसी चट्टान को काटकर नही बनाई गई, किन्तु एक प्राकृतिक कदरा है, तथापि ऊपर की चट्टान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खभे खडे कर दिये हैं, जिससे उसे गुफा-मदिर की आकृति प्राप्त हो गई है। स्तम्भ घट व पत्रावलि-प्रणाली के बने हुए हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आदि मे जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृ-

तिक गुफाओ को अपना निवासस्थान वना लेते थे। उस अपेक्षा से यह गुफा भी ई० पू० काल से ही जैन मुनियो की गुफा रही होगी। किन्तु इसका सस्कार गुप्त-काल मे जैसा कि वहा के स्तम्भो आदि की कला तथा गुफा मे खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख मे चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। जिससे गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है। और जिससे उसका काल चौथी शती का अतिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व दिशावर्ती वीसवी गुफा मे पार्श्वनाथ तीर्थंकर की अतिभव्य मूर्ति विरामान है। यह अब बहुत कुछ खडित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहा भी एक सस्कृत पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त सवत् १०६ (ई० सन् ४२६, कुमारगुप्त काल) मे कार्तिक कृष्ण पचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शकर द्वारा की गई थी। इस शकर ने अपना जन्मस्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश वतलाया है।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल (ई०पू० चौथी शती) मे हुए थे, और उत्तर भारत मे बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पडने पर जैन सघ को लेकर दक्षिण भारत मे गये, तथा मैसूर प्रदेशान्तर्गत श्रवणवेलगोला नामक स्थान पर उन्होने जैन केन्द्र स्थापित किया। इस समय भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्यपाट त्यागकर उनके शिष्य हो गये थे, और उन्होने भी श्रवणवेलगोला की उस पहाडी पर तपस्या की, जो उनके नाम से ही चन्द्रगिरि कहलाई। इस पहाडी पर प्राचीन मदिर भी है, जो उन्ही के नाम से चन्द्रगुप्त बस्ति कहलाता है। इसी पहाडी पर एक अत्यन्त साधारण व छोटी सी गुफा है, जो भद्रबाहु की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा मे देहोत्सर्ग किया था। वहाँ उनके चरण-चिन्ह अकित हैं और पूजे जाते है। दक्षिण भारत मे यही सबसे प्राचीन जैन गुफा सिद्ध होती है।

महाराष्ट्र प्रदेश मे उस्मानाबाद से पूर्वोत्तर दिशा मे लगभग १२ मील की दूरी पर पर्वत मे एक प्राचीन गुफा-समूह है। वे एक पहाडी दर्रे के दोनो पार्श्वों मे स्थित है, चार उत्तर की ओर व तीन दूसरे पार्श्व मे पूर्वोत्तरमुखी। इन गुफाओ मे मुख्य व विशाल गुफा उत्तर की गुफाओ मे दूसरी है। दुर्भाग्यत इसकी ऊपरी चट्टान भग्न होकर गिर पडी है, केवल कुछ बाहरी भाग नष्ट होने से वचा है। उसकी हाल मे मरम्मत भी की गई है। इसका बाहरी बरा-मदा ७८ × १० ४, फुट है। इसमे छह या आठ खभे हैं, और भीतर जाने के लिये पाच द्वार। भीतर की शाला ८० फुट गहरी है, तथा चौडाई मे द्वार की ओर ७९ फुट व पीछे की ओर ८५ फुट है। इसकी छत ३२

आधारित है, और ये खंभे चौकोर दो पंक्तियों में बने हुए हैं। छत की ऊंचाई लगभग १२ फुट है। इसकी दोनों पार्श्व की दीवालों में आठ-आठ व पीछे की दीवाल में छह कोठरियां हैं, जो प्रत्येक लगभग ९ फुट चौकोर है। ये कोष्ठ साधारण रीति के बने हुए है, जैसे प्राय: बौद्ध गुफाओं में भी पाये जाते हैं। पश्चिमोत्तर कोने के कोष्ठ के तलभाग में एक गड्ढा है, जो सदैव पानी से भरा रहता है। शाला के मध्य में पिछले भाग की ओर देवालय है, जो १९ ३ × १५ फुट लंबा-चौडा व १३ फुट ऊंचा है, जिसमे पार्श्वनाथ तीर्थंकर की भव्य प्रतिमा विराजमान है। शेष गुफाएं अपेक्षाकृत इससे बहुत छोटी है। तीसरी व चौथी गुफाओं में भी जिन-प्रतिमाएं विद्यमान हैं। तीसरी गुफा के स्तम्भों की बनावट कलापूर्ण है। बर्जेस साहब के मत से ये गुफाएं अनुमानत: ई० पू० ५००-६५० के बीच की है। (आर्के० सर्वे० ऑफ वेस्टर्न इंडिया वॉ० ३)

इस गुफा-समूह के संबंध में जैन साहित्यिक परम्परा यह है कि यहां तेरापुर के समीप पर्वत पर महाराज करकंड ने एक प्राचीन गुफा देखी थी। उन्होंने स्वयं यहां अन्य कुछ गुफाएं बनवाई, और पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जिस प्राचीन गुफा को देखा था, उसके तलभाग में एक छिद्र से जलवाहिनी निकली थी, जिससे समस्त गुफा भर गई थी। इसका, तथा प्राचीन पार्श्वनाथ की मूर्ति का सुन्दर वर्णन कनकामर मुनि कृत अपभ्रंश काव्य 'करकंडचरिउ' में मिलता है, जो ११ वीं शती की रचना है। करकंड का नाम जैन व बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रत्येक बुद्ध के रूप में पाया जाता है। उनका काल, जैन मान्यतानुसार, महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ के तीर्थ में पडता है। इस प्रकार यहां की गुफाओं को जैनी अति प्राचीन (लगभग ई० पू० ९ वीं शती की) मानते हे

इतना तो सुनिश्चित है कि ११ वीं शती के मध्यभाग में जब मुनि कनकामर ने करकंडचरिउ लिखा, तब तेरापुर (धाराशिव) की गुफा बडी विशाल थी, और बडी प्राचीन समझी जाती थी। तेरापुर के राजा शिव ने करकंडु को उसका परिचय इस प्रकार कराया था—

एत्थत्थि देव पच्छिमदिसाहि। अइरिणयडउ पव्वउ रम्मु ताहि ॥
तहि अत्थि लयणु णयणावहारि। थभाण सहासहि ज पि धारि ॥
(क० च० ४, ४)।

करकंडु उक्त पर्वत पर चढे और ऐसे सघन वन में से चले जो सिंह, हाथी, शूकर, मृग, व वानरों आदि से भरा हुआ था।

थोवतरि तहि सो चडइ जाम। करकंडइ दिट्ठउ लयणु ताम ॥
ण हरिण अमर-विमाणु दिट्ठु। करकंड णराहिउ तहि पविट्ठु ॥

सो धण्णु सलक्खणु हुरिय-दमु । जें लयणु कराविउ सहसखमु ॥
(क० च० ४, ५) ।

अर्थात् पर्वत पर कुछ ऊपर चढने पर उन्होने उस लयण (गुफा) को ऐसे देखा जैसे इन्द्र ने देवविमान को देखा हो । उसमे प्रवेश करने पर करकडु के मुख से हठात् निकल पडा कि धन्य है वह सुलक्षण पुण्यवान् पुरुष जिसने यह सहस्त्रस्तभ लयन बनवाया है ।

दक्षिण के तामिल प्रदेश मे भी जैन धर्म का प्रचार व प्रभाव वहुत प्राचीन काल से पाया जाता है । तामिल साहित्य का सबसे प्राचीन भाग 'सगम युग' का माना जाता है, और इस युग की प्राय समस्त प्रधान कृतिया तिरुकुरल आदि जैन या जैनधर्म से सुप्रभावित सिद्ध होती है । जैन द्राविडसघ का सगठन भी सुप्राचीन पाया जाता है । अतएव स्वाभाविक है कि इस प्रदेश मे भी प्राचीन जैन सस्कृति के अवशेष प्राप्त हो । जैन मुनियो का एक प्राचीन केन्द्र पुडुकोट्टाई से वायव्य दिशा मे ९ मील दूर सित्तन्नवासल नामक स्थान रहा है । यह नाम सिद्धाना वास से अपभ्रष्ट होकर वना प्रतीत होता है । यहा के विशाल शिला-टीलो मे वनी हुई एक जैन गुफा बडी महत्वपूर्ण है । यहाँ एक ब्राह्मी लिपी का लेख भी मिला है, जो ई० पू० तृतीय शती का (अशोक-कालीन) प्रतीत होता है । लेख मे स्पष्ट उल्लेख है कि गुफा का निर्माण जैन मुनियो के निमित्त कराया गया था । यह गुफा वडी विशाल १००×५० फुट है । इसमे अनेक कोष्ठक है, जिनमे समाधि-शिलाए भी वनी हुई हैं । ये शिलाए ६×४ फुट हैं । वास्तुकला की दृष्टि से तो यह गुफा महत्वपूर्ण है ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्व उसकी चित्रकला का है, जिसका विवरण आगे किया जायगा । गुफा का यह सस्कार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् (आठवी शती) के काल मे हुआ है ।

दक्षिण भारत मे बादामी की जैन गुफा उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल अनुमानत सातवी शती का मध्यभाग है । यह गुफा १६ फुट गहरी तथा ३१×१९ फुट लम्बी-चौडी है । पीछे की ओर मध्य भाग मे देवालय है, और तीनो पार्श्वो की दीवालो मे मुनियो के निवासार्थ कोष्ठक वने हैं । स्तम्भो की आकृति एलीफेन्टा की गुफाओ के सदृश है । यहा चमरधारियो सहित महावीर तीर्थंकर की मूल पद्मासन मूर्ति के अतिरिक्त दीवालो व स्तम्भो पर भी जिन-मूर्तिया खुदी हुई हैं । माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८ वी शती) ने राज्य त्यागकर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा मे निवास किया था । गुफा के वरामदो मे एक ओर पार्श्वनाथ व दूसरी ओर वाहुबली की लगभग ७½

फुट ऊची प्रतिमाए उत्कीर्ण है।

बादामी तालुके मे स्थित ऐहोल नामक ग्राम के समीप पूर्व और उत्तर की ओर गुफाए है, जिनमे भी जैनमूर्तिया विद्यमान है। प्रधान गुफाओ की रचना बादामी की गुफा के ही सदृश है। गुफा बरामदा, मडप व गर्भगृह मे विभक्त है। बरामदे मे चार खभे है, और उसकी छत पर मकर, पुष्प आदि की आकृतिया बनी हुई हैं। बाई भित्ति मे पार्श्वनाथ की मूर्ति है, जिसके एक ओर नाग व दूसरी ओर नागिनी स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्त्रफणा युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बडी महत्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतिया व चिन्ह भी प्रचुर मात्रा मे विद्यमान हैं। सिंह, मकर व द्वारपालो की आकृतिया भी कलापूर्ण है, और ऐलीफेन्टा की आकृतियों का स्मरण कराती है। गुफाओ से पूर्व की ओर वह मेघुटी नामक जैन मदिर है जिसमे चालुक्य नरेश पुलकेशी व शक स० ५५६ (ई० ६३४) का उल्लेख है। यह शिलालेख अपनी सस्कृत काव्य शैली के विकास में भी अपना स्थान रखता है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति ने अपने को काव्य के क्षेत्र मे कालिदास और भारवि की कीर्ति को प्राप्त कहा है। यथार्थत कालि दास व भारवि के काल-निर्णय मे यह लेख बडा सहायक हुआ है, क्योकि इसी से उनके काल की अन्तिम सीमा प्रामाणिक रूप से निश्चित हुई है। ऐहोल सम्भवत 'आर्यपुर' का अपभ्रष्ट रूप है।

गुफा-निर्माण की कला एलोरा मे अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह स्थान यादव नरेशो की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग १६ मील दूर है, और वहा का शिलापर्वत अनेक गुफा-मदिरो से अलकृत है। यहीं कैलाश नामक शिव मदिर है जिसकी योजना और शिल्पकला इतिहास-प्रसिद्ध है। यहा बौद्ध, हिन्दू व जैन, तीनो सम्प्रदायो के शैल मदिर बडी सुन्दर प्रणाली के बने हुए है। यहा पाच जैन गुफाए हैं, जिनमे से तीन अर्थात् छोटा कैलाश, इन्द्रसभा व जगन्नाथ सभा कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। छोटा कैलाश एक ही पाषाण-शाला को काटकर बनाया गया है, और उसकी रचना कुछ छोटे आकार मे उपर्युक्त कैलाश मदिर का अनुकरण करती है। समूचा मदिर ८० फुट चौडा व १३० फुट ऊचा है। मडप लगभग ३६ फुट लम्बा-चौडा है, और उसमे १६ स्तम्भ है। इन्द्रसभा नामक गुफा मदिर की रचना इस प्रकार है—पाषाण मे बने हुए द्वार से भीतर जाने पर कोई ५०×५० फुट चौकोर प्रागण मिलता है, जिसके मध्य मे एक पाषाण से निर्मित द्राविडी शैली का चैत्यालय है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है, व उसके सम्मुख बाई ओर ३२ फुट ऊँचा ध्वज-स्तम्भ है। यहा से घूमकर पीछे की ओर

जाने पर वह दुतल्ला सभागृह मिलता है जो इन्द्रसभा के नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनो तल्लो मे प्रचुर चित्रकारी बनी हुई है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा रहा प्रतीत होता है, जिससे यह बात भी सिद्ध होती है कि इन गुफाओ का उत्कीर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की शाला १२ सुखचित स्तम्भो से अलकृत है। शाला के दोनो ओर भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमाए है, और पार्श्व कक्ष मे इन्द्र व हाथी की मूर्तिया बनी हुई हैं। इन्द्रसभा की एक बाहिरी दीवाल पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उन पर किये गये उपसर्ग का बहुत सुन्दर व सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानस्थ हैं, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है व एक नागिनी छत्र धारण किये हैं। दो अन्य नागिनी भक्ति, आश्चर्य व दुख की मुद्रा मे दिखाई देती हैं। एक ओर भैंसे पर सवार असुर रौद्र मुद्रा मे शस्त्रास्त्रो सहित आक्रमण कर रहा हैं, व दूसरी ओर सिंह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिये उद्यत हैं। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुप भक्तिपूर्वक हाथ जोडे खडे हैं। दक्षिण की दीवाल पर लताओं से लिपटी बाहुबलि की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये सब तथा अन्य शोभापूर्ण आकृतिया अत्यन्त कलापूर्ण हैं। अनुमानत इन्द्रसभा की रचना तीर्थंकर के जन्म कल्याणकोत्सव की स्मृति मे हुई हैं, जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान् का अभिषेक करने जाता हैं। इन्द्रसभा की रचना के सबध मे पर्सी ब्राउन साहब ने कहा है कि "इसकी रचना ऐसी सर्वांगपूर्ण, तथा शिल्पकला की चातुरी इतनी उत्कृष्ट हैं कि जितनी एलोरा के अन्य किसी मदिर मे नही पाई जाती। भित्तियो पर आकृतियो का उत्कीर्णन ऐसा सुन्दर तथा स्तम्भो का विन्यास ऐसे कौशल से किया गया है कि उसका अन्यत्र कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता।"

इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय हैं, जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश ही है, यद्यपि प्रमाण मे उससे छोटा हैं। द्वार का तोरण कलापूर्ण हैं। चैत्यालय मे सिंहासन पर महावीर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति हैं। दीवालों व स्तम्भो पर प्रचुरता से नाना प्रकार की सुन्दर मूर्तिया बनी हुई है। किंतु अपने रूप मे सौन्दर्यपूर्ण होने पर भी सतुलन व सौष्ठव की दृष्टि से जो उत्कर्ष इन्द्रसभा की रचना मे दिखाई देता है, वह यहा व अन्यत्र कही भी नही हैं। इन गुफाओ का निर्माणकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता हैं। बस, इस उत्कर्ष पर पहुचकर केवल जन-परम्परा मे ही नही, किन्तु भारतीय परम्परा मे गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त हो जाता है, और स्वतत्र मदिर निर्माण की कला उसका स्थान ग्रहण करती है।

नवमी शती का एक शिलामदिर दक्षिण त्रावणकोर मे त्रिवेन्द्रमनगरकावल,

मार्ग पर स्थित कुजीयुर नामक ग्राम मे पाच मील उत्तर की ओर पहाडी पर है, जो अब श्री भगवती मदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मदिर पहाडी पर स्थित एक विशाल शिला को काटकर बनाया गया है, और सामने की ओर तीन ओर पाषाण-निर्मित भित्तियों से उसका विस्तार किया गया है। शिला के गुफा-भाग के दोनो प्रकोष्ठो मे विशाल पद्मासन जिनमूर्तिया सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। शिला का समस्त आभ्यतर व बाह्य भाग जैन तीर्थंकरो की कोई ३० उत्कीर्ण प्रतिमाओ से अलकृत है। कुछ के नीचे केरल की प्राचीन लिपि वत्तजेत्थु मे लेख भी हैं, जिनमे उस स्थान का जैनत्व तथा निर्मितिकाल नौवीं शती सिद्ध होता है। यत्र-तत्र जो भगवती देवी की मूर्तिया उत्कीर्ण हैं, वे स्पष्टत उत्तरकालीन है। (जै० एण्टी० ८।१, पृ० २९)

अकाई-तकाई नामक गुफा-समूह येवला तालुके मे मनमाड रेलवे जंकशन से नौ मील दूर अकाई नामक स्टेशन के समीप स्थित है। लगभग तीन हजार फुट ऊची पहाडियो मे सात गुफाए हैं, जो हैं तो छोटी-छोटी, किन्तु कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रथम गुफा मे बरामदा, मडप व गर्भगृह है। सामने के भाग के दोनो खंभो पर द्वारपाल उत्कीर्ण हैं। मडप का द्वार प्रचुर आकृतियो से पूर्ण है; अकन बडी सूक्ष्मता से किया गया है। वर्गाकार मडप चार खम्भो पर आधारित है। गर्भगृह का द्वार भी शिल्पपूर्ण है। गुफा दुतल्ली है, व ऊपर के तल्ले पर भी शिल्पकारी पाई जाती है। दूसरी गुफा भी दुतल्ली हैं। नीचे का बरामदा २३×१२ फुट है। उसके दोनो पार्श्वो मे स्वतन्त्र पाषाण की मूर्तिया हैं, जिनमे इन्द्र-इन्द्राणी भी है। सीढियो से होकर दूसरे तल पर पहुँचते ही दोनो पार्श्वो मे विशाल सिंहो की आकृतियाँ मिलती है। गर्भगृह ९×६ फुट है। तीसरी गुफा के मडप की छत पर कमल की आकृति बडी सुन्दर है। उसकी पखुडिया चार कतारो मे दिखाई गई हैं, और उन पखुडियो पर देविया वाद्य सहित नृत्य कर रही हैं। देव-देवियो के अनेक युगल नाना वाहनो पर आरूढ है। स्पष्टत. यह दृश्य तीर्थंकर के जन्म कल्याणक के उत्सव का है। गर्भगृह मे मनुष्याकृति शातिनाथ व उनके दोनो ओर पार्श्वनाथ की मूर्तिया हैं। शातिनाथ के सिंहासन पर उनका मृग लाछन, धर्मचक्र, व भक्त और सिंह की आकृतिया बनी हैं। कधो के ऊपर से विद्याधर और उनसे भी ऊपर गजलक्ष्मी की आकृतिया है। ऊपर से गधर्वो के जोडे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। सबसे ऊपर तोरण बना है। चौथी गुफा का बरामदा ३०×८ फुट है, एव मडप १८ फुट ऊचा व २४×२४ फुट लबा-चौडा है। बरामदे के एक स्तम्भ पर लेख भी है, जो पढा नही जा सका, किन्तु लिपि पर से ११ वी शती का अनुमान किया जाता हैं। शैली आदि अन्य बातो पर से भी इन गुफाओ का निर्माण-काल यही प्रतीत

होता हैं। शेष गुफाए ध्वस्त अवस्था मे है।

यद्यपि गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पूर्व समाप्त हो चुका था, तथापि जैनी १५ वीं शती तक भी गुफाओ का निर्माण कराते रहे। इसके उदाहरण है तोमर राजवश कालीन ग्वालियर की जैन गुफाए। जिस पहाडी पर ग्वालियर का किला बना हुआ है, वह कोई दो मील लम्बी, आधा मील चौडी, तथा ३०० फुट ऊची है। किले के भीतर स्थित सास-बहू का मदिर सन् १०९३ का बना हुआ है, और आदित. जैन मन्दिर रहा है। किन्तु इस पहाडी मे जैन गुफाओ का निर्माण १५ वी शती मे हुआ पाया जाता है। सम्भवत. यहाँ गुफा निर्माण की प्राचीन परम्परा भी रही होगी, और वर्तमान मे पाई जाने वाली कुछ गुफाए १५ वी शती से पूर्व की हो तो आश्चर्य नही। किन्तु १५ वी शती मे तो जैनियो ने समस्त पहाडी को ही गुफामय कर दिया है। पहाडी के ऊपर, नीचे व चारो ओर जैन गुफाए विद्यमान हैं। इन गुफाओ मे वह योजना-चातुर्य व शिल्प-सौष्ठव नही है जो हम पूर्वकालीन गुफाओ मे देख चुके हैं। परन्तु इन गुफाओ की विशेषता है उनकी सख्या, विस्तार व मूर्तियो की विशालता। गुफाए बहुत बडी-बडी हैं, व उनमे तीर्थंकरो की लगभग ६० फुट तक ऊची प्रतिमाए देखने को मिलती हैं। उर्वाही द्वार पर के प्रथम गुफा-समूह मे लगभग २५ विशाल तीर्थंकर मूर्तिया है, जिनमे से एक ५७ फुट ऊची है। आदिनाथ व नेमिनाथ की ३० फुट ऊची मूर्तिया हैं। अन्य छोटी-बडी प्रतिमाए भी हैं, किन्तु उनकी रचना व अलकरण आदि मे कोई सौन्दर्य व लालित्य नही दिखाई देता। यहा से आधा मील ऊपर की ओर दूसरा गुफा-समूह है, जहा २० से ३० फुट तक की अनेक मूर्तियाँ उत्कीर्ण है। बावडी के समीप के एक गुफापुज मे पार्श्वनाथ की २० फुट ऊची पद्मासन मूर्ति, तथा अन्य तीर्थंकरो की कायोत्सर्ग मुद्रायुक्त अनेक विशाल मूर्तिया हैं। इसी के समीप यहा की सबसे विशाल गुफा है, जो यथार्थत मदिर ही कही जा सकती है। यहाँ की प्रधान मूर्ति लगभग ६० फुट ऊँची है। इन गुफा-मदिरो मे अनेक शिलालेख भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन गुफाओ की खुदाई सन् १४४१ से लेकर १४७४ तक ३३ वर्षो मे पूर्ण हुई। यद्यपि कला की दृष्टि से ये गुफाए अवनति की सूचक हैं, तथापि इतिहास की दृष्टि से उनका महत्व है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सैकडो जैन गुफाए देश भर के भिन्न-भिन्न भागो की पहाडियो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई पाई जाती है। इनमे से अनेक का ऐतिहासिक व कला की दृष्टि से महत्व भी है, किन्तु उनका इन दृष्टियो से पूर्ण अध्ययन किया जाना शेष है। स्टैला क्रैमरिश के मतानुसार, देश मे १२०० पाषाणोत्कीर्ण मदिर पाये जाते हैं, जिनमे से ९०० बौद्ध, १०० हिन्दू और २०० जैन गुफा मदिर हैं। (हिन्दू टेम्पिल्स, पृ० १६८)।

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण मे, फिर गुफा-चैत्यो व विहारो मे, और तत्पश्चात् मदिरो के निर्माण मे पाया जाता है। स्तूपो व गुफाओ का विकास जैन परम्परा मे किस प्रकार हुआ, यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मदिरो के निर्माण मे ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरो के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वी शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं। इन मन्दिरो के निर्माण मे अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरो का निर्माण विना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नही हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा चैत्यो के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओ मे देख चुके है। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतन्त्र मन्दिरो के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतन्त्र सरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरो के शिल्प मे बडा भेद है, जिसके विकास मे भी अनेक शतिया व्यतीत हुई होगी। इस सम्बन्ध मे उक्त काल से प्राचीनतम मन्दिरों का अभाव वहुत खटकता है।

प्राचीनतम वौद्ध व हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की जो पाँच शैलिया नियत की गई है, वे इस प्रकार है—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमडप रहता है। (२) द्वारमडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा भी वनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतल्ले भी वनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी वना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग अर्द्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (वैरल) के आकार का वनता था। (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है।

इन शैलियो मे से चतुर्थ शैली का विकास वौद्धो की चैत्यशालाओ से व पाँचवीं का स्तूप-रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उसमानावाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व चेजरला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर मे पाये जाते हैं। ये चौथी-पांचवी शती के वने है, और आकार मे छोटे है। इस शैली के दो अवान्तर भेद किये जाते हैं, एक नागर व दूसरा द्राविड, जो आगे चलकर विशेप विकसित हुए, किन्तु जिनके वीज उपर्युक्त उदाहरण में ही पाये जाते है। पाँचवी शैली का उदाहरण राजगृह के मणियार मठ (मणिनाग का मन्दिर) मे मिलता है। प्रथम शैली के वने हुए

मन्दिर सांची, तिगवा और ऐरण मे विद्यमान है। दूसरी शैली के उदाहरण हैं—नाचना-कुठारा का पार्वती मन्दिर तथा भूमरा (म० प्र०) का शिव मन्दिर (५-६ वी शती) आदि। इसी शैली का उपर्युक्त ऐहोल का मेघुटी मन्दिर है। तीसरी शैली के उदाहरण हैं—देवगढ (जिला झांसी) का दशावतार मन्दिर तथा भीतरगांव (जिला कानपुर) का मन्दिर व बोध गया का महाबोधि मन्दिर, जिस रूप मे कि उसे चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग ने देखा था। ये मन्दिर छठी शती के अनुमान किये जाते हैं।

जैन आयतन, चैत्यगृह, बिंब और प्रतिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्राचीनतम जैन शास्त्रों मे पाये जाते हैं (कुंदकुंद बोधपाहुड, ६२, आदि) दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-वन्दना मे उन सिद्धक्षेत्रो को नमन करने का नियम है जहा से जैन तीर्थंकरो व अन्य मुनियो ने निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाण काड नामक प्राकृत नमन स्त्रोत मे निम्न सिद्धक्षेत्रों को नमस्कार किया गया है —

सिद्धक्षेत्र	ज्ञात नाम व स्थिति	किसका निर्वाण हुआ
१ अष्टापद	(कैलाश हिमालय मे)	प्र तीर्थंकर ऋषभ, नागकुमार, व्याल-महाव्याल
२ चम्पा	भागलपुर (विहार)	१२ वे तीर्थ० वासुपूज्य
३ ऊर्जयन्त	गिरनार (काठियावाड)	२२ वें तीर्थ० नेमिनाथ, प्रद्युम्न,
४ पावा	पावापुर (पटना, विहार)	२४ वें तीर्थ० महावीर
५ सम्मेदशिखर	पारसनाथ (हजारीबाग, विहार)	शेष २० तीर्थंकर
६ तारनगर	तारगा	वरदत्त, वराग, सागरदत्त
७ पावागिरी	ऊन (खरगोन, म प्र)	लाट नरेन्द्र, सुवर्णभद्रादि
८ शत्रुजय	काठियावाड	पाडव व द्रविड नरेन्द्र
९ गजपथ	नासिक (महाराष्ट्र)	बलभद्र व अन्य यादव नरेन्द्र
१० तुगीगिरी	मागीतुगी (महाराष्ट्र)	राम, हनु, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील
११ सुवर्णगिरी	सोनागिरी (झासी, उ प्र)	नग-अनगकुमार
१२ रेवातट	ओंकार मान्धाता (म प्र	रावण के पुत्र
१३ सिद्धवरकूट	,, ,,	दो चक्रवर्ती
१४ चूलगिरी	बावनगजा (बडवानी, म प्र)	इन्द्रजित्, कुंकर्ण

१५	द्रोणगिरी	फलहोडी(फलौदी,राजस्थान)	गुरुदत्तादि
१६	मेढगिरी	मुक्तागिर वैतूल, (म प्र)	साढे तीन कोटी मुनि
१७	कुथलगिरी	वशस्थल (महाराष्ट्र)	कुलभूषण, देशभूषण
१८	कोटिशिला	कलिंगदेश (?)	यशोधर राजा के पुत्र
१९	रैशिदागिरी	(?)	वरदत्तादि पाच मुनि पार्श्वनाथ काल के

इनके अतिरिक्त प्राकृत अतिशय-क्षेत्रकाड मे मगलापुर, अस्सारम्य, पोदनपुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, जबुवन निवडकु डली, होलागिरी और गोम्मटेश्वर की वन्दना की गई है। इन सभी स्थानो पर, जहा तक उनका पता चल सका है, एक व अनेक जिनमन्दिर, नाना काल के निर्मापित, तीर्थंकरो के चरण-चिन्हो व प्रतिमाओ सहित आज भी पाये जाते हैं और प्रतिवर्ष सहस्त्रो यात्री उनकी वन्दना कर अपने को धन्य समझते हैं।

सबसे प्राचीन जैन मन्दिर के चिन्ह बिहार मे पटना के समीप लोहानीपुर मे पाये गये हैं, जहा कुमराहर और बुलदीबाग की मौर्यकालीन कला कृतियो की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहा एक जैन मदिर की नीव मिली है। यह मदिर ८ १० फुट वर्गाकार था। यहा की ईंटे मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यही से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिनमूर्तिया मिली है, जो अब पटना सग्रहालय मे सुरक्षित है।

वर्तमान मे सबसे प्राचीन जैन मदिर जिसकी रूप रेखा सुरक्षित है, व निर्माण काल भी निश्चित है, वह है दक्षिण भारत मे बादामी के समीप ऐहोल का मेघुटी नामक जैन मदिर जो कि वहा से उपलब्ध शिलालेखानुसार शक सवत् ५५६ (ई०६३४) मे पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के राज्यकाल मे रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया था। ये रविकीर्ति मदिर-योजना मे ही नही, किन्तु काव्य-योजना मे भी अतिप्रवीण और प्रतीभाशाली थे। यह बात उक्त शिलालेख की काव्य-रचना से तथा उसमे उनकी इस स्वय उक्ति से प्रमाणित होती है कि उन्होने कविता के क्षेत्र मे कालिदास व भारवि की कीर्ति प्राप्त की थी। इस उल्लेख से न केवल हमे रविकीर्ति की काव्यप्रतिमा का परिचय होता है, किन्तु उससे उक्त दो महा-कवियो के काल-निर्णय मे बडी सहायता मिली है, क्योकि इससे उनके काल की अन्तिम सीमा सुनिश्चित हो जाती है। यह मदिर अपने पूर्ण रूप मे सुरक्षित नही रह सका। उसका बहुत कुछ अश ध्वस्त हो चुका है। तथापि उसका इतना भाग फिर भी सुरक्षित है कि जिससे उसकी

योजना व शिल्प का पूर्णज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।

यह मन्दिर गुप्त व चालुक्य काल के उक्त शैलियो सवन्धी अनेक उदाहरणो मे सबसे पश्चात् कालीन है । अतएव स्वभावत इसकी रचना मे वह शैली अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई पाई जाती है । इसके तत्र व स्थापत्य मे एक विशेष उन्नति दिखाई देती है, तथा पूर्ण मन्दिर की कलात्मक सयोजना मे ऐसा सस्कार व लालित्य दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र नही पाया जाता । इसकी भित्तियो का वाह्य भाग सकरे स्तम्भाकार प्रक्षेपो से अलकृत है और ये स्तम्भ भी कोष्ठकाकार शिखरो से सुशोभित किये गये हैं । स्तम्भो के वीच का भित्ति भाग भी नाना प्रकार की आकृतियो से अलकृत करने का प्रयत्न किया गया है । मन्दिर की समस्त योजना ऐसी सतुलित व सुसगठित है कि उसमे पूर्वकालीन अन्य सव उदाहरणो से एक विशेष प्रगति हुई स्पष्ट प्रतीत होती है । मन्दिर लम्वा चतुष्कोण आकृति का है और उसके दो भाग हैं एक प्रदक्षिणा सहित गर्भगृह व दूसरा द्वारमडप । मडप स्तम्भो पर आघारित है, और मूलत सव ओर से खुला हुआ था, किन्तु पीछे दीवालो से घेर दिया गया है । मडप और गर्भगृह एक सकरे दालान से जुडे हुए हैं । इस प्रकार अलकृति मे यह मंदिर अपने पूर्वकालीन उदाहरणो से स्पष्टत वहुत वढा-चढा है, तथा अपनी निर्मित की अपेक्षा अपने आगे की वास्तुकला के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाला सिद्ध होता है ।

गुप्त व चालुक्य युग से पश्चात्कालीन वास्तुकला की शिल्प-शास्त्रो मे तीन शैलिया निर्दिष्ट की गई हैं—नागर, द्राविड और वेसर । सामान्यत. नागरशैली उत्तर भारत मे हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई । द्राविड दक्षिण मे कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक, तथा वेसर मध्य-भारत मे विन्ध्य पर्वत और कृष्णानदी के वीच । किन्तु यह प्रादेशिक विभाग कडाई से पालन किया गया नही पाया जाता । प्राय सभी शैलियो के मन्दिर सभी प्रदेशो मे पाये जाते हैं, तथापि आकृति-वैशिष्ट्य को समझने के लिये यह शैली-विभाजन उपयोगी सिद्ध हुआ है । यद्यपि शास्त्रो मे इन शैलियो के भेद विन्यास, निर्मिति तथा अलकृति की छोटी छोटी बातो तक का निर्देश किया गया है, तथापि इनका स्पष्ट भेद तो शिखर की रचना मे ही पाया जाता है । नागरशैली का शिखर गोल आकार का होता है, जिसके अग्रभागपर कलशाकृति बनाई जाती है । आदि मे सम्भवतः इस प्रकार का शिखर केवल वेदी के ऊपर रहा होगा, किन्तु क्रमश उसका इतना विस्तार हुआ कि समस्त मन्दिर की छत इसी आकार की वनाई जाने लगी । यह शिखराकृति औरो की अपेक्षा अधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण मानी गई है । इससे भिन्न द्राविड़ शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति ग्रहण

करता है, जो ऊपर की ओर क्रमश चारो ओर सिकुडता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाए व शिखराकृतियां उसके नीचे के तलो के कोणो पर भी स्थापित की जाती है जिससे मन्दिर की वाह्यकृति शिखरमय दिखाई देने लगती है। वेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है, जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टत प्राचीन चैत्यो की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्ही शैलियो, और विशेषत नागर व द्राविड शैलियो पर बने पाये जाते हैं।

ऐहोल का मेघुटी जैन मन्दिर द्राविड शैली का सर्वप्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मन्दिर इसी के समीप पट्टदकल ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित हैं। इसमे किसी प्रकार का उत्कीर्णन नही है, व प्रागण का घेरा पूरा बन भी नही पाया हैं। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टत द्राविडी शैली का है जो क्रमश सिकुडती हुई भूमिकाओ द्वारा ऊपर को उठता गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओ की कपोत-पालियो मे उसकी रूप-रेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी हैं। इस मदिर के निर्माण का काल भी वही ७ वी ८ वी शती है। यही शैली मद्रास से ३२ मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुर के सुप्रसिद्ध रथो के निर्माण मे पाई जाती हैं। वे भी प्राय इसी काल की कृतिया हैं।

द्राविड शैली का आगामी विकास हमे दक्षिण के नाना स्थानो मे पूर्ण व ध्वस्त अवस्था मे वर्तमान अनेक जैन मदिरो मे दिखाई देता है। इनमे से यहा केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। तीर्थहल्लि के समीप हुबच एक प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् ८९७ के एक लेख मे वहा के मदिर का उल्लेख हैं। किन्तु वहां के अनेक मदिर ११ वी शती मे वीरसान्तर आदि सान्तरवशी राजाओ द्वारा निर्मापित पाये जाते है। इनमे वही द्राविड शैली, वही अलकरणरीती तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भो की सत्ता पाई जाती है, जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप आदिनाथ का मदिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला हैं। जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के तख्तो से ढक दिया गया है। बाहरी दीवालो पर अत्युत्कृष्ट आकृतिया उत्कीर्ण है। किन्तु ये बहुत कुछ घिस व टूट फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मदिर का शिखर अब भी देखा जा सकता हैं। इस मदिर मे दक्षिण भारतीय शैली की कास्य मूर्तियो का अच्छा सग्रह है। इसी मदिर के समीप की पहाडी पर

बाहुबली मंदिर ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है। किन्तु उसका गर्भगृह, सुखनासी, मंडप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय है। इस काल की कला का पूर्ण परिचय कराने वाला पंचकूट बस्ति नामक मंदिर है जो ग्राम के उत्तरी बाह्य भाग में स्थित है। एक छोटे से द्वार के भीतर प्रांगण में पहुँचने पर हमें एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते हैं, जिस पर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। आगे मुख्य मंदिर के गर्भालय में एक स्तम्भमय मंडप से होकर पहुँचा जाता है। मंडप में भी जैन देवियां व यक्षिणियां स्थापित हैं। गर्भगृह के दोनों पार्श्वों में भी दो अपेक्षाकृत छोटी निसितियां हैं। इस मंदिर से उत्तर की ओर यह छोटा सा पार्श्वनाथ मंदिर है जिसकी छत की चित्रकारी से हमें तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्भुत स्वरूप देखने को मिलता है। इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मंदिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का बना है।

तीर्थहल्लि से अगुम्बे की ओर जाने वाले मार्ग पर गुड्डु नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊँची एक पहाड़ी है, जिस पर अनेक ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते हैं। एक पार्श्वनाथ मन्दिर अब भी इस पहाड़ी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियों व उर्वरा घाटियों को भव्यता प्रदान कर रहा है। पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुण्ड के तट पर इस मंदिर का उच्च अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है। सम्मुख मानस्तम्भ है। मंडप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं, तथा गर्भगृह में पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है। जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है, और ऊपर अपने सप्तमुखी फण की छाया किये हुए है। मूर्ति के शरीर पर नाग के दो लपेटे स्पष्ट दिखाई देते है, जैसा अन्यत्र प्रायः नही देखा जाता। पहाड के नीचे उतरते हुए हमे जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष मिलते है। तीर्थंकरो की सुन्दर मूर्तियां व चित्रकारी-युक्त पाषाण-खंड प्रचुरता मे यत्र-तत्र बिखरे दिखाई देते है, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इतिहास आंखो के सम्मुख झूल जाता है।

धारवाड जिले मे गडग रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर लकुंडी (लोक्कि गुंडी) नामक ग्राम है, जहाँ दो सुन्दर जैन मन्दिर हैं। इनमे के बडे मन्दिर मे सन् ११७२ ई० का शिलालेख है। यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मन्दिरो के समान विशाल पाषाण-खंडों से बिना किसी चूने-सीमेन्ट के निर्मित किया गया है। नाना भूमिकाओ द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविडी शिखर सुस्पष्ट है यहाँ खुरदुरे रेतीले पत्थर का नही, किन्तु चिकने काले पत्थर का

उपयोग किया गया, और इस परिवर्तन के अनुसार स्थापत्य मे भी कुछ सूक्ष्मता व लालित्य का वैशिष्ट्य आ गया है ऊपर की ओर उठती हुई भूमिकाओ की कपोतपालियाँ भी कुछ विशेष सूक्ष्मता व लालित्य को लिये हुए हैं। कोनो पर व बीच-बीच मे टोपियो के निर्माण ने एक नवीन कलात्मकता उत्पन्न की है, जो आगामी काल मे उत्तरोत्तर बढती गई है। ऊपर के तल्ले मे भी गर्भगृह व तीर्थंकर की मूर्ति है, तथा शिखर-भाग इतना ऊँचा उठा हुआ है कि जिससे एक विशेष भव्यता का निर्माण हुआ है। शिखर की स्तूपिका की बनावट मे एक विशेष सतुलन दिखाई देता है। भित्तियो पर भी चित्रकारी की विशेषता है। छोटे-छोटे कमानीदार आलो पर कीर्तिमुखो का निर्माण एक नई कला है, जो इससे पूर्व की कृतियो मे प्राय दृष्टिगोचर नही होती। ऐसे प्रत्येक आले मे एक-एक पद्मासन जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। भित्तिया स्तम्भाकृतियो से विभाजित हैं, जिनके कुछ अन्तरालो मे छोटी-छोटी मडपाकृतिया बनाई गई हैं। यहा महावीर भगवान् की बडी सुन्दर मूर्ति विराजमान थी जो इधर कुछ वर्षो से दुर्भाग्यत विलुप्त हो गई है। भीतरी मडप के द्वार पर पूर्वोक्त लेख खुदा हुआ है। ऊपर पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनो ओर चन्द्र-सूर्य दिखाये गये है। लकुडी के इस जैन मन्दिर ने द्राविड वास्तु-शिल्प को बहुत प्रभावित किया है।

द्राविड वास्तु-कला चालुक्य काल मे जिस प्रकार पुष्ट हुई वह हम देख चुके। इसके पश्चात् होय्सल राजवश के काल मे (१३ वी शती मे) उसमे और भी वैशिष्ट्य व सौष्ठव उत्पन्न हुआ जिसकी विशेषता है अलकरण की रीति मे समुन्नति। इस काल की वास्तु-कला, न केवल पूर्वकालीन पाषाणोत्कीर्णन कला को आगे बढाती है, किन्तु उस पर तत्कालीन दक्षिण भारत की चदन, हाथीदात व धातु की निर्मितियो आदि का भी प्रभाव पडा है। इसके फलस्वरूप पाषाण पर भी कारीगरो की छैनी अधिक कौशल से चली है। इस कौशल के दर्शन हमे जिननाथपुर व हलेबीड के जैन मन्दिरो मे होते हैं। जिननाथपुर श्रवण बेलगोला से एक मील उत्तर की ओर है। ग्राम का नाम ही बतला रहा है कि वहा जैन मन्दिरो की प्रख्याति रही है। यहा का शातिनाथ मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। इसे रेचिमय्य नामक सज्जन ने बनवाकर सन् १२०० ई० के लगभग सागरनन्दि सिद्धान्तदेव को सौंपा था। गर्भगृह के द्वारपालो की मूर्तिया देखने योग्य हैं। नवरग के स्तम्भो पर बडी सुन्दर व बारीक चित्रकारी की गई है। छतो की खुदाई भी देखने योग्य है। बाह्य भित्तियो पर रेखा-चित्रो व बेल-बूटो की प्रचुरता से खुदाई की गई है तथा तीर्थंकरो व यक्ष-यक्षियो आदि की प्रतिमाए भी सौन्दर्य-पूर्ण बनी हैं। गर्भगृह मे शान्तिनाथ

भगवान् की सिंहासनस्थ मूर्ति भी कौशलपूर्ण रीति से बनी है।

हलेबीड में होय्सलेश्वर मन्दिर के समीप हल्लि नामक ग्राम में एक ही घेरे के भीतर तीन जैन मन्दिर हैं, जिनमें पार्श्वनाथ मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। मन्दिर के अधिष्ठान व बाह्य भित्तियों पर बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। नवरंग मंडप में शिखर युक्त अनेक वेदिकाएं हैं, जिनमें पहले २४ तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित रही होंगी। इस की चित्रकारी इतनी उत्कृष्ट है कि जैसी सम्भवतः हलेबीड भर में अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। यह छत १२ अतिसुन्दर आकृति वाले काले पाषाण के स्तम्भों पर आधारित है। इन स्तम्भों की रचना, खुदाई और सफाई देखने योग्य है। उनकी घुटाई तो ऐसी की गई है कि उनमें आज भी दर्शक दर्पण के समान अपना मुख देख सकता है। पार्श्वनाथ की १४ फुट ऊंची विशाल मूर्ति सप्तफणी नाग से युक्त है। मूर्ति की मुखमुद्रा सच्चे योगी की ध्यान व शान्ति की छटा को लिये हुए है। शेष दो आदिनाथ व शांतिनाथ के मन्दिर भी अपना अपना सौन्दर्य रखते हैं। ये सभी मन्दिर १२ वीं शती की कृतियां हैं।

होय्सल काल के पश्चात् विजयनगर राज्य का युग प्रारम्भ होता है, जिसमें द्राविड वास्तु-कला का कुछ और भी विकास हुआ। इस काल की जैन कृतियों के उदाहरण गनीगित्ति, तिरुमलाइ, तिरुपरुत्तिकुंडरम्, तिरुप्पनमूर, मूडबिद्री आदि स्थानों में प्रचुरता से पाये जाते हैं। इन वर्तमान में सबसे प्रसिद्ध मूडबिद्री का चन्द्रनाथ मन्दिर है, जिसका निर्माण १४ वीं शती में हुआ है। यह मन्दिर एक घेरे के भीतर है द्वार से प्रवेश करने पर प्रांगण में अतिसुन्दर मानस्तम्भ के दर्शन होते हैं। मन्दिर में लगातार तीन मंडप-शालाएं हैं, जिनमें होकर विमान (शिखर युक्त गर्भगृह) में प्रवेश होता है। मंडपों के अलग-अलग नाम हैं—तीर्थंकर मंडप, गद्दी मंडप व चित्र मंडप। मन्दिर की बाह्याकृति काष्ठ-रचना का स्मरण कराती है। किन्तु भीतरी समस्त रचना पाषाणोचित ही है। स्तम्भ बड़े स्थूल और कोई १२ फुट ऊँचे हैं, जिनका निचला भाग चौकोर है व शेष ऊपरी भाग गोलाकार घुमावदार व कमल-कलियों की आकृतियों से अलंकृत है। चित्रमंडप के स्तम्भ विशेष रूप से उत्कीर्ण हैं। उन पर कमलदलों की खुदाई असाधारण सौष्ठव और सावधानी से की गई है।

जैन विहार का सर्वप्रथम उल्लेख पहाड़पुर (जिला राजशाही-बंगाल) के उस ताम्रपत्र के लेख में मिलता है जिसमें पंचस्तूप निकाय या कुल के निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनंदि तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों से अधिष्ठित विहार मन्दिर में अर्हन्तों की पूजा अर्चा के निमित्त अक्षयदान दिये जाने का उल्लेख है। यह गुप्त

स० १५६ (ई० ४७२) का है। लेख मे इस विहार की स्थिति वट-गोहाली मे वतलाई गई है। अनुमानत यह विहार वही होना चाहिये जो पहाडपुर की खुदाई से प्रकाश मे आया है। सातवी शती के पश्चात् किसी समय इस विहार पर वौद्धो का अधिकार हो गया, और वह सोमपुर महाविहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु ७ वी शती मे ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में इस विहार का कोई उल्लेख नही किया, जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक वह वौद्ध केन्द्र नही वना था। वैन्जामिन रोलेन्ड (आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर ऑफ इन्डिया) के मतानुसार अनुमानत पहले यह ब्राह्मणो का केन्द्र रहा है, और पीछे इस पर वौद्धो का अधिकार हुआ। किन्तु यह वात सर्वथा इतिहास-विरुद्ध है। एक तो उस प्राचीन काल मे उक्त प्रदेश मे ब्राह्मणो के ऐसे केन्द्र या देवालय आदि स्थापित होने के कोई प्रमाण नही मिलते, और दूसरे वौद्धो ने कभी ब्राह्मण आयतनो पर अधिकार किया हो, इसके भी उदाहरण पाना दुर्लभ है। उक्त ताम्रपत्र लेख के प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहा पाचवी शताब्दी मे जैन विहार विद्यमान था, और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहा उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो, और उसके आसपास जैन मुनियो के निवास योग्य गुफाओ की आवली (पक्ति) रही हो, जिससे इसका नाम वट-गोहाली (वट-गुफा-आवली) पड गया हो। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, षट्खडागम के प्रकाण्ड विद्वान टीकाकार वीरसेन और जिनसेन इसी पचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन विहार विद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नही। प्रतीत होता है ई० की प्रारम्भिक शताब्दियो मे पूर्व मे यह वट-गोहाली विहार, उत्तर मे मथुरा का विहार, पश्चिम मे सौराष्ट्र मे गिरिनगर की चन्द्रगुफा, और दक्षिण मे श्रवण वेलगोला, ये देश की चारो दिशाओ मे धर्म व शिक्षा प्रचार के सुदृढ जैन केन्द्र रहे हैं।

खुदाई से अभिव्यक्त पहाडपुर विहार वडे विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्मिति मे अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारो ओर १७५ से भी अधिक गुफाकार कोष्ठ रहे है। इस चौक की चारो दिशाओ मे एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य मे स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मन्दिर है, जो लगभग साढे तीन सौ फुट लम्बा-चौडा है। उसके चारो ओर प्रदक्षिणा वनी हुई है। मन्दिर तीन तल्लो का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विद्वानो ने इस विहार की रचना को वडा विलक्षण (अपूर्व) माना है, तथा उसकी तुलना वर्मा के पैगाम तथा जावा के लोरो जोन्ग्राग आदि मन्दिरो से की है। किन्तु स्पष्टत जैन परम्परा मे चतुर्मुखी मदिरो का प्रचार वरावर चला आया

है व आवू के चौमुखी मदिर मे भी पाया जाता है, और दीक्षित महोदय ने इस सभावना का सकेत भी किया है। (भा० त्रि० म० इति० भाग ५-६३७)

मध्यभारत मे आने पर हमे दो स्थानो पर प्राचीन जैन तीर्थो के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताब्दियो तक रही, और क्रमश. अधिकाधिक मदिर निर्माण होते रहे और उनमे मूर्तिया प्रतिष्ठित कराई जाती रही, जिनसे ये स्थान देवनगर ही वन गये। इनमे से प्रथम स्थान है--देवगढ जो झासी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से १९ मील तथा जारवलौन स्टेशन से ९ मील दूर वेतवा नदी के तट पर है। देवगढ की पहाडी कोई एक मील लम्वी व ६ फर्लांग चौडी है। पहाडी पर चढते हुए पहले गढ के खडहर मिलते है, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ के भीतर क्रमश दो और कोट है, जिनके भीतर अनेक मन्दिर जीर्ण अवस्था मे दिखाई देते हैं। कुछ मदिर हिन्दू हैं, किन्तु अधिकाश जैन, जिनमे ३१ मदिर गिने जा चुके है। इनमे मूर्तियो, स्तम्भो, दीवालो, शिलाओ आदि पर शिलालेख भी पाये गये है, जिनके आधार मे इन मदिरो का निर्माण आठवी से लेकर वारहवी शती तक का सिद्ध होता है। सवसे वडा १२ वें नम्वर का शातिनाथ मन्दिर है, जिसके गर्भगृह मे १२ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा है। गर्भगृह के सम्मुख लगभग ४२ फुट का चौकोर मडप है जिसमे छह-छह स्तम्भो की छह कतारें है। इस मडप के मध्य मे भी वेदी पर एक मूर्ति विराजमान है। मडप के सम्मुख कुछ दूरी पर एक और छोटा सा चार स्तम्भो का मडप है जिनमे से एक स्तम्भ पर भोज-देव के काल (वि० स० ९१९, ई० सन् ८६२) का एक लेख भी उत्कीर्ण है। लेख मे वि० स० के साथ-साथ शक स० ७८४ का भी उल्लेख है। वडे मडप मे वाहुवली की एक मूर्ति है जिसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। यथार्थत यही मदिर यहा का मुख्य देवालय है, और इसी के आसपास अन्य व अपेक्षाकृत इससे छोटे मदिर है। गर्भगृह और मुखमडप प्राय सभी मदिरो का दिखाई देता है, या रहा है। स्तम्भो की रचना विशेष दर्शनीय है। इनमे प्राय नीचे-ऊपर चारो दिशाओ मे चार-चार मूर्तियाँ उत्कीर्ण पाई जाती है। यत्र-तत्र भित्तियो पर भी प्रतिमाए उत्कीर्ण है। कुछ मन्दिरो के तोरण-द्वार भी कला-पूर्ण रीति से उत्कीर्ण हैं। कही-कही मन्दिर के सम्मुख मानस्तम्भ भी दिखाई देता है। प्रथम मन्दिर प्राय. १२ वे मन्दिर के सदृश, किन्तु उससे छोटा है। पाचवा मन्दिर सहस्रकूट चैत्यालय है, जो वहुत कुछ अक्षत है और उसके कूटो पर कोई १००८ जिन प्रतिमाए उत्कीर्ण है। जिन मदिरो के शिखरो का आकार देखा या समझा जा सकता है, उन पर से इनका निर्माण नागर शैली का सुस्पष्ट है। पुरातत्व विभाग की सन् १९१८ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार

देवगढ से कोई २०० शिलालेख मिले हैं, जिनमे मे कोई ६० मे उनका लेखन काल भी अंकित है, जिनसे वे वि० स० ६१९ मे लेकर वि० स० १८७६ तक के पाये जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र का महत्व १९ वी शती तक बना रहा है। लिपि-विकास व भाषा की दृष्टि से भी इन लेखो का बडा महत्व है।

मध्य भारत का दूसरा देवालय-नगर खजराहो छतरपुर जिले के पन्ना नामक स्थान से २७ मील उत्तर व महोबा से ३४ मील दक्षिण की ओर हैं। यहाँ शिव, विष्णु व जैन मदिरो की ३० से ऊपर सख्या है। जैन मन्दिरो मे विशेष उल्लेखनीय तीन हैं—पार्श्वनाथ, आदिनाथ, और शातिनाथ-जिनमे प्रथम पार्श्वनाथ सबसे बडा है। इसकी लम्बाई चौडाई ६८×३४ फुट है। इसका मुखमण्डप ध्वस्त हो गया है। महामण्डप, अन्तराल और गर्भगृह सुरक्षित हैं और वे एक ही प्रदक्षिणा-मार्ग मे घिरे हुए है। गर्भगृह से सटकर पीछे की ओर एक पृथक् देवालय बना हुआ है, जो इस मन्दिर की एक विशेषता है। प्रदक्षिणा की दीवार मे आभ्यन्तर की ओर स्तम्भ है, जो छत को आधार देते है। दीवार मे प्रकाश के लिये जालीदार वातायन है। मण्डप की छत पर का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य मे लोलक को बेलबूटो व उडती हुई मानवाकृतियो से अलकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुडवाहिनी दशभुज (सरस्वती) मूर्ति भी बडी सुन्दर बनी है। गर्भगृह की बाह्य भित्तियो पर अप्सराओ की मूर्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि उन्हे अपने ढग की सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। उत्तर की ओर बच्चे को दूध पिलाती हुई, पत्र लिखती हुई, पैर मे से काटा निकालती हुई एव शृगार करती हुई स्त्रियो आदि की मूर्तियाँ इतनी सजीव और कलापूर्ण हैं कि वैसी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये सब भाव लौकिक जीवन के सामान्य व्यवहारो के हैं, धार्मिक नही। यह इस मन्दिर की कलाकृतियो की अपनी विशेषता हैं। सबसे बाहर की भित्तियो पर निचले भाग मे कलापूर्ण उत्कीर्णन है और ऊपर की ओर अनेक पट्टियो मे तीर्थकरो एव हिन्दू देव-देवियो की बडी सुन्दर आकृतियाँ बनी है। इस प्रकार इस मन्दिर मे हम नाना धर्मो, एव धार्मिक व लौकिक जीवन का अद्भुत समन्वय पाते हैं। मन्दिर के गर्भगृह मे वेदी भी बडी सुन्दर आकृति की बनी है, और उस पर बैल की आकृति उत्कीर्ण है। इससे प्रतीत होता हैं कि आदित इस मन्दिर के मूल नायक वृषभनाथ तीर्थंकर थे, क्योकि वृषभ उन्ही का चिन्ह हैं। अनुमानत वह मूर्ति किसी समय नष्ट-भ्रष्ट हो गई और तत्पश्चात् उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की वर्तमान मूर्ति स्थापित कर दी गई। मन्दिर व सिंहासन की कलापूर्ण निर्मिति की अपेक्षा यह मूर्ति हीन-कलात्मक है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। ऐसी ही कुछ स्थिति आदिनाथ मदिर

की भी है, क्योकि उसमे जो आदमनाथ की मूर्ति विराजमान है वह सिंहासन के प्रमाण से छोटी तथा कला की दृष्टि से सामान्य है। यह मदिर पार्श्वनाथ मन्दिर के समीप ही उत्तर की ओर स्थित है। इस मन्दिर मे भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन ही कोष्ठ हे, जिनमे से अर्द्धमडप वहुत पीछे का वना हुआ है। इसके प्रवेश द्वार पर चतुर्भुज देवी की मूर्ति है और उससे ऊपर १६ स्वप्नो के चिन्ह उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मन्दिर की विशेषता यह है कि उसमे शान्तिनाथ तीर्थंकर की १५ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा का काल वि० स० १०८५ ई० (सन् १०२८) अकित है। इसी से कुछ पूर्व इस मन्दिर का निर्माण हुआ होगा। शेष मन्दिरो का निर्माणकाल भी इसी के कुछ आगे-पीछे का प्रतीत होता है। इस मूर्ति के अतिरिक्त वहा पाई जाने वाली अन्य तीर्थंकरो व यक्ष-यक्षणियो की मूर्तिया कलापूर्ण है। तीर्थंकर मूर्तियो के दोनो पार्श्वो मे प्राय दो चमर-वाहक, सम्मुख वैठी हुई दो उपासिकाए तथा मूर्तियो के अगल-वगल कुछ ऊपर हस्ति-आरुढ इन्द्र व इन्द्राणी की आकृतिया पाई जाती है, तथा पीठ पर दोनो ओर सिंह की आकृतियाँ भी दिखाई देती है। खजराहो के ये समस्त मन्दिर अधिष्ठान से शिखर तक नाना प्रकार की कलापूर्ण आकृतियो से उत्कीर्ण हैं।

खजराहो के जैन मन्दिरो की विशेषता यह हे कि उनमे मडप की अपेक्षा शिखर की रचना का ही अधिक महत्व है। अन्यत्र के समान भमिति और देव-कुलिकाए भी नही है, तथा रचना व अलकृति मे जिनमूर्तियो के अतिरिक्त अन्य ऐसी विशेषता नही है जो उन्हे यहाँ के हिन्दू व वौद्ध मन्दिरो से पृथक् करती हो। एक ही काल और सम्भवत उदार सहिष्णु एक ही नरेश के सरक्षण मे वनवाये जाने से उनमे विचार-पूर्वक समत्व रखा गया प्रतीत होता है। किन्तु हाँ पाये जाने वाले दो अन्य मन्दिरो के सम्वन्ध मे जेम्स फर्गुसन साहव का अभिमत उल्लेखनीय है। चौसठ योगिनी मन्दिर की भमिति व देव-कुलिकाओ के सम्वन्ध मे उनका कहना है कि "मन्दिर निर्माण की यह रीति यहाँ तक जैन विशेषता लिये हुए है कि इसके मूलत जैन होने मे मुझे कोई सशय नही है।" मध्यवर्ती मन्दिर अव नही है, और फर्गुसन साहब के मतानुसार आश्चर्य नही जो वह प्राचीन बौद्ध चैत्यो के समान काष्ठ का रहा हो। और यदि यह बात ठीक हो तो यही समस्त प्राचीनतम जैन मन्दिर सिद्ध होता है। उसी प्रकार घटाई मन्दिर के अवशिष्ट मडप को भी वे उसकी रचनाशैली पर से जैन स्वीकार करते हे। इसमे प्राप्त खडित लेख की लिपि पर से कर्निघम साहव ने उसे छठी-सातवी शती का अनुमान किया है, और फर्गुसन साहव उसकी शैली पर से भी यही काल-निर्णय करते है।

ग्वालियर राज्य मे विदिशा से १४० मील दक्षिण पश्चिम की ओर ग्यारसपुर मे भी एक भग्न जैन मन्दिर का मडप विद्यमान है, जो अपने विन्यास व स्तम्भो की रचना आदि मे खजराहो के घटाई मडप के ही सदृश है। उसका निर्माण-काल भी फर्गुसन साहब ने सातवी शती, अथवा निश्चय ही १० वी शती से पूर्व, अनुमान किया है। इसी ग्यारसपुर मे सभवत इसी काल का एक अन्य मन्दिर भी है जो इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसका जीर्णोद्धार इस तरह किया गया है कि उसका समस्त मौलिक रूप ढक गया है। यहाँ ग्राम मे एक सभवत ११ वी शती का अतिसुन्दर पाषाण-तोरण भी है। यथार्थत फर्गुसन साहब के मतानुसार वहा आसपास के समस्त प्रदेश मे इतने भग्नावशेष विद्यमान है कि यदि उनका विधिवत् सकलन व अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तु-कला, और विशेषत जैन वास्तु-कला, के इतिहास के बडे दीर्घ रिक्त स्थानो की पूर्ति की जा सकती है।

मध्यप्रदेश मे तीन और जैन तीर्थ है जहाँ पहाडियो पर अनेक प्राचीन मन्दिर बने हुए है, और आज तक भी नये मन्दिर अविच्छिन्न क्रम से बनते जाते है। ऐसा एक तीर्थ बुन्देलखण्ड मे दतिया के समीप सुवर्णगिरि (सोनागिरि) है। यहा एक नीची पहाडी पर लगभग १०० छोटे-बडे एव नाना आकृतियो के जैन मन्दिर है। जिस रूप मे ये मन्दिर विद्यमान है वह बहुत प्राचीन प्रतीत नही होता। उसमें मुसलमानी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके शिखर प्राय मुगलकालीन गुम्बज के आकार के हैं। शिखर का प्राचीन स्वदेशीय रूप क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है, और खुले भागो का रूप मुसलमानी कोणाकार तोरण जैसा दिखाई देता है। यद्यपि इसका इतिहास स्पष्ट नही है कि इस तीर्थक्षेत्र मे प्राचीनतम मन्दिर कब, क्यो और कैसे बने तथापि इसकी कुछ सामग्री वहाँ के उक्त मन्दिरो, मूर्तियो व लेखो के अध्ययन से सकलित की जा सकती है।

दूसरा तीर्थक्षेत्र बैतूल जनपदान्तर्गत मुक्तागिरि है। यहाँ एक अतिसुन्दर पहाडी की घाटी के समतल भाग मे कोई २०-२५ जैन मन्दिर हैं, जिनके बीच लगभग ६० फुट ऊँचा जलप्रपात है। इसका दृश्य विशेषत वर्षाकाल मे अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है। ये मन्दिर भी सोनागिरि के समान बहुत प्राचीन नही है, और अपने शिखर आदि के सबध मे मुसलमानी शैली का अनुकरण करते हैं। किन्तु यहा की मूर्तियो पर के लेखो से ज्ञात होता है कि १४ वी शती मे यहा कुछ मदिर अवश्य रहे होगे। इस तीर्थ के विषय मे श्री जेम्स फर्गुसन साहब ने अपनी हिस्ट्री ऑफ इडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (लदन, १८७६) मे कहा है कि "समस्त भारत मे इसके सदृश दूसरा स्थान पीना दुर्लभ है, जहा

प्रकृति की शोभा का वास्तुकला के साथ ऐसा सुन्दर सामजस्य हुआ हो।"

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ दमोह के समीप कुण्डलपुर नामक स्थान है, जहा एक कुण्डलाकार पहाडी पर २५-३० जैन मंदिर बने हुए हैं। पहाडी के मध्य एक घाटी में बना हुआ महावीर का मंदिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहा बडेबाबा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह बडेबाबा का मंदिर कहलाता है। पहाडी पर का प्रथम मंदिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तल्लो के कारण यह छह घरिया का मंदिर कहलाता है। अधिकाश मंदिरो मे पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रो के सदृश मुगलशैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाडी के नीचे का तालाब और उसके तटवर्ती नये मंदिरो की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर खरगोन से पश्चिम की ओर दस मील पर ऊन नामक ग्राम मे तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर हैं। इनमें से एक पहाडी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान बन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था मे पुरातत्त्व विभाग के सरक्षण मे हैं। मन्दिर पूर्णत पाषाण-खडो से निर्मित चपटी छत व गर्भगृह और सभामडप युक्त तथा प्रदक्षिणा-रहित हैं जिनसे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियो और स्तम्भो पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिरो की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर चौबारा डेरा कहलाते है। स्तभो पर की कुछ पुरुष-स्त्री रूप आकृतिया शृगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णत सुरक्षित है। कुछ प्रतिमाओ पर लेख हैं जिनमे सवत् १२५८ व उसके आसपास का उल्लेख है। अत यह तीर्थ कम से कम १२-१३ वी शती का तो अवश्य है। इस तीर्थ स्थान को प्राचीन सिद्धक्षेत्र पावागिरि ठहराया गया है जिसका प्राकृत निर्वाणकाण्ड मे निम्न प्रकार दो बार उल्लेख आया है —

रायसुआ वेण्णि जणा लाड-णरिंदाण पच-कोडीओ।
पावागिरि-वर-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥५॥
पावागिरि-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो।
चलणा-णई-तडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१३॥

यहा पावागिरि से लाट (गुजरात) के नरेशो तथा सुवर्णभद्रादि चार मुनियो द्वारा निर्वाण प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। यह प्रदेश गुजरात से लगा हुआ है। उल्लिखित चलना या चेलना नदी सभवत ऊन के समीप बहने वाली वह सरिता है जो अब चद्देरी या चिरूढ कहलाती है। नि का की उप-

युक्त १३ वी गाथा से पूर्व ही रेवा (नर्मदा) के उभयतट, उसके पश्चिम तट पर सिद्धवर कूट तथा बडवानी नगर के दक्षिण मे चूलगिरि शिखर का सिद्ध क्षेत्र के रूप मे उल्लेख है। इन्ही स्थलो के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहा बल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का सकल्प किया था, किन्तु अपने जीवन मे वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ (इन्दौर स्टेट गजैटियर, भाग १ पृ० ६६९)। हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढा हो। किन्तु यदि उसमे कुछ ऐतिहासिकता हो तो बल्लाल नरेश होयसल वश के वीर-बल्लाल (द्वि०) हो सकते है जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। (पृ० ४०)

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजपूताने के मदिरों की ओर जाता है। अजमेर के समीप बडली ग्राम से एक स्तम्भ-खड मिला है जिसे वहा के भैरोजी के मदिर का पुजारी तमाखू कूटने के काम मे लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खड रहा है जिसके तीन पहलू इस पाषाण-खड मे सुरक्षित हे, और उनपर १३ × १०½ इच स्थान मे एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानो के मतानुसार अशोक की लिपिओ से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है, और उपलब्ध लेख-खड पर से इतना स्पष्ट पढा जाता है कि वीर भगवान् के लिये, *अथवा भगवान् के,* ८४ वें वर्ष मे *मध्यमिका* मे कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर-निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) मे दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अतिप्राचीन व इतिहास-प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी मे कोई मडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

दुर्भाग्यत इसके दीर्घकाल पश्चात् तक की कोई निर्मितिया हमे उपलब्ध नही है। किन्तु साहित्य मे प्राचीन जैन मन्दिरो आदि के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जैन हरिवशपुराण की प्रशस्ति मे इसके कर्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक सवत् ७०५ (ई० ७८३) मे उन्होने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मदिर) की अन्नराज-वसति मे बैठकर हरिवशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वही के शान्तिनाथ मन्दिर मे बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर मे इन्द्रायुध, दक्षिण मे कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम मे वत्सराज तथा सौरमडल मे वीरवराह नामक राजाओ का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान *बढवान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने* एक लेख मे सिद्ध किया है कि हरि-

वंशपुराण मे उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले म स्थित वर्तमान बदनावर है, जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दुतरिया नामक गाव प्राचीन दोस्तटिका होना चाहिये, जहा कि प्रजा ने, जिनसेन के उल्लेखानुसार उस शान्तिनाथ मदिर मे विशेष पूजा अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर म आठवीं शती मे पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के दो जैन मदिरो का होना सिद्ध होता है। शान्तिनाथ मन्दिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमे बदनावर से प्राप्त अच्छुप्तादेवी की मूर्ति पर के लेख मे पाया जाता है, क्योकि उसमे कहा गया है कि सम्वत् १२२९ (ई० ११७२) की वैशाख कृष्ण सप्तमी को यह मूर्ति वर्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय मे स्थापित की गई (जैन सि० भा० १२, २, पृ० ६ आदि, तथा जैन एन्टीक्वेरी १७, २, पृ० ५९) इसके पश्चात् वहा के उक्त मन्दिर कब ध्वस्त हुए, कहा नही जा सकता।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा मे ३२ मील पर ओसिया रेल्वे स्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग मे अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मदिर है, जिनमे महावीर मदिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मन्दिर एक घेरे के बीच मे स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने है। मन्दिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषत उसमे मडप के स्तम्भो की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि-रचना नागर शैली की है। यहां एक शिलालेख भी है, जिसमे उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मदिर गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता ७७०-८०० ई०) के समय मे विद्यमान था, तथा उसका महामडप ई० सन् ९५६ मे निर्माण कराया गया था। मदिर मे पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नही होने पाया। उसका कलात्मक सतुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मारवाड मे ही दो और स्थानो के जैन मदिर उल्लेखनीय है। फालना रेलवे स्टेशन के समीप सादडी नामक ग्राम मे ११ वी शती से १६ वी शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मदिर है। विशेष महत्वपूर्ण जैन मदिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे मे स्थित है। शैली मे ये मदिर पूर्वोक्त प्रकार के ही है, और शिखर नागर शैली के ही बने हुए है। मारवाड-जोधपुर रेलवे लाईन पर मारवाड-पल्ली स्टेशन के समीप नौलखा नामक वह जैन मदिर है जिसे अल्हणदेव सम्वत् १२१८ (ई० सन् ११६१) मे बनवाया था। किन्तु इसमे जो तीर्थंकरो की मूर्तिया है उनमे वि० स० ११४४ से १२०१ तक के लेख पाये

जाते है जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मदिर से पूर्व भी यहाँ मन्दिर रहा है ।

अब हम आबू के जैन मन्दिरो पर आते है, जहाँ न केवल जैन कला, किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप मे पाई जाती है । आवूरोड स्टेशन से कोई १८ मील, तथा आवू कैम्प से सवा मील पर देलवाडा नामक स्थान है, जहा ये जैन मदिर पाये जाते है । ग्राम के समीप समुद्रतल से चार-पाच हजार फुट ऊची पहाडी पर एक विशाल परकोटे के भीतर विमल वसही, लूण-वसही, पितलहर, चौमुखा और महावीर स्वामी नामक पाच मन्दिर है । इन मन्दिरो की ओर जाने वाले पथ की दूसरी बाजू पर एक दिगम्बर जैन मन्दिर है । इन सब मदिरो मे कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है प्रथम दो । विमलवसही के निर्माण-कर्ता विमलशाह पोरवाड वशी, तथा चालुक्यवशी नरेश भीमदेव प्रथम के मत्री व सेनापति थे । उनके कोई पुत्र नही था । उन्होने अपना अपार धन व्यय करके, प्राचीन वृत्तान्तानुसार स्वर्ण मुद्राए बिछाकर वह भूमि प्राप्त की, और उसपर आदिनाथ तीर्थंकर का मन्दिर बनवाया । यह मन्दिर पूरा का पूरा श्वेत सगमरमर पत्थर का बना हुआ है । जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण मे १८ करोड ५३ लाख सुवर्ण मुद्राओ का व्यय हुआ । सगमरमर की बडी-बडी शिलाए पहाडी के तल से हाथियो द्वारा उतनी ऊची पहाडी पर पहुचाई गई थी । तथा आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण-मिश्रित पीतल की ४ फुट ३ इच की विशाल पद्मासन मूर्ति ढलवाकर प्रतिष्ठित की । यह प्रतिष्ठा वि० स० १०८८ (ई० १०३१) मे मुहम्मद गौरी द्वारा सोमनाथ मन्दिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात् हुई । यह मूर्ति प्रौढ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है । इस मन्दिर को बीच-बीच मे दो बार क्षति पहुची जिसका पुनरुद्धार विमलशाह के वशजो द्वारा वि० स० १२०६ और १२४५ मे व १३६८ मे किया गया । इस मन्दिर की रचना निम्न प्रकार है—

एक विशाल चतुष्कोण १२८×७५ फुट लम्बा-चौडा प्रागण चारो ओर देवकुलो से घिरा हुआ है । इन देयकुलो की सख्या ५४ है, और प्रत्येक मे एक प्रधान मूर्ति तथा उसके आश्रित अन्य प्रतिमाए विराजमान है । इन देवकुलो के सम्मुख चारो ओर दोहरे स्तम्भो की मडपाकार प्रदक्षिणा है । प्रत्येक देव-कुल के सम्मुख ४ स्तम्भो की मडपिका आ जाती है, और इस प्रकार कुल स्तम्भो की सख्या २३२ है । प्रांगण के ठीक मध्य मे मुख्य मन्दिर है । पूर्व की ओर से प्रवेश करते हुए दर्शक को मन्दिर के नाना भाग इस प्रकार मिलते हैं—

(१) हस्तिशाला—(२५×३० फुट) इसमे ६ स्तम्भ हैं, तथा हाथियो पर

आरूढ विमलशाह और उनके वशजो की मूर्तिया है जिन्हे उनके एक वशज पृथ्वीपाल ने ११५० ई० के लगभग निर्माण कराया। (२) इसके आगे २५ फुट लम्बा-चौडा मुख-मडप है। (३) और उससे आगे देवकुलो की पक्ति व भमिति और प्रदक्षिणा-मडप है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। तत्पश्चात् मुख्य मन्दिर का रगमडप या सभा-मडप मिलता है, जिसका गोल शिखर २४ स्तम्भो पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ के अग्रभाग पर तिरछे शिलापट आरोपित है जो उस भव्य छत को धारण करते है। छत की पद्मशिला के मध्य मे बने हुए लोलक की कारीगरी अद्वितीय और कला के इतिहास मे विख्यात है। उत्तरोत्तर छोटे होते हुए चन्द्रमडलो (ददरी) युक्त कचुलक कारीगरी सहित १६ विद्याधारियो कि आकृतिया अत्यन्त मनोज्ञ है। इस रगमडपकी समस्त रचना व उत्कीर्णन के कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे मानो वह किसी दिव्य लोक मे आ पहुचा हो। रगशाला से आगे चलकर नवचौकी मिलती है, जिसका यह नाम उसकी छत के ६ विभागो के कारण पडा हैं। इससे आगे गूढमडप है। वहा से मुख्य प्रतिमा का दर्शन-वदन किया जाता है। इसके सम्मुख वह मूल गर्भगृह है, जिसमे ऋषभनाथ की धातु प्रतिमा विराजमान है।

इसी मदिर के सम्मुख लूण-वसही है जो उसके मूलनायक के नाम से नेमिनाथ मन्दिर भी कहलाता है, और जिसका निर्माण ढोलका के वघेलवशी नरेश वीर धवल के दो मत्री भ्राता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् १२३२ ई० मे कराया था। तेजपाल मत्री के पुत्र लूणसिंह की स्मृति मे बनवाये जाने के कारण मन्दिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिर का विन्यास व रचना भी प्राय. आदिनाथ मन्दिर के सदृश है। यहाँ भी उसी प्रकार का प्रागण, देवकुल तथा स्तम्भ-मण्डपो की पक्ति विद्यमान है। विशेषता यह है कि इसकी हस्तिशाला उस प्राँगण के बाहर नही, किन्तु भीतर ही है। रगमंडप, नवचौकी, गूढमडप और गर्भगृह की रचना पूर्वोक्त प्रकार की ही है। किन्तु यहा रगमडप के स्तम्भ कुछ अधिक ऊँचे है, और प्रत्येक स्तम्भ की बनावट व कारीगरी भिन्न है। मण्डप की छत कुछ छोटी है, किन्तु उसकी रचना व उत्कीर्णन का सौन्दर्य वसही से किसी प्रकार कम नही है। इसके रचना-सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए फर्गुसन साहब ने कहा है कि "यहाँ सगमरमर पत्थर पर जिस परिपूर्णता, जिस लालित्य व जिस सन्तुलित अलकरण की शैली से काम किया गया है, उसकी अन्य कही भी उपमा मिलना कठिन है।

इन दोनो मदिरो मे सगमरमर की कारीगरी को देखकर बडे-बडे कला-

विशारद आश्चर्य-चकित होकर दातो तले अगुली दबाये बिना नही रहते। यहा भारतीय शिल्पियो ने जो कला-कौशल व्यक्त किया है, उससे कला के क्षेत्र मे भारत का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊँचा उठा रहेगा। कारीगर की छैनी ने यहाँ काम नही दिया। सगमरमर को घिस घिस कर उसमे वह सूक्ष्मता व काँच जैसी चमक व पारदर्शिता लाई गई है, जो छैनी द्वारा लाई जानी असम्भव थी। कहा जाता है कि इन कारीगरो को घिसकर निकाले हुए सगमरमर के चूर्ण के प्रमाण से वेतन दिया जाता था। तात्पर्य यह कि इन मन्दिरो के निर्माण से, एच० जिम्मर के शब्दो मे, "भवन ने अलकार का रूप धारण कर लिया है, जिसे शब्दो मे समझाना असम्भव है।" मन्दिरो का दर्शन करके ही कोई उनकी अद्भुत कला के सौन्दर्य की अनुभूति कर सकता है। बिना देखे उसकी कोई कल्पना करना शक्य नही।

लूणवसही से पीछे की ओर पित्तलहर नामक जैन मन्दिर है, जिसे गुर्जर वश के भीमाशाह ने १५ वी शती के मध्य मे बनवाया। यहा के वि० स० १४८३ के एक लेख मे कुछ भूमि व ग्रामो के दान दिये जाने का उल्लेख है, तथा वि० स० १४८९ के एक अन्य लेख मे कहा गया है कि आबू के चौहानवशी राजा राजधर देवडा चुडा ने यहा के तीन मन्दिरो अर्थात् विमलवसही, लूणवसही और पित्तलहर-की तीर्थयात्रा को आने वाले यात्रियो को सदैव के लिये कर से मुक्त किया। इस मदिर का पित्तलहर नाम पडने का कारण यह है कि यहा मूलनायक आदिनाथ तीर्थंकर की १०८ मन पीतल की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा स० १५२५ मे सुन्दर और गडा नामक व्यक्तियो ने कराई थी। गुरु-गुण-रत्नाकर काव्य के अनुसार, ये दोनो अहमदाबाद के तत्कालीन सुल्तान महमूद वेगडा के मन्त्री थे। इससे पूर्व की प्रतिष्ठित मूर्ति किसी कारणवश यहा से मेवाड के कुम्भल मेरु नामक स्थान को पहुँचा दी गई थी। इस मन्दिर की बनावट भी पूर्वोक्त दो मन्दिरो जैसी ही है। मूल गर्भगृह, गूढमण्डप और नव-चौकी तो परिपूर्ण हैं, किन्तु रग-मण्डप और भमिति कुछ अपूर्ण ही रह गये है। गूढमण्डप मे आदिनाथ की पचतीर्थिक पाषाण प्रतिमा है, तथा अन्य तीर्थंकर प्रतिमाए हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहा महावीर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी की पीले पाषाण की मूर्ति है। भमिति की देवकुलिकाओ मे नाना तीर्थंकरो की मूर्तिया विराजमान हैं। एक स्थान पर भ० आदिनाथ के गणधर पुडरीक स्वामी की प्रतिमा भी है।

चौमुखा मंदिर मे भगवान् पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के मुनियो द्वारा कराई जाने से यह मदिर

खरतर वसही भी कहलाता है। कुछ मूर्तियो पर के लेखो से इस मदिर का निर्माणकाल वि० स० १५१५ के लगभग प्रतीत होता है। मदिर तीन तल्ला है, और प्रत्येक तल पर पार्श्वनाथ की चौमुखी प्रतिमा विराजमान है।

पाचवा महावीर मदिर देलवाडा से पूर्वोत्तर दिशा मे कोई साढे तीन मील पर है। इसका निर्माण भी १५ वी शती मे हुआ था। वर्तमान मे इसके मूलनायक भ० आदिनाथ है, जिनके पार्श्वों मे पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरो की मूर्तिया है, किन्तु मदिर की ख्याति महावीर के नाम से ही है। अनुमानत बीच मे कभी मूलनायक का स्थानान्तरण किया गया होगा। वह मदिर एक परकोटे के मध्य मे स्थित है और गर्भगृह के सम्मुख शिखरयुक्त गूढमडप भी है। उसके सम्मुख खुला चबूतरा है, जिसपर या तो नवचौकी और सभामडप बनाये ही नही जा सके, अथवा बनकर कभी विध्वस्त हो गये।

देलवाडा का दिग० जैन मदिर वहा से अचलगढ की ओर जाने वाले मार्ग के मुख पर ही है। इस मदिर मे एक शिलालेख है, जिसके अनुसार वि० स० १४६४ मे गोविंद सघाधिपति यहा मूलसघ, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनदी के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र सहित तीर्थयात्रा को आये, और उन्होंने उस मदिर का निर्माण कराया। उस समय आबू के राजा राजधरदेवडा चूडा का राज्य था।

राजपूताने का एक अन्य उल्लेखनीय जैन मदिर जोधपुर राज्यान्तर्गत गोडवाड जिले मे राणकपुर का है जो सन् १४३९ मे बनवाया गया था। यह विशाल चतुर्मुखी मदिर ४०,००० वर्ग फुट भूमि पर बना हुआ है, और उसमे २९ मडप है, जिनके स्तम्भो की सख्या ४२० है। इन समस्त स्तम्भो की बनावट व शिल्प पृथक-पृथक है, और अपनी-अपनी विशेषता रखती है। मदिर का आकार चतुर्मुखी है। बीच मे मुख्य मदिर है जिसकी चारो दिशाओ मे पुन चार मदिर है। इनमे शिखरो के अतिरिक्त मडपो के भी और उनके आसपास ८६ देवकुलिकाओ के भी अपने-अपने शिखर है, जिनकी आकृति दूर से ही अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देती है। शिखरो का सौन्दर्य और सन्तुलन बहुत चित्ताकर्षक है और यही बात उसकी अन्तरग कलाकृतियो के विषय मे भी पाई जाती है। सर्वत्र वैचित्र्य और सामजस्य का अद्भुत सयोग दिखाई देता है। दर्शक मदिर के भीतर जाकर मडपों, उनके स्तम्भो व खुले प्राँगणो मे से जाता हुआ प्रकाश और छाया के अद्भुत प्रभावो से चमत्कृत हो जाता है। मुख्य गर्भगृह स्वस्तिकाकार है और उसके चारो ओर चार द्वार है। यहाँ आदिनाथ की श्वेत सगमरमर की चतुर्मुखी मूर्ति प्रतिष्ठित है। यह दुतल्ला है, और दूसरे

तल मे भी यही रचना है। इस चौमुखी मदिर का विन्यास प्राय उसी प्रकार का है, जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है।

राजपूताने की एक और सुन्दर व कलापूर्ण निर्मिति है चित्तौड का कीर्ति-स्तम्भ। इसके निर्माता व निर्माण काल के सम्बन्ध मे बडा मतभेद रहा। किंतु हाल मे ही नाँदगाव के दिगम्बर जैन मदिर की धातुमयी प्रतिमा पर स० १५४१ ई० (सन् १४८४) का एक लेख मिला है जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर मे इस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था। इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना १५ वी शती मे ई० सन् १४८४ से पूर्व ही हो चुकी थी। जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे। और उन्होने कारजा (जिला अकोला-बरार) के मूलसघ, सेनगण, पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त १०८ शिखरबद्ध मदिरो का उद्धार कराया, जिनबिंब बनवाये और प्रतिष्ठाए कराई, अनेक श्रुतभडारो की स्थापना कराई, और सवा लाख बदी छुडवाये, ऐसा भी उक्त लेख मे उल्लेख है।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ एक जैन मदिर के सम्मुख बनवाया गया था, जिससे वह मानस्तम्भ प्रतीत होता है। यह स्तम्भ लगभग ७६ फुट ऊचा है, और उसका नीचे का व्यास ३१ फुट तथा ऊपर का १५ फुट है। इसमे सात तल्ले है, जिनके ऊपर गधकुटी रूप छतरी बनी हुई है। यह छतरी एक बार विद्युत से आहत होकर ध्वस्त हो गई थी, किन्तु उसे महाराणा फतहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुन पूर्ववत् ही निर्माण करा दिया। इस शिखर की कुटी मे अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर मूर्ति रही होगी। स्तम्भ के समस्त तलो के चारो भागो पर आदिनाथ व अन्य तीर्थकरो की नग्न मूर्तिया विराजमान है, जिससे आदित यह स्तम्भ आदि तीर्थकर का ही स्मारक प्रतीत होता हैं। इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निर्मिति अलकृतियो से भरी हुई है।

चित्तौड के किले पर कुछ इसी प्रकार का एक दूसरा कीर्ति-स्तम्भ भी है जिसमे ९ तल हैं, और जो हिन्दू देवी-देवताओ की मूर्तियो से अलकृत है। यह पूर्वोक्त स्तम्भ से बहुत पीछे उसी के अनुकरण रूप महाराणा कुम्भ का बनवाया हुआ है।

जैन तीर्थों मे सौराष्ट्र प्रदेश के शत्रुंजय (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मदिर है, उतने अन्यत्र कही नही। शत्रुजय माहात्म्य के अनुसार यहा प्रथम तीर्थंकर के काल से ही जैन मदिरो का निर्माण होता आया है। वर्तमान मे वहा पाये जाने वाले मदिरो मे सबसे प्राचीन उन्ही विमलशाह (११ वी शती)

का है। जिन्होने आबू पर विमलवसही बनवाया है, और दूसरा राजा कुमारपाल (१२ वी शती) का बनवाया हुआ है। विशालता व कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विमलवसही ट्रक का आदिनाथ मदिर सबसे महत्वपूर्ण है। यह मदिर सन् १५३० मे बना है, किन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि उससे पूर्व वहा ई० सन् ९६० का बना हुआ एक मदिर था। यहा की १०वी शती की निर्मित पुण्डरीक की प्रतिमा सौन्दर्य मे अतिश्रेष्ठ मानी गई है। चौथा उल्लेखनीय चतुर्मुख मन्दिर है जो सन् १६१८ का बना हुआ है। इसकी चारों दिशाओ मे प्रवेश-द्वार है। पूर्वद्वार रगमडप के सम्मुख है, तथा तीन अन्य द्वारो के सम्मुख भी मुखमडप बने हुए हैं। ये सभी मडप दुतल्ले है और ऊपर के तल मे मुख-मडपिकाओ से युक्त वातायन भी हैं। उपर्युक्त व अन्य मदिर, गर्भगृह, मडपो व देवकुलिकाओ की रचना, शिल्प व सौन्दर्य मे देलवाडा विमलवसही व लूणवसही का ही हीनाधिक मात्रा मे अनुकरण करते है।

सौराष्ट्र का दूसरा महान् तीर्थक्षेत्र है। गिरनार। इस पर्वत का प्राचीन नाम ऊर्जयन्त व रैवतक गिरि पाया जाता है, जिसके नीचे बसे हुए नगर का नाम गिरिनगर रहा होगा, जिसके नाम से अव स्वय पर्वत ही गिरिनार (गिरि-नगर) कहलाने लगा। जूनागढ से इस पर्वत की ओर जाने वाले मार्ग पर ही वह इतिहास-प्रसिद्ध विशाल शिला मिलती है जिस पर अशोक, रुद्रदामन् और स्कन्दगुप्त सम्राटो के शिलालेख खुदे हुए है, और इस प्रकार जिस पर लगभग १००० वर्ष का इतिहास लिखा हुआ है। जूनागढ के समीप ही बावा-प्यारा मठ के पास वह जैन गुफा है, जो पूर्वोक्त प्रकार से पहली दूसरी शती की धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्थान ऐतिहासिक व धार्मिक दोनो दृष्टियो से अतिप्राचीन व महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। गिरिनगर पर्वत का जैनधर्म से इतिहासातीत काल से सम्बन्ध इसलिए पाया जाता है, क्योकि यहाँ पर ही २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ ने तपस्या की थी और निर्वाण प्राप्त किया था। इस तीर्थ का सर्वप्राचीन उल्लेख समन्तभद्रकृत वृहत्स्वयभूस्तोत्र (५ वी शती) मे मिलता है जहाँ नेमिनाथ की स्तुति मे कहा गया है कि—

> ककुद भुव खचर-योषिदुषित-शिखरैरलकृत
> मेघ-पटल-परिवीत-तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।
> वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च
> प्रीति-वितत-हृदयै परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचल ॥१२८॥

इस स्तुति के अनुसार समन्तभद्र के समय मे ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति या चरणचिह्न प्रतिष्ठित थे, शिखर पर विद्याधरी अम्बिका की मूर्ति भी विराजमान थी, और ऋषिमुनि वहां की निरतर

तीर्थ-यात्रा किया करते थे ।

वर्तमान मे यहा का सबसे प्रसिद्ध, विशाल व सुन्दर मदिर नेमिनाथ का है । रैवतक गिरि-कल्प के अनुसार इसका निर्माण चालुक्य नरेश जयसिंह के दडाधिप सज्जन ने खगार राज्य पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सवत् ११८५ मे बनवाया था । इसके शिखर पर सुवर्ण का आमलक मालव देश के मुखमडन भावड ने और पद्या (सोपान-पथ) का निर्माण कुमारपाल नरेन्द्र द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दडाधिप किसी श्रीमाल कुल के व्यक्ति ने सम्वत् १२२० मे कराया था । मदिर के मूलनायक की प्रतिमा आदित लेपमय थी, और उसका लेप कालानुसार गलित हो गया था तब काश्मीर से तीर्थयात्रा पर आये हुए अजित और रतन नामक दो भाइयो ने उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की । मदिर के प्रागण मे कोई सत्तर देवकुलिकाए हैं । इनके बीच मदिर बना हुआ है जिसका मडप बडी सुन्दरता से अलकृत है । मुख्य मदिर के विमान के विशाल शिखर के आसपास अनेक छोटे-छोटे शिखरो का पुज है, जिससे उसका दृश्य बहुत भव्य दिखाई देता है । इस काल की जैन वास्तु-कला का यह एक वैशिष्ट्य है । यहा का दूसरा उल्लेखनीय मदिर है वस्तुपाल द्वारा निर्मापित मल्लिनाथ तीर्थंकर का । इस मदिर का विन्यास एक विशिष्ट प्रकार का है । रगमडप के प्रवेश-द्वार की दिशा को छोडकर शेष तीन दिशाओ मे उससे सटे हुए तीन मदिर है । मध्य का मदिर मूलनायक मल्लिनाथ का है । आजू-बाजू के दोनो मदिर रचना मे स्तम्भयुक्त मण्डपो के सदृश है और उनमे ठोस पाषाण की बडी कारीगरी दिखाई देती है । उत्तर दिशा का मदिर चौकोर अधिष्ठान पर मेरु की रचना से युक्त है, तथा दक्षिण दिशा का मदिर सम्मेदशिखर की प्रतिकृति है ।

यह प्राचीन और शैली व कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलभ्य जैन मदिरो का अति सक्षिप्त और स्फुट परिचय मात्र है । यथार्थत तो समस्त देश हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक व सौराष्ट्र से बगाल तक जैन मदिरो व उनके भग्नावशेषो से भरा विषय हुआ हे । जहाँ अब जैन मदिर नही हैं, या उनके खडहर मात्र अवशिष्ट हैं, वहा के विषय मे जेम्स फर्गुसन साहब का अभिमत ध्यान देने योग्य है । उनका कथन है "गगाप्रदेश अथवा जहा भी मुसलमान सख्या मे बसे वहा प्राचीन जैन मदिरो के पाने की आशा करना व्यर्थ है । उन लोगो ने अपने धर्म के जोश मे मदिरो को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है, तथा जिन सुन्दर स्तम्भो, तोरणो आदि को नष्ट नही किया, उनका बडे चाव से अपनी मस्जिदो आदि के निर्माण मे उपयोग कर लिया । अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, धार व अहमदाबाद की विशाल मस्जिदे यथार्थत जैन-मदिरो की ही परिवर्तित निर्मितिया हैं ।"

फर्गुसन साहब ने यह भी समझाया है कि किस प्रकार से जैन मदिर मस्जिदो मे विपरिवर्तित किये गये है। "आबू के विमलवसही की रचना की ओर ध्यान दीजिये जहा एक विशाल प्रागण के चारो ओर भमिति और मध्य मे मुख्य मदिर व मडप है। यह प्राचीन जैन मन्दिरो की साधारण रचना थी। इस मध्य के मन्दिर और मडप को नष्ट करके तथा देवकुलिकाओ के द्वार वद कर के एक ऐसा खुला प्रागण अपने चारो ओर स्तम्भो की दोहरी पक्ति सहित मिल जाता है, जो मस्जिद का विशेष आकार है। इसमे मस्जिद का एक वैशिष्ट्य रह जाता है, और वह है मक्का (पश्चिम) की ओर उसका प्रमुख द्वार। इस वैशिष्ट्य को इस दिशा के छोटे स्तम्भो को हटाकर उनके स्थान पर मध्य मडप से सुविशाल स्तम्भो को स्थापित करके प्राप्त किया गया है। यदि मूल मे दो मडप रहे, तो दोनो को उस दरवाजे के दोनो ओर पुनर्निमित कर दिया गया। इस प्रकार विना एक भी नये स्तम्भ के एक ऐसी मस्जिद तैयार हो जाती थी, जो सुविधा और सौन्दर्य की दृष्टि से उनके लिये अपूर्व थी। इस प्रकार के रचना-परिवर्तन के उदाहरण अजमेर का अढाई दिन का झोपडा दिल्ली की कुतुवमीनार के समीप की मस्जिद, एव कन्नौज, माडू (धार राज्य), अहमदावाद आदि की मस्जिदे आज भी विद्यमान है, और वे मुसलमान काल से पूर्व की जैन वास्तु-कला के अध्ययन के लिये बडे उपयुक्त साधन है।" (हिस्ट्री ऑफ इडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ २६३-६४)

यहा प्रश्न हो सकता है कि क्या देश के बाहर भी जैन मन्दिरो का निर्माण हुआ ? अन्यत्र कहा जा चुका है कि महावश के अनुसार लका मे बौद्ध धर्म के प्रवेश से बहुत पूर्व ही वहा निर्ग्रन्थ मुनि पहुच चुके थे, और उनके लिये अनुराधपुर मे पाडुकाभय नरेश ने ई० पू० ३६० के लगभग निवास स्थान व देवकुल (मदिर) निर्माण कराये थे। जावा के ब्रम्बनम् नामक स्थान का एक मदिर-समूह, फर्गुसन साहब के मतानुसार, मूलत जैन रहा है। न केवल उसकी मध्यवर्ती मदिर व भमिति की सैकडो देवकुलिकाए जैन मदिरो की सुविख्यात शैली का अनुसरण करती है, किन्तु उनमे प्रतिष्ठित जिन ध्यानस्थ पद्मासन मूर्तियो को सामान्यत बौद्ध कहा जाता है, वे सब जिन मूर्तिया ही प्रतीत होती है। इतिहास मे भले ही इस बात के प्रमाण न मिले कि जैन धर्म कब जावा द्वीप मे पहुंचा होगा, किन्तु यह उदाहरण इस बात का तो प्रमाण अवश्य है कि जैन मदिरो की वास्तुकला ने दसवी शती से पूर्व जावा मे प्रवेश कर लिया था।

अवनितलगताना कृत्रिमाकृत्रिमाणा
वनभवनगानता दिव्यवैमानिकानाम्।
इह मनुजकृताना देवराजार्चितानां
जिनवर-निलयाना भावतोऽहं स्मरामि ॥"

जैन मूर्तिकला

अतिप्राचीन जैन मूर्तियां—

जैन धर्म मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैनागमो मे जैन तीर्थंकरो व यक्षो की मूर्तियो सम्बन्धी उल्लेखो के अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल के ई० पू० द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नदवश के राज्यकाल अर्थात् ई० पू० चौथी-पाचवी शती मे जिन-मूर्तिया प्रतिष्ठित की जाती थी। ऐसी ही एक जिनमूर्ति को नदराज कलिंग से अपहरण कर ले गये थे, और उसे खारवेल कोई दो-तीन शती पश्चात् वापिस लाये थे। कुषाण काल की तो अनेक जिन-मूर्तिया मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। एक प्राचीन मस्तकहीन जिन-प्रतिमा पटना सग्रहालय मे सुरक्षित है, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश होने से उसके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इनसे प्राचीन मूर्तिया भारतवर्ष मे कही प्राप्त नही होती थी, किन्तु सिंधुघाटी की खुदाई मे मोहेनजोदड़ो व हडप्पा से जो मूर्तिया प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है, और उसकी परम्परा उक्तकाल से सहस्त्रो वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। सिन्धघाटी की मुद्राओ पर प्राप्त लेखो की लिपि अभी तक अज्ञात होने के कारण वहा की सस्कृति के सम्बन्ध मे अभी तक निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। तथापि जहा तक मूर्ति-निर्माण, आकृति व भावाभिव्यजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से उक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति मे बडा साम्य पाया जाता है, और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से हडप्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्ति-प्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन-प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। ऋग्वेद मे शिश्न देवो अर्थात् नग्न देवो के जो उल्लेख हैं, उनमे इन देवो अथवा उनके अनुयायियो को यज्ञ से दूर रखने व उनका घात करने की इन्द्र से प्रार्थना की गई है। (ऋग्वेद ७, २१, ५ व १०, ९९, ३)। जिस प्रकार यह मूर्ति खड्गासन की दृष्टि से समता रखती हैं, उसी प्रकार अनेक मुद्राओ पर की ध्यानस्थ व मस्तिष्क पर त्रिशृ गयुक्त मूर्ति जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। एक मुद्रा मे इस मूर्ति के आसपास हाथी, बैल, सिंह व मृग आदि वनचर जीव दिखाये गये हैं, जिन पर से उसके पशुपतिनाथ की पूर्वगामी मूर्ति होने की

कल्पना की जाती है। जो हो, इन मूर्तियों में हमें जैन, बौद्ध व शैव ध्यानस्थ मूर्तियों का पूर्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थतः तो इस प्रकार के आसन से ध्यान का सम्बन्ध जितना श्रमण परम्परा से है, उतना वैदिक परम्परा से नही, और श्रमण-परम्परा की जितनी प्राचीनता जैन धर्म मे पाई जाती है, उतनी बौद्ध धर्म मे नही। मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अतिप्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्तियो के हस्त व चरण तलों पर पाया जाता है, जिसपर धर्मचक्र स्थापित देखा जाता है, और विशेषतः जो रानी-गुम्फा के एक तोरण के ऊपर चित्रित है। इस विषय मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम भारत से जैन-धर्म का अतिप्राचीन सम्बन्ध पाया जाता है। एवं जिस असुर जाति से सम्बद्ध सिन्धघाटी की सभ्यता अनुमानित की जाती है, उन असुरों, नागों और यक्षों द्वारा जैनधर्म व मुनियो की नाना सकटो की अवस्था मे रक्षा किये जाने के उल्लेख पाये जाते है।

कुषाणकालीन जैन मूर्तिया—

इतिहास-कालीन जैन मूर्तियो के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमे मथुरा के सग्रहालय मे एकत्रित उन ४७ मूर्तियो मे प्राप्त होती है, जिनका व्यवस्थित परिचय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वहा की सूची के तृतीय भाग मे कराया है। इनमे से अनेक मूर्तियों के आसनो पर लेख भी खुदे मिले है, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है। कुषाण-कालीन मूर्तियो पर पाचवें से लेकर ९० वें वर्ष तक का उल्लेख है। अनेक लेखो मे ये वर्ष शक सम्वत् के अनुमान किये जाते है। कुछ लेखो मे कुषाणवशी कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव राजाओ का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थंकरो की समस्त मूर्तिया दो प्रकार की पाई जाती है—एक खडी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या खड्गासन कहते है, और दूसरी बैठी हुई पद्मासन। समस्त मूर्तियां नग्न व नासाग्र-दृष्टि, ध्यानमुद्रा मे ही है। नाना तीर्थंकरों मे भेद सूचित करने वाले वे बैल आदि चिन्ह इन पर नहीं पाये जाते, जो परवर्ती काल की प्रतिमाओ मे। अधिकांश मूर्तियो के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह पाया जाता है, तथा हस्ततल व चरणतल एव सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीष तथा ऊर्णा (भौहो के बीच रोमगुच्छ) के चिन्ह भी बहुत सी मूर्तियो मे पाये जाते हैं। अन्य परिकरो मे प्रभावल (भामण्डल), दोनो पार्श्वों मे चमरवाहक तथा सिंहासन के दोनो ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते है। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किये हुए दिखाये गये हैं। कुछ मूर्तियो का सिंहासन उठे हुए पद्म (उत्थित पद्मासन) के रूप मे दिखाया गया है। कुछ मे तीर्थंकर की मूर्ति पर छत्र भी अकित है, और एक के सिंहासन पर बालक को

गोद मे बैठाये भद्रासन अम्बिका की प्रतिमा भी है। ये उस काल की जिन-मूर्तियो के सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। केवल दो तीर्थंकरो की मूर्तियाँ अपने किसी विशेष लक्षण से युक्त पाई जाती है, वे हैं आदिनाथ, जिनका केशकलाप पीछे की ओर कधो से नीचे तक बिखरा हुआ दिखाया गया है, और जिनके सिर पर सप्तफणी नाग छाया किये हुए है। आदिनाथ के तपस्याकाल मे उनकी लम्बी जटाओ का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य मे अनेक स्थानो पर आया है। उदाहरणार्थ रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई०) मे कहा गया है—

> वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तय ।
> धूमालय इव ध्यान-वन्हिसक्तस्य कर्मण ।। (प० पु० ३, २८८)

तथा—

> स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहुताशुमान् ।। (वही ४, ५)

उसी प्रकार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है, जिसका सुन्दर सक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत स्वम्यभूस्तोत्र मे इस प्रकार मिलता है—

> तमालनीलै सघनुस्तडिद्गुणै प्रकीर्णभीमाशनि-वायुवृष्टिभि ।
> वलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रतो महामना यो न चचाल योगत ।। १३१ ।।
> बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन य स्फूरत्तडित्पिगरुचोपसर्गिणाम् ।
> जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्या तडिदम्बुदो यथा

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या मे निश्चल भाव से ध्यानारूढ थे तब उनका पूर्वजन्म का वैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवो द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई, घनघोर वृष्टि की, मेघो से वज्रपात कराया, तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नही हुए। उनकी ऐसी तपस्या से प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फणा-मण्डल को उनके ऊपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फणा चिन्ह मे पाते हैं।

कुछ मूर्तियो का परिचय—

(१) महाराज वासुदेवकालीन सम्वत्सर ८४ की आदिनाथ की मूर्ति (बी ४)— मूर्ति ध्यानस्थ पद्मासीन है। यद्यपि मस्तक और बाहु खडित है, तथापि खरौंचा हुआ किनारीदार प्रभावल बहुत कुछ सुरक्षित है। वक्षस्थल

पर श्रीवत्स एव हाथो और चरणो के तलो पर चक्रचिन्ह विद्यमान हैं। आसन पर एक स्तम्भ के ऊपर धर्मचक्र है। उसकी १० स्त्री-पुरुष पूजा कर रहे हैं, जिनमे से दो धर्मचक्र स्तम्भ के समीप घुटना टेके हुए हैं, और शेष खडे हैं। कुछ के हाथो मे पुष्प है, और कुछ हाथ जोडे हुए हैं। सभी की मुखमुद्रा वदना के भाव को लिए हुए है। इस मूर्ति को लेख मे स्पष्टत भगवान् अर्हन्त ऋषभ की प्रतिमा कहा है।

(२) पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति (बी ६२) का सिर और उस पर नागफणा मात्र सुरक्षित मिला है। फणो के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीनयुगल, इन मगल-द्रव्यो के चिन्ह बने हुये हैं। सिर पर घु घराले वाल हैं। कान कुछ लम्बे, आंखो की भौहें ऊर्णा से जुडी हुई व कपोल भरे हुए है।

(३) पाषाण-स्तभ (बी ६८) ३ फुट ३ इच ऊचा है, और उसके चारो और चार नग्न जिन-मूर्तिया हैं। श्रीवत्स सभी के वृक्ष स्थल पर है, और तीन मूर्तियो के साथ भामण्डल भी हैं, व उनमे से एक के सिर की जटाए कधो पर विखरी हुई हैं। चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफणी नाग की छाया है। इनमे से अतिम दो स्पष्टत आदिनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तिया हैं।

(४) इतिहास की दृष्टि मे एक स्तम्भ का पीठ उल्लेखनीय है। इसके ऊपर का भाग जिसमे चारो ओर जिनप्रतिमायें रही हैं, टूट गया है, किन्तु उनके चरणो के चिन्ह बचे हुए है। इस पीठ के एक भाग पर धर्मचक्र खुदा हुआ है, जिसकी दो पुरुष व दो स्त्रिया पूजा कर रहे हैं, तथा दो वालक हाथो मे पुष्पमालाए लिए खडे हैं। इस पाषाण पर लेख भी खुदा है, जिसके अनुसार यह अभिसार-निवासी भट्टिदाम का आर्य ऋषिदास के उपदेश से किया हुआ दान हैं। डा० अग्रवाल का मत है कि यह उक्त धार्मिक पुरुष उसी अभिसार प्रदेश का निवासी रहा होगा जिसका यूनानी लेखको ने भी उल्लेख किया है, और जो वर्तमान पेशावर विभाग के पश्चिमोत्तर का हजारा जिला सिद्ध होता है। उसने मथुरा मे आकर जैन धर्म स्वीकार किया होगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह प्रतीत होता है कि हजारा निवासी वह व्यक्ति पहले से जैन धर्मावलम्बी रहा होगा और मथुरा के स्तूपो और मन्दिरो की तीर्थयात्रा के लिए आया होगा, तभी वह सर्वतोभद्र प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई। प्रथम शती मे पश्चिमोत्तर प्रदेश मे जैन धर्म का अस्तित्व असम्भव नही है।

(५) एक और ध्यान देने योग्य प्रतिमा (२५०२) हैं, तीर्थंकर नेमिनाथ की। इसके दाहिनी ओर चार भुजाओ व सप्त फणो युक्त नागराज की [illegible] हैं, जिसके ऊपर के वाए हाथ मे हल का चिन्ह होने से वह बलराम की

गई हैं। बायी ओर चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है, जिनके ऊपर के दाहिने हाथ मे गदा व बाए हाथ मे चक्र हैं। तीर्थंकर की मूर्ति के ऊपर वेतस-पत्रो का खुदाव है। समवायाग सूत्र के अनुसार वेतस नेमिनाथ का बोधिवृक्ष है। हिन्दू पुराणानुसार बलराम शेषनाग के अवतार माने गये हैं। इस प्रकार की, ऐसे ही बलराम और वासुदेव की प्रतिमाओ से अकित, और भी अनेक मूर्तिया पाई गई हैं, (जैन एन्टी० भाग २, पृष्ठ ६१)। ऐसी ही एक और प्रतिमा (२४८८) है, जिसमे तीर्थंकर के दाहिनी ओर फणायुक्त नाग हाथ जोडे खडा है। यह भी बलराम उपासक सहित नेमिनाथ की मूर्ति मानी गई हैं। नेमिनाथ की मूर्ति के साथ वासुदेव और बलभद्र के सम्बद्ध होने का उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र मे किया है। नेमिनाथ की स्तुति करते हुए वे कहते है —

> द्युतिमद्-रथाग-रविबिम्बकिरण-जटिलांशुमडल ।
> नील-जलजदलराशि-वपु सहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वर ॥
> हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
> धर्मविनय-रसिकौ सुतरा चरणारविंद-युगल प्रणेमतु ॥ १२६ ॥

अर्थात् चक्रधारी गरुडकेतु (वासुदेव) और हलधर, ये दोनो भ्राता प्रसन्न-चित्त होकर विनय से आपकी वन्दना करते है।

गुप्तकालीन जैन मूर्तियां--

कुषाणकाल के पश्चात् अब हम गुप्तकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओ की ओर ध्यान दे। यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की ३७ प्रतिमाओ का परिचय उक्त मथुरा सग्रहालय की सूची मे कराया गया है। उस पर से इस युग की निम्न विशेषताये ज्ञात होती है। तीर्थंकर मूर्तियों के सामान्य लक्षण तो वे ही पाये जाते है जो कुषाणकाल मे विकसित हो चुके थे, किन्तु उनके परिकरो मे अब कुछ वैशिष्ट्य दिखाई देता है। प्रतिमाओ का उष्णीष कुछ अधिक सौन्दर्य व घुघरालेपन को लिये हुए पाया जाता है। प्रभावल मे विशेष सजावट दिखाई देती है (बी १, बी ६, आदि) धर्मचक्र व उसके उपासको का चित्रण पूर्ववत् होते हुए कहीं-कही उसके पार्श्वों मे मृग भी उत्कीर्ण दिखाई देते हैं। बौद्ध मूर्तियो मे इस प्रकार मृगो का चित्रण बुद्ध भगवान् के सारनाथ के मृगदाव में प्रथम बार धर्मोपदेश का प्रतीक माना गया है। सम्भव है यहा भी उसी अलकरण शैली ने स्थान पा लिया हो। आगे चलकर हम मृग को शान्तिनाथ भगवान् का विशेष चिन्ह स्वीकृत पाते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा (बी ७५) के सिंहासन पर एक पार्श्व मे अपनी गर्दन

सहित धनपति कुबेर और दूसरे पार्श्व मे अपनी बाई जघा पर बालक को बैठाये हुए मातृदेवी (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनो ओर चार-चार कमलासीन प्रतिमाए दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, और राहु, इन आठ ग्रहो की प्रतीक मानी गई है। इस अलकरण के आधार पर यह प्रतिमा गुप्त-युग से मध्य-युग के सधिकाल की मानी गई है, क्योकि यह प्रतिमाशैली उस काल मे अधिक विकसित हुई थी (बी ६५, ६६)। नवग्रह और अष्ट प्रातिहार्य युक्त एक जिन-प्रतिमा मध्यप्रदेश मे जबलपुर के समीप सलीमानाबाद मे भी एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, जो वहा की जनता द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है (देखो-खडहरो का वैभव, पृ-१८०)। इसी प्रकार की सधिकालीन वह एक प्रतिमा (१३८८) है जिसके सिंहासन पर पार्श्वस्थ सिंहो के बीच मीन-युगल दिखलाया गया है जिनके मुख खुले हुए हैं, और उनसे सूत्र लटक रहा है। आगे चलकर मीन अरनाथ तीर्थंकर का चिन्ह पाया जाता है। आदिनाथ की प्रतिमा अभी तक उन्ही कन्धो पर बिखरे हुए केशो सहित दिखाई देती है। उसका वृषभ, तथा अन्य तीर्थंकरो के अलग-अलग चिन्ह यहा तक अधिक प्रचार मे आये नही पाये जाते, तथापि उनका उपयोग प्रारम्भ हुआ प्रमाणित होता है। इस सबध मे राजगिर के वैभार पर्वत की नेमिनाथ की वह मूर्ति ध्यान देने योग्य है जिसके सिंहासन के मध्य मे धर्मचक्र की पीठ पर धारण किये हुए एक पुरुष और उसके दोनो पार्श्वो मे शखो की आकृतिया पाई जाती हैं। इस मूर्ति पर के खडित लेख मे चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवशी नरेश चन्द्रगुप्त-द्वितीय का वाची अनुमान किया जाता है। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम के काल मे गुप्त स० १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा मे उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यत मूर्ति खडित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयकर दातो से बडा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिये तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के कहाऊ नामक स्थान से प्राप्त गुप्त स० १४१ के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहाँ उल्लेखनीय है जिसमे पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरो की प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमायें ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढी चदेरी व देवगढ आदि अनेक स्थानो से प्राप्त हुई है। देवगढ की कुछ मूर्तियो का वहा के मन्दिरो के साथ उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ की मूर्तियो मे गुप्त व गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तिकला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। दो-चार मूर्तियो की बनावट की ओर ध्यान देने से वहाँ

की शैलियो की विविधता स्पष्ट की जा सकती है। वहाँ के १२ वें मन्दिर के मण्डप मे आसनस्थ जिनप्रतिमा को देखिये, जिसका मस्तक विशाल, अधर स्थूल व खूब सटे हुए तथा भृकुटियाँ कुछ अधिक ऊपर को उठी हुई दिखाई देती हैं। यहाँ ध्यान व एकाग्रता का भाव खूब पुष्ट है, किन्तु लावण्य एव परिकरात्मक साज-सज्जा का अभाव है। उसी मन्दिर के गर्भगृह मे शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिये, जो अपने कलात्मक गुणो के कारण विशेष गौरवशाली है। भामण्डल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालो का लावण्य व भावभगिमा गुप्तकाल की कला के अनुकूल है, फिर भी परिकरो के साथ मूर्ति का तादात्म्य नही हो पाया। दर्शक के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्तिभाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन मे भयमिश्रित पूज्यभाव उत्पन्न करती है। उक्त दोनो मूर्तियो से सर्वथा भिन्न शैली की वह पद्मासन प्रतिमा है जो १५ वे मन्दिर के गर्भगृह मे विराजमान है। इस मूर्ति मे लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट है, जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान, ध्यान और लोक कल्याण की भावना इस मूर्ति के अग-अग से फूट फूट कर निकल रही है। परिकरो की सजावट भी अनुकूल ही है। प्रभावल खूब अलकृत है। दोनो पार्श्वों के द्वारपाल, ऊपर छत्र-त्रय व गज-लक्ष्मी आदि की आकृतियाँ भी सुन्दर और आकर्षक है। ये गुण २१ वे मन्दिर के दक्षिण-कक्ष के देवकुल मे स्थित प्रतिमा मे और भी अधिक विकसित दिखाई देते हैं। यहाँ चारो ओर की आकृतियाँ व अलकरण इतने समृद्ध हुए है कि दर्शक को उनका आकर्षण मुख्य प्रतिमा से कम नही रहता। इस कारण मुख्य प्रतिमा समस्त दृश्य का एक अग मात्र बन गई है। यह अलकरण की समृद्धि मध्यकाल की विशेषता है।

तीर्थंकर मूर्तियों के चिन्ह—

प्रतिमाओ पर पृथक्-पृथक् चिन्हो का प्रदर्शन मध्य युग मे (८ वी शती ई० से) धीरे-धीरे प्रचार मे आया पाया जाता है। इस युग की उक्त मथुरा सग्रहालय की सूची मे जिन ३३ तीर्थंकर प्रतिमाओ का उल्लेख किया गया है, उनमे आदिनाथ की मूर्ति (बी २१ व बी ७६) पर वृषभ का चिन्ह, नेमिनाथ की प्रतिमा (बी २२, स० ११०४, बी ७७) पर शख का, तथा शातिनाथ की मूर्ति (१५०४) पर मृग का चिन्ह पाया जाता है। शेष मूर्तियो पर ऐसे विशेष चिन्हो का अकन नहीं है। एक मूर्ति(ए० ६०) पर लंगोटी का चिन्ह दिखाया गया है। कुछ के चूचको के स्थान पर चक्राकृति बनी है। कुछ के हस्त-तलो पर चतुर्दल पुष्प पाया जाता है। मूर्तियो पर तीन छत्रो का अकन भी देखा

जाता है। कुछ मूर्तियो पर कुवेर व गोद मे बालक सहित माता (वी ६५) तथा नवग्रह (वी ६६) भी वने हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति के पार्श्वों मे वलदेव की एक हाथ मे प्याला लिये हुए, तथा अपने शख चक्रादि लक्षणो सहित वासुदेव की चतुर्भुज मूर्तिया भी हैं (२७३८)। यक्ष-यक्षिणी आदि शासन देवताओ का आसनो पर अकन भी प्रचुरता से पाया जाता हैं। आदि-नाथ की एक पद्मासन मूर्ति के साथ शेष २३ तीर्थंकरो की भी पद्मासनस्थ प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। इससे पूर्व कुषाण व गुप्त कालो मे प्राय चार तीर्थंकरो वाली सर्वतोभद्र मूर्तिया पाई गई हैं। प्रभावल व सिंहासनो का अलकरण विशेष अधिक पाया जाता है। एक आदिनाथ की मूर्ति (वी २१) के सिंहासन की किनारी पर से पुष्पमालाए लटकती हुई व धर्मचक्र को स्पर्श करती हुई दिखाई गई हैं। कुछ मूर्तिया काले व श्वेत सगमरमर की वनी हुई भी पाई गई हैं। कुछ मूर्तियो के ऊपर देवो द्वारा दुदुभी वजाने की आकृति भी अकित है। ये ही सक्षेपत इस काल की मूर्तियो की विशेषताए है। इस काल मे तीर्थंकरो के जो विशेष चिन्ह निर्धारित हुए, व जो यक्ष-यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर ठहराये गये, व जिन चैत्यवृक्षो का उनके केवल ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित किया गया, उनकी तालिका (त्रि० प्र० ४, ६०४-०५, ६१६-१८, ६३४-४० के अनुसार) निम्न प्रकार है।

क्रमसख्या	तीर्थंकरनाम	चिन्ह	चैत्यवृक्ष	यक्ष	यक्षिणी
१	ऋषभनाथ	वैल	न्यग्रोध	गोवदन	चक्रेश्वरी
२	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३	सभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४	अभिनदननाथ	वन्दर	सरल	यक्षेश्वर	वज्रश्रृखला
५	सुमतिनाथ	चकवा	प्रियगु	तुम्वुरव	वज्राकुशा
६	पद्मप्रभु	कमल	प्रियगु	मातग	अप्रति चक्रेश्वरी
७	सुपार्श्वनाथ	नद्यावर्त	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
८	चन्द्रप्रभु	अर्द्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष (वहेडा)	ब्रह्म	काली
१०	शीतलनाथ	स्वस्तिक	धूलि(मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११	श्रेयासनाथ	गेंडा	पलाश	कुमार	महाकाली
१२	वासुपूज्य	भैसा	तेंदू	षण्मुख	गौरी
१३	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल	गाधारी
१४	अनतनाथ	सेही	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५	धर्मनाथ	वज्र	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसा

१६	शान्तिनाथ	हरिण	नदी	गरुड	अनन्तमती
१७	कुथुनाथ	छाग	तिलक	गधर्व	मानसी
१८	अरहनाथ	तगरकुसुम (मत्स्य)	आम्र	कुवेर	महामानसी
१९	मल्लिनाथ	कलश	ककेली (अशोक)	वरुण	जया
२०	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म	चम्पक	भृकुटि	विजया
२१	नेमिनाथ	उत्पल	बकुल	गोमेघ	अपराजिता
२२	नेमिनाथ	शख	मेषभृ ग	पार्श्व	बहुरूपिणी
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	घव	मातग	कुष्माडी
२४	महावीर	सिंह	शाल	गुह्यक	पद्मा सिद्धायिनी

समवायाग सूत्र मे भी प्राय· यही चैत्यवृक्षो की नामावली पाई जाती है। भेद केवल इतना है कि वहाँ चौथे स्थान पर 'प्रियक' छठे स्थान पर छत्ताह, नौवे पर माली, १० वे पर पिलखु, ११, १२, १३, पर तिदुग, पाटल और जम्बू, व १९ वे पर अशोक, २२ वे पर वेडस नाम अकित है।

विशालता की दृष्टि से मध्यप्रदेश मे बडवानी नगर के समीप चूलगिरि नामक पर्वश्रेणी के तलभाग मे उत्कीर्ण ८४ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा है जो बावनगजा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी भी उत्कीर्ण है। चूलगिरि के शिखर पर दो मन्दिरो मे तीन-चार मूर्तियो पर सवत् १३८० का उल्लेख है जिससे इस तीर्थक्षेत्र की प्रतिष्ठा कम से कम १४ वी शती से सिद्ध है। देश के प्राय समस्त भागो के दिगम्बर जैन मन्दिरो मे ऐसी जिन-प्रतिमाए विराजमान पाई जाती है, जिनमे उनके शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा स० १५४८ (१४९० ई०) मे प्रतिष्ठित कराए जाने का, तथा भट्टारक जिनचन्द्र या भानुचन्द्र का स्थान मुडासा का, व राजा या रावल शिवसिंह का उल्लेख मिलता है। मुडासा पश्चिम राजस्थान मे ईडर से पाँच-छह मील दूर एक गाँव है। एक किंवदती प्रचलित है कि सेठ जीवराज पापडीवाल ने एक लाख मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराकर उनका सर्वत्र पूजानिमित्त वितरण कराया था।

धातु की मूर्तियां—

यहा तक जिन मूर्तियो का परिचय कराया गया वे पाषाण निर्मित हैं। धातुनिर्मित प्रतिमाए भी अतिप्राचीन काल से प्रचार मे पाई जाती है। ब्रोन्ज (ताम्र व शीशा मिश्रित धातु) की बनी हुई एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में है। दुर्भाग्य से इसका पादपीठ नष्ट हो गया

है, और यह भी पता नही कि यह कहा से प्राप्त हुई थी। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे है, और उसका दाहिना हाथ व नागफण खंडित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड पृष्ठ-भाग मे पैरो से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति पूर्वोक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हडप्पा के लाल-पाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानो का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिये, और वह ई० पू० १०० वर्ष से इस ओर की तो हो ही नही सकती।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा आदिनाथ तीर्थंकर की है, जो विहार मे आरा के चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई है, और पटना सग्रहालय मे सुरक्षित है। यह भी खड्गासन मुद्रा मे है, और रूप-रेखा मे उपर्युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति से साम्य रखती है। तथापि अगो की आकृति, केश-विन्यास एव प्रभावल की शोभा के आधार पर यह गुप्त-कालीन अनुमान की जाती है। इसी के साथ प्राप्त हुई अन्य प्रतिमाए पटना सग्रहालय मे हैं, जो अपनी बनावट की शैली द्वारा मौर्य व गुप्त काल के बीच की शृखला को प्रकट करती हैं।

धातु की सवस्त्र जिन-प्रतिमा राजपूताने मे सिरोही जनपद के अन्तर्गत वसन्तगढ नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर स० ७४४ (ई० ६८७) का लेख है। इसमे धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी धोती की सिकुडन बाए पैर पर विशेष रूप से दिखाई गयी है। इससे सभवत कुछ पूर्व की वे पाच धातु प्रतिमाए हैं जो वलभी से प्राप्त हुई हैं, और प्रिन्स ऑफ वेल्स सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाए भी सवस्त्र हैं, किन्तु इनमे धोती का प्रदर्शन वैसे उग्र रूप से नही पाया जाता, जैसा वसन्तगढ की प्रतिमा मे। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियो मे भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण रोहतक (पजाब) मे पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। प्रिन्स ऑफ वेल्स सग्रहालय की चाहरडी (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा १० वी शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार की धातु-प्रतिमाओ मे वे मूर्तिया भी उल्लेखनीय हैं जो जीवन्त स्वामी की कही जाती हैं। आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि व वसुदेवहिंडी मे उल्लेख मिलता है कि महावीर तीर्थंकर के कुमारकाल मे जब वे अपने राज-प्रासाद मे ही धर्म-ध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्माण कराई गई थी, जो वीतिभय पट्टन (सिंधु-सौवीर) के नरेश उदयन
से उज्जैन के राजा प्रद्योत उसकी अन्य काष्ठ-घटित प्र त

उसके स्थान पर छोडकर मूल प्रतिमा को अपने राज्य मे ले आये, और उसे विदिशा मे प्रतिष्ठित करा दिया, जहा वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। इस साहित्य कथानक को हाल ही मे अकोटा (वडौदा जनपद) से प्राप्त दो जीवन्त-स्वामी की ब्रोन्ज-धातु निर्मित प्रतिमाओ से ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इनमे से एक पर लेख है, जिसमे उसे जीवन्त-सामि-प्रतिमा कहा है, और यह उल्लेख है कि उसे चन्द्रकुलकी नागेश्वरी श्राविका ने दान दिया था। लिपि पर से यह छठी शती के मध्यभाग की अनुमान की गई है। ये मूर्तिया कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा मे है, किन्तु शरीर पर अलकरण खूब राजकुमारोचित है। मस्तक पर ऊचा मुकुट है, जिसके नीचे केशकलाप दोनो कधों के नीचे झूल रहे है। गले मे हारादि आभरण, कानो मे कु डल, दोनो बाहुओ पर चौडे भुजबध व हाथो मे कडे और कटिवन्ध आदि आभूषण है। मु ह पर स्मित व प्रसाद भाव झलक रहा है। इनकी भावाभिव्यक्ति व अलकरण मे गुप्तकालीन व तदुत्तर शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

लगभग १४ वी शती से पीतल की जिनमूर्तियो का भी प्रचार हुआ पाया जाता है। कही कही तो पीतल की बडी विशाल भारी ठोस मूर्तिया प्रतिष्ठित है। आवू के पित्तलहर मदिर मे विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति लेखानुसार १०८ मन की है, और वह वि० स० १५२५ मे प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति अपने परिकर सहित ८ फुट ऊँची पद्मासन है, और वह मेहसाना (उत्तर गुजरात) के सूत्र धार मडन के पुत्र देवा द्वारा निर्माण की गई थी।

बाहुबलि की मूर्तियां—

ब्रोन्ज की प्रतिमाओ मे विशेष उल्लेखनीय है बाहुबलि की वह प्रतिमा जो अभी कुछ वर्ष पूर्व ही बम्बई के प्रिन्स ऑफ वेल्स सग्रहालय मे आई है। बाहुबलि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र व भरत चक्रवर्ती के भ्राता थे, और उन्हे तक्षशिला का राज्य दिया गया था। पिता के तपस्या धारण कर लेने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती हुए, और उन्होने बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश करना चाहा। इस पर दोनो भाइयो मे युद्ध हुआ। जिस समय युद्ध के बीच विजयश्री सशयावस्था मे पडी हुई थी, उसी समय बाहुबलि को इस सासारिक मोह और आसक्ति से वैराग्य हो गया, और उन्होने अपने लिए केवल एक पैर भर पृथ्वी रखकर शेष समस्त राज्य-वैभव भूमि व परिग्रह का परित्याग कर दिया। उन्होने पोतनपुर मे निश्चल खडे होकर ऐसी घोर तपस्या की कि उनके पैरो के समीप वल्मीक चढ गये व शरीर के अग-प्रत्यगो से महासर्प व लताए लिपट गई। बाहुबलि की इस घोर तपस्या का वर्णन जिनसेन

कृत महापुराण (३६, १०४-१८५) मे किया गया है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण मे सक्षेपत कहा है--

सत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषण. ।
वर्ष प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निष्प्रकम्पक ।
वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रै स महोरगै ।
श्यामादीना च वल्लीभि वेष्टित प्राप केवलम् ।। (प० पु० ४,७६-७७)

इस वर्णन मे जो वमीठो व लता के शरीर मे लिपटने का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सम्मुख बाहुबलि की इन लक्षणो से युक्त कोई मूर्तिमान् प्रतिमा थी। काल की दृष्टि के उस समय बादामी की गुफा की बाहुबलि मूर्ति बन चुकी सिद्ध होती है। रविषेणाचार्य उससे परिचित रहे हो तो आश्चर्य नही। बादामी की यह मूर्ति लगभग सातवी शती मे निर्मित साढे सात फुट ऊची है। दूसरी प्रतिमा ऐलोरा के छोटे कैलाश नामक जैन-शिलामदिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण काल लगभग ८ वी शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति देवगढ के शान्तिनाथ मन्दिर (८६२ ई०) मे हैं, जिसकी उपर्युक्त मूर्तियो से विशेषता यह है कि इसमे वामी, कुक्कुट सर्प व लताओ के अतिरिक्त मूर्ति पर रेंगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अकित किये गये हैं, और इन उपसर्गकारी जीवो का निवारण करते हुए एक देव-युगल भी दिखाया गया हैं। किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवण-बेल गोला के विन्ध्यगिरि पर विराजमान वह मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा गगनरेश राजमल्ल के महामत्री चामुडराय ने १०-११ वी शती मे कराई थी। यह मूर्ति ५६ फुट ३ इन्च ऊची है और उस पर्वत पर दूर से ही दिखाई देती है। उसके अगो का सन्तुलन, मुख का शात और प्रसन्न भाव, वल्मीक व माधवी लता के लपेटन इतनी सुन्दरता को लिए हुए है कि जिनकी तुलना अन्यत्र कही नही पाई जाती। इसी मूर्ति के अनुकरण पर कारकल मे सन् १४३२ ई० मे ४१ फुट ६ इन्च ऊची, तथा वेणूर मे १६०४ ई० मे ३५ फुट ऊची अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुई। धीरे-धीरे इस प्रकार की बाहुबलि की मूर्ति का उत्तर भारत मे भी प्रचार हुआ है। इधर कुछ दिनो से बाहुबलि की मूर्तिया अनेक जैन मदिरो मे प्रतिष्ठित हुई हैं।

किन्तु जो ब्रोन्ज-धातु निर्मित मूर्ति अब प्रकाश मे आई है। वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओ से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल

सम्भवत सातवी शती व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खडी है, और उसकी ऊचाई २० इन्च है। माधवी-लता पत्तो सहित पैरो और वाहुओ से लिपटी हुई है। सिर के वाल जैसे कघी से पीछे की ओर लौटाये हुए दिखाई देते है, तथा उनकी जटाए पीठ व कधो पर बिखरी है। भौहे ऊपर को चढी हुई व उथली वनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए है। नाक पैनी व झुकी हुई है। कपोल व दाढी खूब मासल व भरे हुए है। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वक्षस्थल चौडाई को लिए हुए चिकना है व चूचूक चिह्न मात्र दिखाये गये हैं। नितम्ब-भाग गुलाई लिए हुए है। पैर सीधे, और घुटने भले प्रकार दिखाये गये हैं। वाहुए विशाल कधो से नीचे की ओर शरीर आकृति के वलन का अनुकरण कर रही है। हस्ततल जघाओ से गुट्टो के द्वारा जुडे हुए है जिससे वाहुओ को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति–निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भले प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण मे श्री उमाकात शाह ने इसकी तुलना-वादामी गुफा मे उपलब्ध वाहुवलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियो से की है, जिनका निर्माण-काल ६ वी ७ वी शती है।

चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियो की मूर्तियां—

जैन मूर्तिकला मे तीर्थंकरो के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओ को रूप प्रदान किया गया है, उनमे यक्षो और यक्षिणियो की प्रतिमाए भी ध्यान देने योग्य है। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुयगी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढाई फुट ऊची पाषाण मूर्ति मथुरा सग्रहालय मे विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजाए टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलकृत विद्यमान है। भुजाए दश रही है, और हाथ मे एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों मे एक-एक द्वारपालिका है, उनमे दायी ओर वाली एक चमर, तथा बायी ओर वाली एक पुष्पमाला लिये हुए है। ये तीनो प्रतिमाए भी कुछ खण्डित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनो ओर वदनमालाए लिए हुए उडती हुई मूर्तिया बनी है। यह मूर्ति भी ककाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिंघम साहब ने इसे ब्राह्मण-परम्परा की दशभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नही। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले मे ही कटनी के समीप बिलहरी ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मन्दिर मे चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरामाई के नाम से पूजी-जा रही है, किन्तु मूर्ति के मस्तक

पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टत जैन परम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तिया देवगढ के मन्दिरो मे भी पाई गई है। श्रवणबेल गोला (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-बस्ति नामक आदिनाथ के मन्दिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाए है यह मन्दिर लेखानुसार शक १०४६ (१११७ ई०) से पूर्व बन चुका था। वहा के अन्यान्य मन्दिरो मे नाना तीर्थंकरो के यक्ष-यक्षिणियो की प्रतिमाए विद्यमान हैं (देखिए जै० शि० स० भाग एक, प्रस्तावना)। इनमे अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मन्दिर की साढे तीन फुट ऊची धरेणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय है। इस मन्दिर का निर्माणकाल वहा के लेखानुसार शक ११०३ (११८१ ई०) है। कत्तले बस्ति मे भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व के पश्चात्-कालीन मूर्तिया जैनमन्दिरो मे बहुतायत से पाई जाती है। इनमे खडगिरि (उडीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। नालदा व देवगढ की मूर्तिया ७ वी ८ वी शती की है। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

अम्बिका देवी की मूर्ति—

तीर्थंकरो के यक्ष-यक्षिणियो मे सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सबसे प्राचीन व विख्यात मूर्ति गिरनार (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोक पर है जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (पद्य १२७) मे खचर-योषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ० ३३६)। जिनसेन ने भी अपने हरिवश-पुराण (शक् ७०५) मे इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है—

> ग्रहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालय-सिहवाहिनी।
> शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्ना. प्रभवन्ति शासने ॥
>
> (ह० पु० प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा १ फुट ६ इच ऊची मथुरा सग्रहालय मे है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बाया पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। दाहिने हाथ मे फलो का गुच्छा है, व बाया हाथ बायी जघा पर बैठे हुए बालक को सम्भाले है। बालक वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनो स्कधो से पीछे की ओर डाली हुई ओढनी है।

सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके पीछे शोभनीक प्रभावल भी है। गले मे दो लडियो वाला हार, हाथो मे चूडियाँ, कटि मे मेखला व पैरों मे नुपुर आभूषण है। बालक नग्न है, किन्तु गले मे हार, बाहुओ मे भुजबंध, कलाई मे कडे तथा कमर मे करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खडा है, जिसका दाहिना हाथ अम्बिका के दाहिने घुटने पर है। इस खडे हुए बालक के दूसरी ओर गणेश की एक छोटी सी मूर्ति है, जिसके बाए हाथ मे मोदक पात्र है, जिसे उनकी सूड स्पर्श कर रही है। उसके ठीक दूसरे पार्श्व मे एक अन्य आसीन मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ मे एक पात्र और बाए मे मोहरो की थैली है, और इसलिए धनद-कुबेर की मूर्ति प्रतीत होती है। कुबेर और गणेश की मूर्तियो के अपने-अपने कुछ लम्बाकार प्रभावल भी बने है। इन सबके दोनो पार्श्वों मे चमरधारी मूर्तियां है। आसन से नीचे की पट्टी मे आठ नर्त्त-कियां है। ऊपर की ओर पुष्प-मडपिका बनी है, जिसके मध्य भाग मे पद्मासन व ध्यानस्थ जिनमूर्ति है। इसके दोनो ओर दो चतुर्भुजी मूर्तिया कमलो पर त्रिभगी मुद्रा मे खडी है। दाहिनी ओर की मूर्ति के हाथो मे हल व मूसल होने से वह स्पष्टत बलराम की, तथा बायी ओर की चतुर्भुज मूर्ति के बाए हाथो मे चक्र व शख तथा दाहिने हाथो मे पद्म व गदा होने से वह वासुदेव की मूर्ति है। दोनो के गलो मे वैजयन्ती मालाए पडी हुई है। बलभद्र और वासुदेव सहित नेमिनाथ तीर्थंकर की स्वतत्र मूर्तिया मथुरा व लखनऊ के सग्रहालयो मे विद्य-मान है। प्रस्तुत अम्बिका की मूर्ति मे हमे जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओ का सुन्दर समीकरण मिलता है, जिसका वर्णनात्मक पक्ष हम जैन पुराणो मे पाते हैं।

पुण्याश्रव-कथाकोष की यक्षी की कथा के अनुसार गिरिनार की अग्निला नाम की धर्मवती ब्राह्मण-महिला अपने पति की कोप-भाजन बनकर अपने प्रिय-कर और शुभकर नामक दो अल्प-वयस्क पुत्रो को लेकर गिरिनार पर्वत पर एक मुनिराज की शरण मे चली गई। वहा बालको के क्षुधाग्रस्त होने पर उसके धर्म के प्रभाव से वहाँ एक आम्रवृक्ष अकाल मे ही फूल उठा। उसकी लुम्बिकाओ (गुच्छो) द्वारा उसने उन बालको की क्षुधा को शान्त किया। उधर उसके पति सोमशर्मा को अपनी भूल का पता चला तो वह उसे मनाने आया। अग्निला समझी कि वह उसे मारने आया है। अतएव वह तत्कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ का ध्यान करती हुई पर्वत के शिखर से कूद पडी, और शुभ ध्यान से मरकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका हुई। उसका पति यथासमय मरकर सिंह के रूप मे उसका वाहन हुआ। इस प्रकार अम्बिका के दो पुत्र, आम्रवृक्ष और आम्रफलो की लम्बिका और सिंहवाहन, ये उस देवी की मूर्ति के लक्षण बने।

इसी कथानक का सार आशाधर कृत प्रतिष्ठासार (१२ वी शती) मे अम्बिका के वन्दनात्मक निम्न श्लोक मे मिलता है—

सव्यैकद्युपगा-प्रियकरसुतप्रीत्यं करे बिभ्रतीं ।
दिव्याम्रस्तबक शुभकर-करश्लिष्टान्यहस्तांगुलिम् ॥
सिंहभर्तृचरे स्थिता हरितभामाम्रद्रुमच्छायगाम् ।
ववारु दशकार्मु कोच्छ्रयजिन देवीमिहाम्बा यजे ॥

अम्बिका की ऐसी मूर्तिया उदयगिरि-खडगिरि की नवमुनि गुफा तथा ढक की गुफाओ मे भी पाई जाती है। इनमे इस मूर्ति के दो ही हाथ पाये जाते हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित मथुरा की गुप्तकालीन प्रतिमा मे भी है। किन्तु दक्षिण मे जिनकाची के एक जैन मठ की दीवाल पर चित्रित अम्बिका चतुर्भुज है। उसके दो हाथो मे पाश और अकुश है, तथा अन्य दो हाथ अभय और वरद मुद्रा मे हैं। वह आम्रवृक्ष के नीचे पद्मासन विराजमान है, और पास मे बालक भी है। मैसूर राज्य के अगडि नामक स्थान के जैनमदिर मे अम्बिका की द्विभुज-मूर्ति खडी हुई बहुत ही सुन्दर है। उसकी त्रिभग शरीराकृति कलात्मक और लालित्यपूर्ण है। देवगढ के मदिरो मे तथा आबू के विमल-वसही मे भी अम्बिका की मूर्ति दर्शनीय है। मथुरा सग्रहालय मे हाल ही आई हुई (३३८२) पूर्व-मध्यकालीन मूर्ति मे देवी दो स्तभो के बीच ललितासन बैठी है। दाया पैर कमल पर है। देवी अपनी गोद के शिशु को अत्यत वात्सल्य से दोनो हाथो से पकडे हुए है। केशपाश व कठहार तथा कु डलो की आकृतिया बडी सुन्दर हैं। बाए किनारे सिंह बैठा है।

सरस्वती की मूर्ति—

मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति (जे २४) लखनऊ के सग्रहालय मे एक फुट साढे नौ इच ऊँची है। देवी चौकोर आसन पर विराजमान है। सिर खडित है। बाये हाथ मे सूत्र से बधी हुई पुस्तक है। दाहिना हाथ खडित है, किन्तु अभय मुद्रा मे रहा प्रतीत होता है। वस्त्र साडी जैसा है, जिसका अचल कधो को भी आच्छादित किये है। दोनो हाथो की कलाइयो पर एक-एक चूडी है, तथा दाहिने हाथ मे चूडी से ऊपर जपमाला भी लटक रही है। देवी के दोनो ओर दो उपासक खडे हैं, जिनके केश सुन्दरता से सवारे गये हैं। दाहिनी ओर के उपासक के हाथ मे कलश है, तथा बाई ओर का उपासक हाथ जोडे खडा है। दाहिनी ओर का उपासक कोट पहने हुए है, जो शक जाति

के ट्यूनिक जैसा दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार "सब जीवो को हित व सुखकारी यह सरस्वती की प्रतिमा सिहपुत्र-गोभ नामक लुहार कासक (शिल्पी) ने दान किया, और उसे एक जैन मन्दिर की रगशाला मे स्थापित की"। यह मूर्तिदान कोटिक-गण वाचकाचार्य आर्यदेव को सवत् ५४ मे किया था। लिपि आदि पर से यह वर्ष शक सवत् का प्रतीत होता है। अत इसका काल ७८+५४=१३२ ई०, कुषाण राजा हुविष्क के समय मे पडता है। लेख मे जो अन्य नाम आये है वे सभी उसी ककाली टीले से प्राप्त सम्वत् ५२ की जैन प्रतिमा के लेख मे भी उल्लिखित हैं। जैन परम्परा मे सरस्वती की पूजा कितनी प्राचीन है, यह इस मूर्ति और उसके लेख से प्रमाणित होता है। सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र कही प्राप्त नही हुई। इन देवी की हिन्दू मूर्तिया गुप्तकाल से पूर्व की नही पायी जाती, अर्थात् वे सब इसमे दो तीन शती पश्चात् की है। सरस्वती की मूर्ति अनेक स्थानो के जैन मन्दिरो मे प्रतिष्ठित पाई जाती है, किंतु अधिकाश ज्ञात प्रतिमाए मध्यकाल की निर्मितिया है। उदाहरणार्थ, देवगढ के १९ वें मन्दिर के बाहिरी बरामदे मे सरस्वती की खडी हुई चतुर्भुज मूर्ति है, जिसका काल वि० स० ११२६ के लगभग सिद्ध होता है। राजपूताने मे सिरोही जनपद के अजारी नामक स्थान के महावीर जैन मन्दिर मे प्रतिष्ठित मूर्ति के आसन पर वि० स० १२६९ खुदा हुआ है। यह मूर्ति कही द्विभुज, कही चतुर्भुज, कही मयूरवाहिनी और कही हसवाहिनी पाई जाती है। एक हाथ मे पुस्तक अवश्य रहती है। अन्य हाथ व हाथो मे कमल, अक्षमाला, और वीणा, अथवा इनमे से कोई एक या दो पाये जाते हैं, अथवा दूसरा हाथ अभय मुद्रा मे दिखाई देता है। जैन प्रतिष्ठा-ग्रन्थो मे इस देवी के ये लक्षण भिन्न-भिन्न रुप से पाये जाते हैं। उसकी जटाओ और चन्द्र-कला का भी उल्लेख मिलता है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने इस देवी की श्रुत-देवता के रूप मे वन्दना की है, जिसके द्वादशाग वाणीरूप बारह अ ग हैं, सम्यग्दर्शन रूप तिलक है, और उत्तम चरित्र रूप आभूषण है। आकोटा से प्राप्त सरस्वती की धातु-प्रतिमा (१२वी शती से पूर्व की, बडौदा सग्रहालय मे) द्विभुज खडी हुई है मुख-मुद्रा बडी प्रसन्न है। मुकुट का प्रभावल भी है। ऐसी ही एक प्रतिमा वसन्तगढ से भी प्राप्त हुई है। देवियो की पूजा की परम्परा बडी प्राचीन है, यद्यपि उनके नामो, स्वरूपो तथा स्थापना व पूजा के प्रकारो मे निरतर परिवर्तन होता रहा है। भगवती सूत्र (११, ११, ४२९) मे उल्लेख है कि राजकुमार महाबल के विवाह के समय उसे प्रचुर वस्त्राभूषणो के अति-रिक्त श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नन्दा और भद्रा की आठ-आठ प्रति-मायें भी उपहार रूप दी गई थी। इससे अनुमानत विवाह के पश्चात् प्रत्येक

सम्पन्न कुटुम्ब मे ये प्रतिमायें कुलदेवता के रूप मे प्रतिष्ठित की जाती थी।

अच्युता या अच्छुप्ता देवी की मूर्ति—

अच्युता देवी की एक मूर्ति वदनावर (मालवा) से प्राप्त हुई है। देवी घोडे पर आरूढ है। उसके चार हाथ हैं। दोनो दाहिने हाथ टूट गये हैं। ऊपर के बाये हाथ मे एक ढाल दिखाई देती है, और नीचे का हाथ घोडे की रास सम्हाले हुए है। दाहिना पैर रकाब मे है और बाया उस पैर की जघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोडे का उसकी बायी ओर है। देवी के गले और कानो मे अलकार हैं। मूर्ति के ऊपर मडप का आकार है, जिस पर तीन जिन-प्रतिमाएं बनी हैं। चारो कोनो पर छोटी-छोटी जैन आकृतिया हैं। यह पाषाण-खण्ड ३ फुट ६ इच ऊँचा है। इस पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा को सम्वत् १२२६ (ई० ११-७२) मे कुछ कुटुम्बो के व्यक्तियो ने वर्द्धमानपुर मे शान्तिनाथ चैत्यालय मे प्रस्थापित की थी। इस लेख पर से सिद्ध है कि आधुनिक वदनावर प्राचीन वर्द्धमानपुर का अपभ्रंश रूप है। मैं अपने एक लेख मे बतला चुका हूँ तथा ऊपर मदिरो के सम्बन्ध मे भी उल्लेख किया जा चुका है, कि सम्भवत यही वह वर्द्धमानपुर का शान्तिनाथ मन्दिर है जहा शक स० ७०५ (ई० ७८३) मे आचार्य जिनसेन ने हरिवंश-पुराण की रचना पूर्ण की थी।

नैगमेष (नेमेश) की मूर्ति—

मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त भग्नावशेषो मे एक तोरण-खड पर नेमेश देव की प्रतिमा बनी है और उसके नीचे भगव नेमेसो ऐसा लिखा है। इस नेमेश देव की मथुरा-सग्रहालय मे अनेक मूर्तिया हैं। कुषाण कालीन एक मूर्ति (ई० १) एक फुट साढे तीन इच ऊंची है। मुखाकृति बकरे के सदृश है व बाए हाथ मे दो शिशुओं को धारण किये हैं, जो उसकी जघा पर लटक रहे हैं। उसके कधों पर भी सम्भवत बालक रहे हैं, जो खडित हो गये है, केवल उनके पैर लटक रहे हैं। एक अन्य छोटी सी मूर्ति (न० ६०६) साढ़े चार इच की है, जिसमे कधो पर बालक बैठे हुए दिखाई देते हैं। यह भी कुषाण कालीन है। तीसरी मूर्ति साढ़े आठ इच ऊची है और उसमे दोनो कधो पर एक-एक बालक बैठा हुआ है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा मे है, और बाए मे मोहरो की थैली जैसी कोई वस्तु है। कधो पर बालक बैठाए हुए नैगमेश की और दो मूर्तिया (न० ११५१, २४८२) हैं। एक मूर्ति का केवल सिर मात्र सुरक्षित है (न० १००१)। एक अन्य मूर्ति (न० २५४७) एक फुट पाच इच ऊची है,

जिसमे प्रत्येक कधे पर दो-दो बालक बैठे दिखाई देते हैं तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा मे है ।

कुछ मूर्तिया अजामुख देवी की हैं । एक मूर्ति (ई २) एक फुट चार इच ऊची है, जिसमे देवी के स्तन स्पष्ट है । उसके वाए हाथ मे एक तकिया है, जिस पर एक वालक अपने दोनो हाथ वृक्षस्थल पर रखे हुए लटका है । देवी का दाहिना हाथ खडित है, किन्तु अनुमानत वह कधे की ओर उठ रहा है । इसी प्रकार की दूसरी मूर्ति (ई ३) मे स्तनो पर हार लटक रहा है । तीसरी मूर्ति (न० ७९९) साढ़े आठ इच ऊची है । देवी अजामुख है, किन्तु वह किसी बालक को धारण नही किये है । उसके दाहिने हाथ मे कमल और वाए हाथ मे प्याला है । एक अन्य मूर्ति (न १२१०) दस इच ऊची है, जिसमे देवी अपनी वायी जघा पर वालक का बैठाये है, और बाए हाथ मे उसे पकडे है । दाहिना हाथ अभय मुद्रा मे हैं । सिर पर साढ़े पाच इच व्यास का प्रभावल भी हैं । स्तनो पर सुस्पष्ट हार भी है । एक अन्य छोटी सी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है । यह केवल पाच इची ऊची है, किन्तु उसमे अजामुख देवी की चार भुजाए है, और वह एक पर्वत पर ललितासन विराजमान हैं । उसकी वायी जघा पर वालक बैठा है, जो प्याले को हाथो मे लिए दूध पी रहा है । देवी के हाथो मे त्रिशूल, प्याला व पाश है । उनके दाहिने पैर के नीचे उसके वाहन की आकृति कुछ अस्पष्ट है, जो सम्भवत बैल या भैंसा होगा

कुछ मूर्तिया ऐसी भी हैं जिनमे यह मातृदेवी अजामुख नही, किन्तु स्त्री–मुख बनाई गई है । ऐसी एक मूर्ति (ई ४) १ फुट २ इच ऊँची है जिसमे देवी एक शिशु को अपनी गोदी मे सुलाये हुए है । देवी का दाहिना हाथ अभय-मुद्रा मे है । मूर्ति कुषाणकालीन है । इसी प्रकार की बालक को सुलाये हुए एक दूसरी मूर्ति भी है । वालकों सहित एक अन्य उल्लेखनीय मूर्ति (न० २७८) १फुट साढे सात इच ऊँची व ९ इच चौडी है, जिसमे एक स्त्री व पुरुष पास-पास एक वृक्ष के नीचे ललितासन मे बैठे है वृक्ष के ऊपरी भाग मे छोटी सी ध्यानस्थ जिन मूर्ति बनी हुई है, और वृक्ष की पीड (तना) पर गिरगिट चढता हुआ दिखाई देता है । पाद-पीठ पर एक दूसरी आकृति है, जिसमे बाया पैर ऊपर उठाया हुआ है, और उसके दोनो ओर ६ वालक खेल रहे है । इस प्रकार की एक मूर्ति चन्देरी (म० प्र०) मे भी पाई गई है, तथा एक अन्य मूर्ति प्रयाग नगरपालिका के सग्रहालय मे भी है ।

उपर्युक्त समस्त मूर्तिया मूलत. एक जैन आख्यान से सम्बधित है, और अपने विकास क्रम को प्रदर्शित कर रही है । कल्प-सूत्र के अनुसार इन्द्र की

आज्ञा से उनके हरिनैगमेश नामक अनुचर देव ने महावीर को गर्भरूप में देवानन्दा की कुक्षि से निकाल कर त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित किया था। इस प्रकार हरिनैगमेशी का सम्बन्ध बाल-रक्षा से स्थापित हुआ जान पड़ता है। इस हरिनैगमेशी की मुखाकृति प्राचीन चित्रों व प्रतिमाओं में बकरे जैसी पाई जाती है। नेमिनाथ चरित्र में कथानक है कि सत्यभामा की प्रद्युम्न सदृश पुत्र को प्राप्त करने की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कृष्ण ने नैगमेश देव की आराधना की, और उसने प्रकट होकर उन्हें एक हार दिया जिसके पहनने से सत्यभामा की मनोकामना पूरी हुई। इस आख्यान से नैगमेश देव का संतानोत्पत्ति के साथ विशेष सम्बन्ध स्थापित होता है। उक्त देव व देवी की प्राय समस्त मूर्तिया हार पहने हुए हैं, जो सम्भवत. इस कथानक के हार का प्रतीक है। डा० वासुदेवशरणजी का अनुमान है कि उपलभ्य मूर्तियों पर से ऐसा प्रतीत होता है कि संतान पालन में देव की अपेक्षा देवी की उपासना अधिक औचित्य रखती है, अतएव देव के स्थान पर देवी की कल्पना प्रारम्भ हुई। तत्पश्चात् अजामुख का परित्याग करके सुन्दर स्त्री-मुख का रूप इस देव-देवी को दिया गया, और फिर देव-देवी दोनों ही एक साथ बालकों सहित दिखलाए जाने लगे (जैन एनटी० १९३७ प्र० ३७ आदि) सभव है शिशु के पालन पोषण मे बकरी के दूध के महत्व के कारण इस अजामुख देवता की प्रतिष्ठा हुई हो ?

कुछ मूर्तियो में, उदाहरणार्थ देवगढ के मन्दिरो मे व चन्द्रपुर (झांसी) से प्राप्त मूर्तियां मे, एक वृक्ष के आस-पास बैठे हुए पुरुष और स्त्री दिखाई देते हैं, और वे दोनो ही एक बालक को लिए हुए हैं। पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व सचालक श्री दयाराम साहनी का मत है कि यह दृश्य भोगभूमि के युगल का है।

जैन चित्रकला

चित्रकला के प्राचीन उल्लेख

भारतवर्ष मे चित्रकला का भी बडा प्राचीन इतिहास हैं। इस कला के साहित्य मे बहुत प्राचीन उल्लेख पाये जाते हैं, तथापि इस कला के सुन्दरतम उदाहरण हमे अजन्ता की गुप्त-कालीन बौद्ध गुफाओं में मिलते हैं। यहा यह कला जिस विकसित रूप में प्राप्त होती है, वह स्वय बतला रही है कि उससे पूर्व भी भारतीय कलाकारो ने अनेक वैसे भित्तिचित्र दीर्घकाल तक बनाये होंगे, तभी उनको इस कला का वह कौशल और अभ्यास प्राप्त हो सका जिसका

प्रदर्शन हम उन गुफाओ मे पाते हैं। किन्तु चित्रकला की आधारभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बडी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उसपर कलाकार के हाथो की स्याही की रेखाए तथा रगो का विन्यास काल की तथा धूप, वर्षा, पवन आदि प्राकृतिक शक्तियो कीकरालता को उतना नही सह सकती जितना वस्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतियाँ। इस कारण गुप्त काल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गये या बचे तो ऐसी जीर्णशीर्ण अवस्था में जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुताग नायाधम्म-कहाओ में धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर वर्णन है जिसका छत लताओं, पुष्पवल्लियो तथा उत्तम जाति के चित्रो से अलकृत था (ना० क० १६)। इसी श्रुताग मे मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन मे चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारो की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्र-सभा बनाओ और उसे हाव, भाव, विलास, विभ्रमो से सुसज्जित करो। चित्रकार श्रेणी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने-अपने घर जाकर तूलिकाए और वर्ण (रग) लाकर वे चित्र-रचना मे प्रवृत्त हो गये। उन्होने भित्तियो का विभाजन किया, भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमे से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति निर्माण कर सकता था। उसने राजकुमारी मल्लि के चरणागुष्ट को पर्दे की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगाकृति चित्रित कर दी (ना० क० ८, ७८)। इसी श्रुतांग मे अन्यत्र (१३, ९९) मणिकार श्रेष्ठि नद द्वारा राजगृह के उद्यान मे एक चित्र सभा बनवाने का उल्लेख है, जिसमे सैंकडो स्तम्भ थे, व नाना प्रकार के काष्ठ-कर्म (लकडी की कारीगरी), पुस्तकर्म (चूने सिमेट की कारीगरी), चित्रकर्म (रगो की कारीगरी) लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतियाँ) तथा नाना द्रव्यो को गूथकर, वेष्टितकर, भरकर व जोडकर बनाई हुई विविध आकृतिया निर्माण कराई गई थी। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (२, ५, २६२) मे एक गणिका का कथानक है, जो ६४ कलाओ मे प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रसभा मे नाना प्रकार के, नाना जातियो व व्यवसायो के पुरुषो के चित्र लिखाये थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस चित्र-सभा के चित्र दिखलाती, और उसकी प्रतिक्रियाओ पर से उसकी रुचि व स्वभाव को जानकार उसके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। आवश्यक टीका के एक पद्य मे चित्रकार का

उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास ही, उसमे पूर्ण प्रवीणता प्राप्त करता है। चूर्णिकार ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि निरन्तर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपो के समुचित प्रमाण को बिना नापे-तोले ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका मे यह भी कहा है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझकर हाथो मे लेने का प्रयत्न करने लगा। आव० चूर्णिकार ने कहा है कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने मे भाषा और विभाषा का वही स्थान है जो चित्रकला में। चित्रकार जब किसी रूप का संतुलित माप निश्चय कर लेता है, तब वह भाषा और प्रत्येक अंगोपांग का प्रमाण निश्चित कर लेता है तब विभाषा, एवं जब नेत्रादि अंग चित्रित कर लेता है वह वार्ता की स्थिति पर पहुंचता है। इस प्रकार जैन साहित्यिक उल्लेखो से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल में हो चुका था और यह कला सुविकसित तथा सुव्यवस्थित हो चुकी थी।

भित्ति-चित्र—

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमे तामिल प्रदेश के तंजोर के समीप सित्तन्नवासल की उस गुफा मे मिलते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किसी समय इस गुफा मे समस्त भित्तियां व छत चित्रो से अलंकृत थे, और गुफा का वह अलंकरण महेंद्रवर्मा प्रथम के राज्य काल (ई० ६२५) मे कराया गया था। शैव धर्म स्वीकार करने से पूर्व यह राजा जैन धर्मावलम्बी था। वह चित्रकला का इतना प्रेमी था कि उसने दक्षिण-चित्र नामक शास्त्र का संकलन कराया था। गुफा के अधिकांश चित्र तो नष्ट हो चुके हैं, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इनमे आकाश मे मेघो के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओ की तथा राजा-रानी की आकृतियां स्पष्ट और सुन्दर है। छत पर के दो चित्र कमल-सरोवर के है। सरोवर के बीच एक युगल की आकृतियां हैं, जिनमे स्त्री अपने दाहिने हाथ से कमलपुष्प तोड रही है, और पुरुष उससे सटकर बाए हाथ मे कमल-नाल को कंधे पर लिए खडा है। युगल का यह चित्रण बडा ही सुन्दर है। ऐसा भी अनुमान किया गया है कि ये चित्र तत्कालीन नरेश महेंद्रवर्मा और उनकी रानी के ही है। एक ओर हाथी अनेक कमलनालो को अपनी सूंड मे लपेटकर उखाड रहा है, कहीं गाय कमलनाल चर रही हैं, हंस-युगल क्रीडा कर रहे है, पक्षी कमल मुकुलो पर बैठे हुए है, व मत्स्य पानी मे चल-फिर रहे है। दूसरा चित्र भी इसी का क्रमानुगामी है। उसमे एक मनुष्य तोडे हुए कमलो से भरी हुई टोकरी लिये हुए हैं, तथा हाथी और बैल क्रीडा कर रहे हैं। हाथियो का रंग भूरा, व

बैलों का रग मटियाला है । विद्वानो का अनुमान है कि ये चित्र तीर्थंकर के समवसरण की खातिका-भूमि के है, जिनमे भव्य-जन पूजा-निमित्त कमल तोडते हैं ।

इसी चित्र का अनुकरण एलोरा के कैलाशनाथ मन्दिर के एक चित्र मे भी पाया जाता है । यद्यपि यह मन्दिर शैव है, तथापि इसमे उक्त चित्र के अतिरिक्त एक ऐसा भी चित्र है जिसमे एक दिगम्बर मुनि को पालकी मे बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है । पालकी को चार मनुष्य पीछे की ओर व आगे एक मनुष्य धारण किये है । पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है । आगे-आगे पाच योद्धा भालों और ढालो से सुसज्जित चल रहे है इन योद्धाओं की मुखाकृति, केशविन्यास भौंहें, आखो व मूछो की बनावट तथा कर्ण-कुण्डल बडी सजीवता को लिए हुए हैं । बायी ओर इनके स्वागत के लिये आती हुई सात स्त्रिया, और उनके आगे उसी प्रकार से सुसज्जित सात योद्धा दिखाई देते है । योद्धाओं के पीछे ऊपर की ओर छत्र भी लगा हुआ है । स्त्रिया सिरो पर कलश आदि मंगल द्रव्य धारण किये हुए हैं । उनकी साडी की पहनावट दक्षिणी ढग की सकक्ष है, तथा उत्तरीय दाहिनी बाजू से बांये कधे पर डाला हुआ है । उसके पीछे वदनवार बने हुए दिखाई देते है । इस प्रकार यह दृश्य भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि के राजद्वार पर स्वागत का प्रतीत होता है । डा० मोतीचन्दजी का अनुमान है कि एक हिंदू मन्दिर मे इस जैन दृश्य का अस्तित्व १२ वी शती मे मन्दिर के जैनियो द्वारा बलात् स्वाधीन किये जाने की सम्भावना को सूचित करता है । किन्तु समस्त जैनधर्म के इतिहास को देखते हुए यह बात असम्भव सी प्रतीत है । यह चित्र सम्भवत चित्र निर्मापक की धार्मिक उदारता अथवा उसपर किसी जैन मुनि के विशेष प्रभाव का प्रतीक है । एलोरा के इन्द्रसभा नामक शैलमन्दिर (८ वी से १० वी शती ई०) मे भी रगीन भित्तिचित्रो के चिह्न विद्यमान हैं, किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न है, और धु धले हो गये हैं कि उनका विशेष वृत्तान्त पाना असम्भव है ।

१०-११ वी शती मे जैनियो ने अपने मन्दिरो मे चित्रनिर्माण द्वारा दक्षिण प्रदेश मे चित्रकला को खूब पुष्ट किया । उदाहरणार्थ, तिरु मलाई के जैनमन्दिर मे अब भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान है जिनमे देवता व किंपुरुष आकाश मे मेघो के बीच उडते हुए दिखाई देते है । देव पक्तिबद्ध होकर समोसरण की ओर जा रहे है । गधर्व व अप्सराए भी बने है । एक देव फूलो के बीच खडा हुआ है । श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराए पक्तिबद्ध स्थित है । एक चित्र मे दो मुनि परस्पर सम्मुख बैठे दिखाई देते हैं । कही दिगम्बर मुनि आहार

देने वाली महिला को धर्मोपदेश दे रहे हैं। एक देवता चतुर्भुज व त्रिनेत्र दिखाई देता है, जो सम्भवत इन्द्र है। ये सब चित्र चित्र काली भित्ति पर नाना रगो से बनाए गये है। रगो की चटक अजन्ता के चित्रो के समान है। देवो, आर्यों व मुनियो के चित्रो मे नाक व ठुड्डी का अकन कोणात्मक तथा दूसरी आँख मुखाकृति के बाहर को निकली हुई सी बनाई गई है। आगे की चित्रकला इस शैली से बहुत प्रभावित पायी जाती हैं।

श्रवणबेलगोला के जैनमठ मे अनेक सुन्दर भित्ति-चित्र विद्यमान हैं। एक मे पार्श्वनाथ समोसरण मे विराजमान दिखाई देते हैं। नेमिनाथ की दिव्य-ध्वनि का चित्रण भी सुन्दरता से किया गया है। एक वृक्ष और छह पुरुषो द्वारा जैन धर्म की छह लेश्याओ को समझाया गया है, जिनके अनुसार वृक्ष के फलों को खाने के लिए कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति सारे वृक्ष को काट डालता है, नीललेश्या वाला व्यक्ति उसकी बडी-बडी शाखाओ को, कपोतलेश्या वाला उसकी टहनियो को, पीतलेश्या वाला उसके कच्चे-पके फलो को और पद्मलेश्या वाला व्यक्ति वृक्ष को लेशमात्र भी हानि नही पहुचाता हुआ पककर गिरे हुए फलो को चुनकर खाता है। मठ के चित्रो मे ऐसे अन्य भी धार्मिक उपदेशो के दृष्टात पाये जाते हैं। यहाँ एक ऐसा चित्र भी है, जिसमे मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर (तृतीय) का दशहरा दरबार प्रदर्शित किया गया है।

ताडपत्रीय चित्र—

जैन मन्दिरो मे भित्ति-चित्रो की कला का विकास ११ वी शती तक विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताडपत्र बना। इस काल से लेकर १४-१५ वी शती तक के हस्तलिखित ताडपत्र ग्रथ जैन शास्त्र-भडारो मे सहस्त्रो की सख्या मे पाये जाते हैं। चित्र बहुधा लेख के ऊपर नीचे व दायें-बाए हाशियो पर, और कही पत्र के मध्य मे भी बने हुए हैं। ये चित्र बहुधा शोभा के लिए, अथवा धार्मिक रुचि बढाने के लिए अकित किये गये हैं। ऐसे चित्र बहुत ही कम हैं जिनका विषय ग्रथ से सम्बन्ध रखता हो।

सबसे प्राचीन चित्रित ताडपत्र ग्रथ दक्षिण मे मैसूर राज्यान्तर्गत मूडबिद्री तथा उत्तर मे पाटन (गुजरात) के जैन भडारो मे मिले हैं। मूडबिद्री मे षट्खडागम की ताड़पत्रीय प्रतिया, उसके ग्रथ व चित्र दोनो दृष्टियो से बडी महत्वपूर्ण हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार सुरक्षित साहित्य मे यही रचना सबसे प्राचीन है। इसका मूल द्वितीय शती, तथा टीका ९ वी शती मे रचित

सिद्ध होती है। मूडबिद्री के इस ग्रथ की तीन प्रतियो मे सबसे पीछे की प्रति का लेखन काल १११२ ई० के लगभग है। इसमे पाच ताडपत्र सचित्र हैं। इनमे से दो ताडपत्र तो पूरे चित्रो से भरे है, दो के मध्यभाग मे लेख है, और दोनो तरफ कुछ चित्र, तथा एक मे पत्र तीन भागो मे विभाजित है, और तीनो भागो मे लेख है, किन्तु दोनो छोरो पर एक-एक चक्राकृति बनी है। चक्र की परिधि मे भीतर की ओर अनेक कोणाकृतियाँ और मध्यभाग मे उसी प्रकार का दूसरा छोटा सा चक्र है। इन दोनो के वलय मे कुछ अन्तराल से छह चौकोण आकृतियाँ बनी है। जिन दो पत्रो के मध्य मे लेख और आजू-बाजू चित्र है, उनमे से एक पत्र मे पहले वेलबूटेदार किनारी और फिर दो-दो विविध प्रकार की सुन्दर गोलाकृतिया है। दूसरे पत्र मे दाँई ओर खड्गासन नग्न मूर्तियाँ है, जिनके सम्मुख दो स्त्रियाँ नृत्य जैसी भाव-मुद्रा मे खडी है। इनका केशो का जूडा चक्राकार व पुष्पमाला युक्त है, तथा उत्तरीय दाए कधे के नीचे से बाए के ऊपर फैला हुआ है। पत्र के बायी ओर पद्मासन जिनमूर्ति प्रभावल-युक्त है। सिंहासन पर कुछ पशुओ की आकृतियाँ बनी है। मूर्ति के दोनो ओर दो मनुष्य-आकृतियाँ है, और उनके पार्श्व मे स्वतन्त्र रूप से खडी हुई, और दूसरी कमलासीन हसयुक्त देवी की मूर्तियाँ है। जो दो पत्र पूर्णत चित्रो से अलकृत है, उनमे से एक के मध्य मे पद्मासन जिनमूर्ति है, जिसके दोनो ओर एक-एक देव खडे है। इस चित्र के दोनो ओर समान रूप से दो-दो पद्मासन जिन मूर्तियाँ हैं, जिनके सिर के पीछे प्रभावल, उसके दोनो ओर चमर, और ऊपर की ओर दो चक्रो की आकृतियाँ है। तत्पश्चात् दोनो ओर एक-एक चतुर्भुजी देवी की भद्रासन मूर्ति है, जिनके दाहिने हाथ मे अकुश और बाए हाथ मे कमल है। अन्य दो हाथ वरद और अभय मुद्रा मे है। दोनो छोरो के चित्रो मे गुरु अपनेसम्मुख हाथ जोडे बैठे श्रावको को धर्मोपदेश दे रहे है। उनके बीच मे स्थापनाचार्य रखा है। दूसरे पत्र के मध्य भाग मे पद्मासन जिन मूर्ति है, और उसके दोनो ओर सात-सात साधु नाना प्रकार के आसनो व हस्त मुद्राओ सहित बैठे हुए है। इन ताडपत्रो की सभी आकृतियाँ बडी सजीव और कला-पूर्ण है। विशेष बात यह है कि इन चित्रो मे कही भी परली आँख मुखरेखा से बाहर की ओर निकली हुई दिखाई नही देती। नासिका व ठुड्डी की आकृति भी कोणाकार नही है, जैसे कि हम आगे विकसित हुई पश्चिमी जैनशैली मे पाते है।

उक्त चित्रो के समकालीन पश्चिम की चित्रकला के उदाहरण निशीथ-चूर्णि की पाटन के सघवी-पाडा के भण्डार मे सुरक्षित ताडपत्रीय प्रति मे मिलते हैं। यह प्रति उसकी प्रशस्ति अनुसार भृगुकच्छ (भडौच) मे सोलकी नरेश जयसिंह

(ई० १०६४ से २२४३) के राज्यकाल में लिखी गई थी। इसमें अलंकरणात्मक चक्राकार आकृतियां बहुत हैं, और वे प्रायः उसी शैली की हैं जैसी ऊपर वर्णित षट्खंडागम की। हां, एक चक्र के भीतर हस्तिवाहक का, तथा अन्यत्र पुष्प-मालाएं लिए हुए दो अप्सराओं के चित्र विशेष हैं। इनमें भी षट्खंडागम के चित्रों के समान पहली आंख की आकृति मुख-रेखा के बाहर नहीं निकली। ११२७ ई० में लिखित खम्भात के शान्तिनाथ जैनमन्दिर में स्थित नगीनदास भन्डार की ज्ञाताधर्मसूत्र की ताडपत्रीय प्रति के पद्मासन महावीर तीर्थंकर आसपास चौरी वाहकों सहित, तथा सरस्वती देवी का त्रिभंग चित्र उल्लेखनीय हैं। देवी चतुर्भुज है। ऊपर के दोनों हाथों में कमलपुष्प तथा निचले हाथों में अक्षमाला व पुस्तक है। समीप में हंस भी है। देवी के मुख की प्रसन्नता व अंगों का हाव-भाव और विलास सुन्दरता से अंकित किया गया है।

बड़ौदा जनपद के अन्तर्गत छाणी के जैन-ग्रन्थ-भण्डार की ओघनिर्युक्ति की ताडपत्रीय प्रति (ई० ११६१) के चित्र विशेष महत्व के हैं, क्योंकि इनमें १६ विद्यादेवियों तथा अन्य देवियों और यक्षों के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। विद्या-देवियों के नाम हैं.– रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशी, चक्रेश्वरी, पुरु-षदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी, और महामानसी। अन्य देव-देवी हैं:—कापर्दीयक्ष, सरस्वती, अम्बिका, महालक्ष्मी, ब्रह्मशान्ति। सभी देवियां चतुर्भुज व भद्रासन हैं। हाथों में वरद व अभय मुद्रा के अतिरिक्त शक्ति, अंकुश, धनुष, वरुण, शृंखला, शंख, असि, ढाल, पुष्प, फल व पुस्तक आदि चिन्ह हैं। मस्तक के नीचे प्रभावल, सिर पर मुकुट, कान में कर्णफूल व गले में हार भी विद्यमान हैं। अम्बिका के दो ही हाथ हैं। दाहिने हाथ में बालक, और बाएं हाथ में आम्रफलों के गुच्छे सहित डाली। इन सब आकृतियों में परली आंख निकली हुई, है तथा नाक व ठुड्डी की कोणाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। शोभांकन समस्त रूढि-आत्मक है। इस जैनग्रंथ में इन चित्रों का अस्तित्व यह बतलाता है कि इस काल की कुछ जैन उपासना विधियों में अनेक वैष्णव व शैवी देवी-देवताओं को भी स्वीकार कर लिया गया था।

सन् १२८८ में लिखित सुबाहु-कथादि कथा-संग्रह की ताडपत्र प्रति में २३ चित्र हैं, जिनमें से अनेक अपनी विशेषता रखते हैं। एक में भगवान् नेमिनाथ की वरयात्रा का सुन्दर चित्रण है। कन्या राजीमती विवाह-मण्डप में बैठी हुई है, जिसके द्वार पर खड़ा हुआ मनुष्य हस्ति-आरूढ नेमिनाथ का हाथ जोड़कर स्वा-गत कर रहा है। नीचे की ओर मृगाकृतियां बनी हैं। दो चित्र बलदेव मुनि के हैं। एक में मृगादि पशु बलदेव मुनि का उपदेश श्रवण कर रहे हैं, और दूसरे में

वे एक वृक्ष के नीचे मृग सहित खड़े स्वधाही से आहार ग्रहण कर रहे हैं। इस ग्रन्थ के चित्रों में डा० मोतीचन्द्र के मतानुसार पशु व वृक्षों का चित्रण ताड़पत्र में प्रथम बार अवतरित हुआ है, तथा इन चित्रों में पश्चिमी भारत की चित्र-शैली स्थिरता को प्राप्त हो गई है। कोणाकार रेखांकन व नासिका और ठुड्डी का चित्रण तथा परली आंख की आकृति मुख रेखा से बाहर निकली हुई यहां रूढ़िबद्ध हुई दिखायी देती है।

इस चित्रशैली के नामकरण के सम्बन्ध में मतभेद है। नार्मन ब्राउन ने इसे श्वेताम्बर जैन शैली कहा है, क्योंकि उनके मतानुसार इसका प्रयोग श्वे० जैन ग्रन्थों में हुआ है, तथा परली आंख को निकली हुई अंकित करने का कारण संभवत उस सम्प्रदाय में प्रचलित तीर्थंकर मूर्तियों में कृत्रिम आंख लगाना है। डा० कुमार स्वामी ने इसे जैनकला, तथा श्री एन० सी० मेहता ने गुजराती शैली कहा है। श्री रायकृष्णदास का मत है कि इस शैली में हमें भारतीय चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। अत उसे इस काल में विकसित हुई भाषा के अनुसार अपभ्रंश शैली कहना उचित होगा। किन्तु इन सबसे शताब्दियों पूर्व तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथ (१६ वीं शती ई०) ने पश्चिम भारतीय शैली का उल्लेख किया है, और डा० मोतीचन्द ने इसी नाम का औचित्य स्वीकार किया है, क्योंकि उपलब्ध प्रमाणों पर से इस शैली का उद्गम और विकास पश्चिम भारत में ही, विशेषत गुजरात-राजपूताना प्रदेश में, हुआ सिद्ध होता है। तारानाथ के मतानुसार पश्चिमी कला-शैली मारू (मारवाड़) के शृंगधर नामक कुशल चित्रकार ने प्रारम्भ की थी, और वह हर्षवर्धन (६१० से ६५० ई०) के समय में हुआ था। यह शैली क्रमश नेपाल और काश्मीर तक पहुच गई। इस शैली के उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि यदि इसकी उत्पत्ति नहीं तो विशेष पुष्टि अवश्य ही जैन परम्परा के भीतर हुई, और इसीलिए उसका जैनशैली नाम अनुचित नहीं। पीछे इस शैली को अन्य पश्चिम प्रदेश के बाहर के लोगों ने तथा जैनेतर सम्प्रदायों ने भी अपनाया तो इससे उसकी उत्पत्ति व पुष्टि पर आधारित 'पश्चिमी' व 'जैन' कला कहने में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इस आधार पर श्री साराभाई नवाब ने जो इस शैली के लिये पश्चिमी जैनकला नाम सुझाया हैं वह भी सार्थक है।

ऊपर जिन ताडपत्रीय चित्रों का परिचय कराया गया है, उसके सामान्य लक्षण ये हैं —विषय की दृष्टि से वे तीर्थंकरों, देव-देवियों, मुनियों व धर्मरक्षकों की आकृतियों तक ही प्राय- सीमित हैं। संयोजन व पृष्ठभूमि की समस्याए चित्रकार के सम्मुख नहीं उठीं। उक्त आकृतियों की मुद्राए भी बहुत कुछ सीमित और रूढ़िगत है आकृति—अंकन रेखात्मक हैं, जिससे उनमे त्रिगुणात्मक

गहराई नहीं आ सकी। रंगों का प्रयोग भी परिमित है। प्राय भूमि लाल पकी हुई ईंटों के रंग की, और आकृतियों में पीले, सिंदूर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् १३५० और १४५० ई० के बीच में एक शती के जो ताड़पत्रीय चित्रों के उदाहरण मिले हैं, उनमें शास्त्रीय व सौन्दर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य देखा जाता है। आकृति अंकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियों में विषय की दृष्टि से तीर्थंकरों के जीवन की घटनाएं भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमें विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रंगलेप में वैचित्र्य और विशेष चटकीलापन आया है। इसीकाल में सुवर्णरंग का प्रयोग प्रथमवार दृष्टिगोचर होता है। यह सब मुसलमानों के साथ आई हुई ईरानी चित्रकला का प्रभाव माना जाता है, जिसके बल में आगे चलकर अकबर के काल (१६ वीं शती) में वह भारतीय ईरानी चित्रशैली विकसित हुई, जो मुगलशैली के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती है, इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं अधिकांश कल्पसूत्र की प्रतियों में पाई जाती है, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ईडर के 'आनंद जी मंगलजी पेढी' के ज्ञानभण्डार की वह प्रति है जिसमें ३४ चित्र हैं, जो महावीर के और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरों की जीवन-घटनाओं से सम्बद्ध हैं। इसमें सुवर्ण रंग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जिनमें न केवल चित्रों में ही सुवर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु समस्त ग्रन्थ-लेख ही सुवर्ण की स्याही से किया गया है, अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-लिप्त की गई है, और उसपर चांदी की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताडपत्र तथा बीस कागज की प्रतियों पर से लिए हुए ३७४ चित्रों सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (पवित्र कल्पसूत्र अहमदाबाद १९५२)। प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने अपने दी स्टोरी ऑफ कालक (वाशिंगटन, १९३३) नामक ग्रन्थ में ३९ चित्रों का परिचय कराया है तथा साराभाई नवाब ने अपने कालक कथा-सग्रह (अहमदाबाद, १९५८) में ६ ताडपत्र और ९ कागज की प्रतियों परसे ८८ चित्र प्रस्तुत किये हैं। डा० मोतीचन्द ने अपने 'जैन मिनीएचर पेंटिंग्स फ्राम वैस्टर्न इंडिया' (अहमदाबाद, १९४९) में २६२ चित्र प्रस्तुत किए हैं, और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

कागज पर चित्र—

कागज का आविष्कार चीन देश में १०५ ई० में हुआ माना जाता है। १० वीं ११ वीं शती में उसका निर्माण अरब देशों में होने लगा, और वहां से

भारत मे आया। मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के जैन भडार से ध्वन्यालोक-लोचन की उस प्रति का अन्तिम पत्र मिला है जो जिनचन्द्रसूरि के लिये लिखी गई थी, तथा जिसका लेखनकाल, जिनविजयजी के कहे अनुसार, सन् ११६० के लगभग है। कारजा जैन भण्डार मे उपासकाचार (रत्नकरड श्रावकाचार) की प्रभाचन्द्र कृत टीका सहित कागज की प्रति का लेखनकाल वि० स० १४१५ (ई० सन् १३५८) है। किन्तु कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति ई० १४२७ मे लिखित वह कल्पसूत्र है जो लदन की इण्डिया आफिस लायब्रेरी मे सुरक्षित है। इसमे ३१ चित्र है और उसी के साथ जुडी हुई कालकाचार्यकथा मे अन्य १३। इस ग्रन्थ के समस्त ११३ पत्र चाँदी की स्याही से काली व लाल पृष्ठभूमि पर लिखे गये है। कुछ पृष्ठ लाल या सादी भूमि पर सुवर्ण की स्याही से लिखित भी है। प्रति के हासियो पर शोभा के लिए हाथियो व हसो की पक्तियाँ, फूल-पत्तियाँ अथवा कमल आदि बने हुए है। लक्ष्मणगणी कृत सुपासणाह-चरिय की एक सचित्र प्रति पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-ज्ञान भडार मे सम्वत् १४७९ (ई० १४२२) मे प० भावचन्द्र के शिष्य हीरानन्द मुनि द्वारा लिखित है। इसमे कुल ३७ चित्र है जिनमे से ६ पूरे पत्रो मे व शेष पत्रो के अर्द्ध व तृतीय भाग मे हासियो मे बने हैं। इनमे सुपार्श्व तीर्थंकर के अतिरिक्त सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण, देशना आदि के चित्र बडे सुन्दर है। इसके पश्चात्कालीन कल्पसूत्र की अनेक सचित्र प्रतियाँ नाना जैन भण्डारो मे पाई गई है, जिनमे विशेष उल्लेखनीय बडोदा के नरसिहजी ज्ञान भण्डार मे सुरक्षित है। यह प्रति यवनपुर (जौनपुर, उ० प्र०) मे हुसैनशाह के राज्य मे वि० स० १५२२ मे हर्षिणी श्राविका के आदेश से लिखी गई थी। इसमे ८६ पृष्ठ है, और समस्त लेखन सुवर्ण-स्याही से हुआ है। इसमे आठ चित्र है, जिनमे ऋषभदेव का राज्याभिषेक, भरत-बाहुबलि युद्ध, महावीर की माता के स्वप्न, कोशा का नृत्य आदि चित्रित है। इन चित्रो मे लाल भूमि पर पीले, हरे, नीले आदि रगो के अतिरिक्त सुवर्ण का भी प्रचुर प्रयोग है। आकृतियो मे पश्चिमी शैली के पूर्वोक्त लक्षण सुस्पष्ट है। स्त्रियो की मुखाकृति विशेष परिष्कृत पाई जाती है, और उनके ओष्ठ लाक्तारस से रजित दिखाए गए है। अन्य विशेष उल्लेखनीय कल्पसूत्र की अहमदाबाद के देवसेन पाडा की प्रति है, जो भडौच के समीप गधारबदर के निवासी साणा और जूडा श्रेष्ठियो के वशजो द्वारा लिखाई गई थी। यह भी सुवर्ण स्याही से लिखी गई है। कला की दृष्टि से इसके कोई २५-२६ चित्र इस प्रकार के ग्रथो मे सर्वश्रेष्ठ माने गये है, क्योकि इनमे भरत नाट्य शास्त्र मे वर्णित नाना नृत्य-मुद्राओ का अकन पाया जाता है। एक चित्र मे महावीर द्वारा चडकौशिक

नाग के वशीकरण की घटना दिखाई गई है। इसकी किनारियो का चित्रण वहुत सुन्दर हुआ है, और वह ईरानी-कला से प्रभावित माना जाता है। उसमे अकवरकालीन मुगल शैली का आभास मिलता है।

कागज की उपर्युक्त सचित्र प्रतिया श्वेताम्वर-परम्परा की हैं, जो प्रकाश मे आ चुकी हैं, और विशेषज्ञो द्वारा उनके चित्रो का अध्ययन भी किया जा चुका है। दुर्भाग्यत दिगम्वर जैन भण्डारो की इस दृष्टि से अभी तक खोज शोध होनी शेप है। अनेक शास्त्र-भण्डारो मे सचित्र प्रतियो का पता चला है। उदाहरणार्थ—दिल्ली के एक शास्त्र-भण्डार में पुष्पदत कृत अपभ्रश महापुराण की एक प्रति है, जिसमे सैकडो चित्र तीर्थंकरो के जीवन की घटनाओ को प्रदर्शित करने वाले विद्यमान हैं। नागौर के शास्त्र-भण्डार मे एक यशोधर-चरित्र की प्रति है, जिसके चित्रो की उसके दर्शको ने वडी प्रशसा की है। नागपुर के शास्त्र-भण्डार से सुगधदशमी कथा की प्रति मिली है जिसमे उस कथा को उदाहरण करने वाले ७० से अधिक चित्र है। वम्वई के ऐलक पन्नालाल दिगम्वर जैन सरस्वती भवन मे भक्तामर स्त्रोत की सचित्र प्रति है जिसमें लगभग ४० चित्र हैं, जिनमे आदिनाथ का चतुर्मुख कमलासन प्रतिविम्व भी है। इसके एक ओर दिग० साधु व दूसरी ओर कोई मुकुट-धारी नरेश उपासक के रूप मे खडे है। नेमीचन्द्र कृत त्रिलोकसार की सचित्र प्रतिया मिलती हैं, जिनमे नेमीचन्द्र व उनके शिष्य महामन्त्री चामुण्डराय के चित्र पाये जाते हैं। इन सब चित्रो के कलात्मक अध्ययन की वडी आवश्यकता है। उससे जैन चित्रकला पर प्रकाश पडने की और भी अधिक आशा की जा सकती है।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति मे कुछ विकास और परिवर्तन हुआ। ताडपत्र मे विस्तार की दृष्टि से चित्रकार के हाथ वधे हुए थे। उसे दो-ढाई इच से अधिक चौडा क्षेत्र ही नही मिल पाता था। कागज मे यह कठिनाई जाती रही, और चित्रण के लिए यथेष्ट लम्वान-चौडान मिलने लगा, जिससे रुचि अनुसार चित्रो के वडे-छोटे आकार निर्माण व सम्पुजन मे वडी सुविधा उत्पन्न हो गई। रगो के चुनाव मे भी विस्तार हुआ। ताडपत्र पर रगो को जमाना एक कठिन कार्य था। कागज रग को सरलता से पकड लेता है। इसके अतिरिक्त सोने-चादी के रगो का भी उपयोग प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व सुवर्ण के रग का भी उपयोग वहुत ही अल्प मात्रा मे तूलिका को थोडा सा डूवाकर केवल आभूषणो के अकन के लिए किया जाता था। सम्भवत. उस समय सुवर्ण की महगाई भी इसका एक कारण था। किन्तु इस काल मे सुवर्ण

कुछ अधिक सुलभ प्रतीत होता है। अथवा चित्रकला की ओर धनिक रुचियो का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप न केवल चित्रण मे, किन्तु ग्रथ लेखन मे भी सुवर्ण व चादी की स्याहियो का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा सुवर्ण की चमक से चित्रकार यहा तक प्रभावित हुए पाये जाते हैं कि बहुधा समस्त चित्रभूमि सुवर्ण-लिप्त कर दी जाने लगी, एव जैन मुनियो के वस्त्र भी सुवर्ण-रजित प्रदर्शित किये जाने लगे। जितना अधिक सुवर्ण का उपयोग, उतना अधिक सौन्दर्य, इस भावना को कलाभिरुचि की एक विकृति ही कहना चाहिए। तथापि इसमे सदेह नही कि नाना रगो के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की चित्रकारी मे एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

काष्ठ चित्र—

जैन शास्त्र भण्डारो मे काष्ठ के ऊपर भी चित्रकारी के कुछ नमूने प्राप्त हुए है। ये काष्ठ आदित ताडपत्रो की प्रतियो की रक्षा के लिए उनके ऊपर-नीचे रखे जाते थे। ऐसा एक सचित्र काष्ठ चित्रपट मुनि जिनविजयजी को जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से प्राप्त हुआ है। यह २७ इच लम्बा और ३ इच चौडा है। रग ऐसे पक्के है कि वे पानी से धुलते नही। पट के मध्य मे जैन मन्दिर की आकृति है, जिसमे एक जिन मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनो ओर परिचारक खडे हैं। दाहिनी ओर कोष्टक मे दो उपासक अजलि-मुद्रा मे खडे है, दो व्यक्ति डिंडिम बजाने मे मस्त है, और दो नर्त्तकिया नृत्य कर रही है। ऊपर की ओर आकाश मे एक किन्नरी उड रही है। बाए प्रकोष्ठ मे तीन उपासक हाथ जोडे है, और एक किन्नर आकाश मे उड रहा है। इस मध्यवर्ती चित्र के दोनो ओर व्याख्यान-सभा हो रही है। एक मे आचार्य जिनदत्त सूरि विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। उनके सम्मुख प० जिनरक्षित बैठे हुए है। अन्य उपासक-उपासिकाए भी है। मुनि के सम्मुख स्थापनाचार्य रखा हुआ है और उस पर महावीर का नाम भी लिखा है। दाहिनी ओर की व्याख्यान-सभा मे आचार्य जिनदत्त, गुणचन्द्राचार्य से विचार-विमर्श कर रहे हैं। इन दोनो के बीच मे भी स्थापनाचार्य बना हुआ है। मुनि जिनविजयजी का अनुमान है कि यह चित्रपट जिनदत्त सूरि के जीवन-काल का ही हो तो आश्चर्य नही। उनका जन्म वि० स० ११३२, और स्वर्गवास वि० स० १२११ मे हुआ सिद्ध है। सम्भव है उपर्युक्त चित्रण उनके मारवाड अन्तर्गत विक्रमपुर के मदिर मे दीक्षाग्रहण के काल का ही हो। मुनि जिनविजयजी द्वारा जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से एक और सचित्र काष्ठ-पट का पता चला है, जो ३० इच लम्बा और ३ इच चौडा है। इसमे वादिदेव सूरि और आचार्य कुमुदचन्द्र के

बीच हुए शास्त्रार्थ सम्बन्धी नाना घटनाओं का चित्रण किया गया है। श्री साराभाई नवाब के सग्रह मे एक १२ वी शती का काष्ठ-पट ३० इच लम्बा तथा पौने तीन इच चौडा है, जिसमे भरत और बाहुबलि के युद्ध का विवरण चित्रित है। इसमे हाथी, हस, सिह, कमलपुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर बने हैं। वि० स० १४५६ मे लिखित सूत्रकृतांगवृत्ति की ताडपत्रीय प्रति का काष्ठ-पट साडे चौंतीस इच चौडा महावीर की घटनाओ से चित्रित पाया गया है। इसी प्रकार स० १४२५ मे लिखित धर्मोपदेशमाला का काष्ठ-पट सवा पैंतीस इच लबा और सवातीन इच चौड़ा है, और उस पर पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाए चित्रित हैं। ये सभी काष्ठ-चित्र सामान्यत उसी पश्चिमी शैली के हैं, जिसका ऊपर परिचय दिया जा चुका है।

वस्त्र पर चित्रकारी--

वस्त्र पर बनाने की कला भारतवर्ष मे बडी प्राचीन है। पालि ग्रथो व जैन आगमो मे इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर का शिष्य, और पश्चात् विरोधी मखलि गोशाल का पिता, व दीक्षित होने से पूर्व स्वय गोशाल चित्रपट दिखाकर जीविका चलाया करते थे। किन्तु वस्त्र बहुत नश्वर द्रव्य है, और इसलिए स्वभावत इसके बहुत प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नही हैं। फिर भी १४ वी शती के आगे के अनेक सचित्र जैन वस्त्र-पट पाये जाते है। एक चिन्तामणि नामक वस्त्र-पट साढे उन्नीस इच लम्बा तथा साढे सतरह इच चौडा वि० स० १४११ (ई० १३५४) का बना बीकानेर निवासी श्री अगरचद्र नाहटा के सग्रह मे है। इसमे पद्मासन पार्श्वनाथ, उनके यक्ष-यक्षिणी धरणेन्द्र-पद्मावती तथा चौरी-वाहको का चित्रण है। ऊपर की ओर पार्श्वयक्ष और वैरोट्या-देवी तथा दो गधर्व भी बने हुए है। नीचे तरुणप्रभाचार्य और उनके दो शिष्यो के चित्र हैं। ऐसा ही एक मत्र-पट श्री साराभाई नवाब के सग्रह मे है, जिसमे महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी कमलासन पर विराजमान है, और उनके दोनो ओर मुनि स्थित है। मण्डल के बाहर अश्वारूढ काली तथा भैरव एव धरणेन्द्र और पद्मावती के भी चित्र है। यह चित्रपट भावदेव सूरि के लिए वि० स० १४१२ मे बनाया गया था। एक जैन वस्त्र-पट डा० कुमारस्वामि के सग्रह मे भी है, जो उनके मतानुसार १६ वी शती का, किन्तु डा० मोतीचन्द्र जी के मतानुसार १५ वी शती के प्रारम्भ का है। पट के वाम-पार्श्व मे पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना है। इसके आजू-बाजू यक्ष-यक्षिणियो के अतिरिक्त ओंकार की पाच आकृतियाँ, चन्द्रकला की आकृति पर आसीन सम्भवत पाँच सिद्ध, तथा सुधर्मास्वामी और नवग्रहो के चित्र हैं। पट

के मध्य मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्वजायुक्त व शिखरबद्ध मन्दिर मे विराजमान चित्रित की गई है कि यह मन्दिर शत्रुंजय का है, और वे पांच सिद्ध-मूर्तियां पांच पाण्डवो की हैं, जिन्होने शत्रुजय से मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी अनेक वस्त्रपट प्राप्त हुए हैं। इनका उपयोग सम्भवत उपासना व ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता था। किन्तु कला की दृष्टि से भी इनका बडा महत्व है।

उपसंहार

उपर्युक्त चार व्याख्यानो मे जैन जैनधर्म के इतिहास, साहित्य तत्वज्ञान और कला का जो संक्षेप परिचय दिया गया है उससे उसकी मौलिक प्रेरणाओं और साधनाओं द्वारा भारतीय संस्कृति की परिपुष्टि का स्वरूप समझा जा सकता है [इस धर्म की आधार-भूमि उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीनतम वैदिक परम्परा, क्योंकि ऋग्वेद में ही केशी जैसे वातरशना मुनियों की उन साधनाओं का उल्लेख है जो उन्हे वैदिक ऋषियो से पृथक् तथा श्रमण मुनियो से अभिन्न प्रमाणित करती हैं] केशी और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का एकत्व भी हिन्दू और जैन पुराणो मे सिद्ध होता है ।

कोशल से प्रारम्भ होकर यह श्रमण धर्म पूर्व की ओर विदेह और मगध, तथा पश्चिम की ओर तक्षशिला व सौराष्ट्र तक फैला, एव अन्तिम तीर्थंकर महावीर द्वारा ईस्वी पूर्व छठी शती मे अपना सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायियो द्वारा अखिल देश व्यापी बना । उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न राजवशो एव बहुजन समाज को प्रभावित किया, तथा अपने आन्तरिक गुणो के फल-स्वरूप वह अविच्छिन्न धारावाही रूप से आज तक देश मे अपना अस्तित्व सुरक्षित रख हुए है ।

जिन आन्तरिक गुणो के बल पर जैनधर्म गत तीन-चार हजार वर्षों से इस देश के जन-जीवन मे व्याप्त है वे हैं उसकी आध्यात्मिक भूमिका, नैतिक विन्यास एव व्यवहारिक उपयोगिता और सतुलन । यहाँ प्रकृति के जड और चेतन तत्वो की सत्ता को स्वीकार कर चेतन को जड से ऊपर उठाने और परमात्मत्व प्राप्त कराने की कला का प्रतिपादन किया गया है । विश्व के अनादि-अनन्त प्रवाह से जड चेतन रूप द्रव्यो के नाना रूपो और गुणो के विकास के लिये यहा किसी एक ईश्वर की इच्छा व अधीनता को स्वीकार नही किया गया, जीव और अजीव तत्त्वो के परिणामी नित्यत्व गुण के द्वारा ही समस्त विकार और विकास के मर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है । सत्ता स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, और ऐसी सत्ता रखने वाले समस्त द्रव्य गुण-पर्याय-युक्त है । इन्ही मौलिक सिद्धान्तो मे जैन-दर्शन-सम्मत पदार्थों के नित्यानित्यत्व स्वरूप का मर्म अन्तर्निहित है । इस जानकारी के अभाव मे प्राणी भ्रान्त हुए, भटकते और बन्धन में पडे रहते हैं । इस तथ्य की ओर सच्ची दृष्टि और उसका सच्चा ज्ञान एव तदनुसार आचरण हो जाने

पर ही कोई पूर्ण स्वतन्त्र्य व बन्धन-मुक्ति रूप मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यही, जैन दर्शनानुसार, जीवन का सर्वोच्च ध्येय और लक्ष्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से विरोध मे सामञ्जस्य, कलह मे शान्ति व जीव मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न होना ही सच्चा दर्शन, ज्ञान और चरित्र है जिसकी आनुषगिक साधनाये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप नियम तथा क्षमा, मृदुता आदि गुण। नाना प्रकार के व्रतो और उपवासो, भावनाओ और तपस्याओ, ध्यानो और योगो का उद्देश्य यही विश्वजनीन आत्मवृत्ति प्राप्त करना है। समत्व का बोध और अभ्यास कराना ही अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तो का साध्य हैं।

जीवन मे इस वृत्ति को स्थापित करने के लिये तीर्थंकरो और आचार्यों ने जो उपदेश दिया वह सहस्त्रो जैन ग्रन्थो मे ग्रथित है। ये ग्रन्थ नाना प्रदेशो और भिन्न भिन्न युगो की विविध भाषाओ मे लिखे गये। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश प्राकृतो और सस्कृत मे जैन धर्म का विपुल साहित्य उपलभ्य है जो अपने भाषा, विषय, शैली व सजावट के गुणो द्वारा अपनी विशेषता रखता है। आधुनिक लोक-भाषाओ व उनकी साहित्यिक विधाओ के विकास को समझने के लिये तो यह साहित्य अद्वितीय महत्त्वपूर्ण हैं।

साहित्य के अतिरिक्त गुफाओ, स्तूपो, मन्दिरो और मूर्तियो तथा चित्रो आदि ललित कला की निर्मितियो द्वारा भी जैन धर्म ने, न केवल लोक का आध्यात्मिक व नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, किन्तु समस्त देश के भिन्न-भिन्न भागो को सौन्दर्य से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विशुद्ध और आनन्द विभोर हो जाता है।

जैन धर्म की इन विविध और विपुल उपलब्धियो को जाने-समझे बिना भारतीय सस्कृति का ज्ञान परिपूर्ण नही कहा जा सकता। जैन धर्म ने वर्ण-जाति-रूप समाज विभाजन को कभी महत्त्व नही दिया। यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। आज के ईर्ष्या और सघर्ष के विष से दग्ध ससार को जीवमात्र को कल्याण और उत्कर्ष की भावनाओ से ओत-प्रोत इस उपदेशामृत की बडी आवश्यकता है।

'अक्खर-पयत्थ-हीणं मत्ता-हीणं च ज मए भणियं।
त खमउ णाणदेवय मज्झ वि दुक्खक्खय दिन्तु॥'
"अक्षर-मात्र-पद-स्वरहीनं व्यजन-सधि-विवर्जित-रेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्य को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे॥"
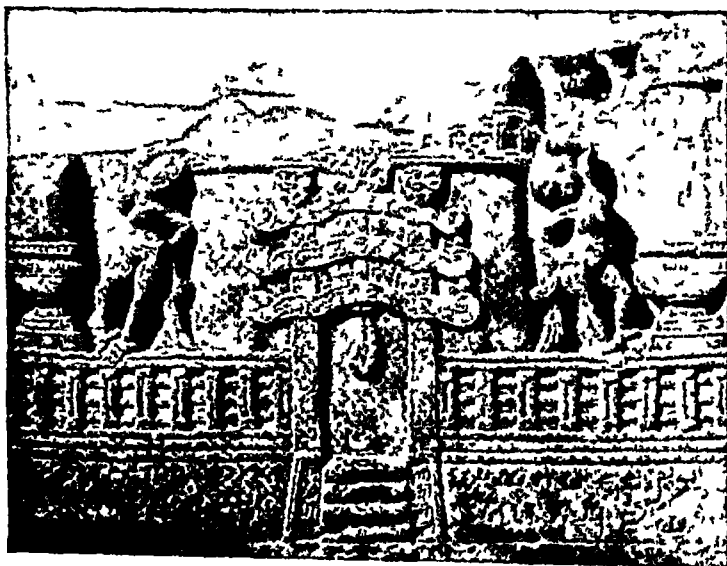
१ शिवयशा का स्तूपवाला आयागपट, मथुरा (पृ० ३०४)

२ मथुरा का जिनमूर्तियुक्त आयागपट (पृ० ३०५)
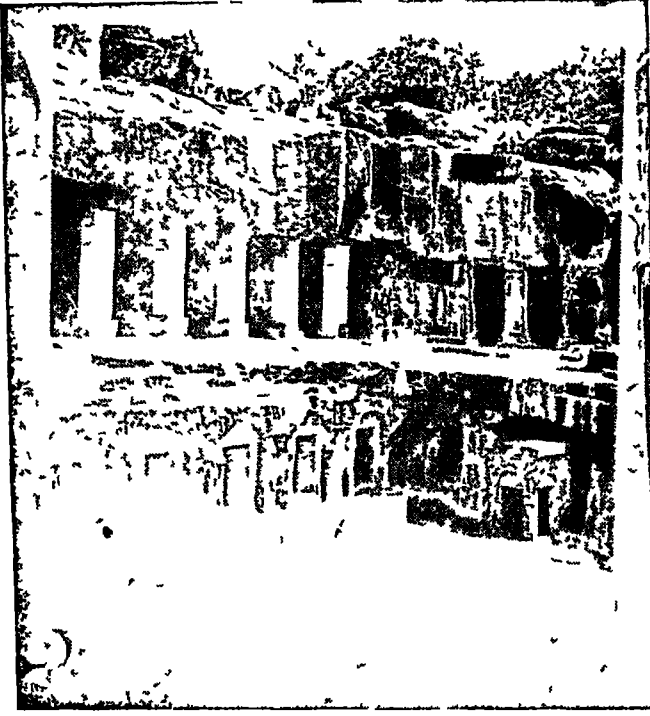
३ दुमजली रानी गुम्फा (पृ० ३०८)

४ उदयगिरि रानीगुम्फा के तोरण द्वार पर त्रिरत्न व अशोक वृक्ष
(पृष्ठ ३०८ न ३४३)

५ रानी गुम्फा का भित्ति चित्र (पृ० ३०८)
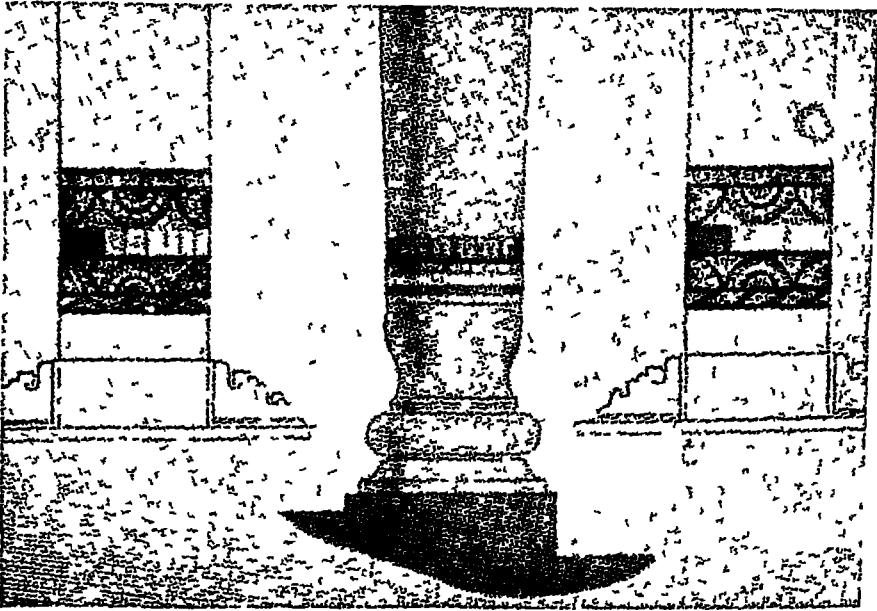
६ तेरापुर की प्रधान गुफा के स्तम्भो की चित्रकारी (पृ० ३११)

७ [illegible] की [illegible] गुफा का भित्तिचित्र (पृ० ३११ व ३१२)

८ तेरापुर की तीसरी गुफा का विन्यास व स्तम्भ (पृ० ३११)
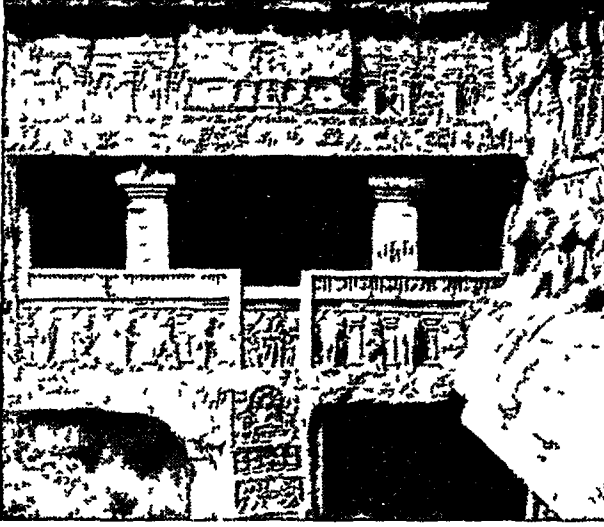
९ एलोरा की इन्द्रसभा की उपरी मजिल (पृ० ३१४)
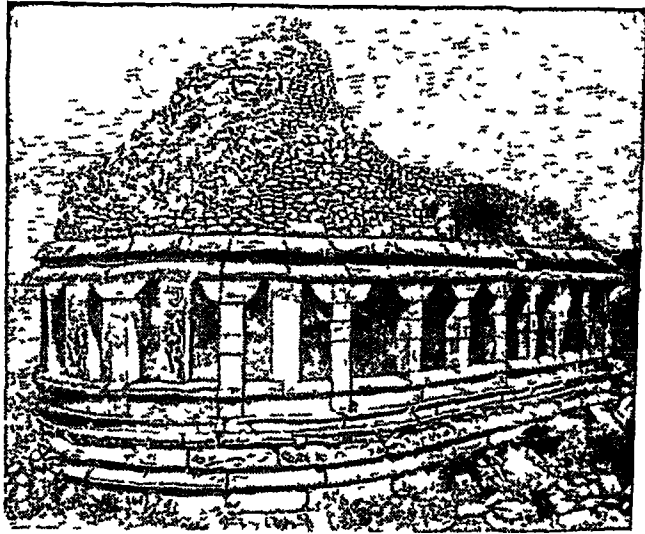
१० ऐहोल का मेघुटी जैन मदिर (पृ० ३२२)
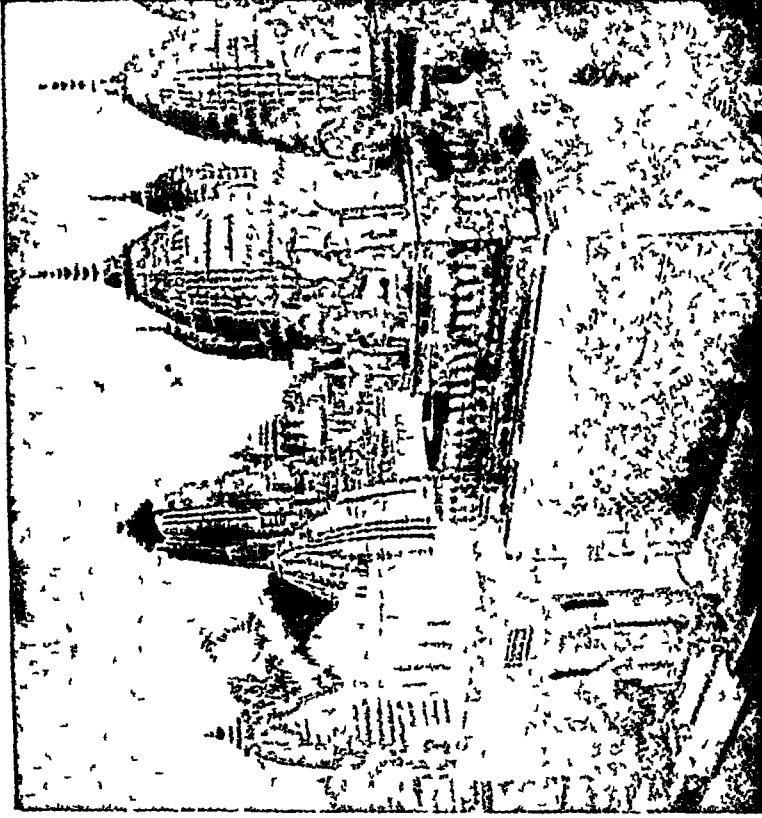
११ लकुडी का जैन मदिर (पृ० ३२३)

१२ खजराहो के जैन मदिरो का सामूहिक दृश्य (पृ० ३२८)

१३ खजराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के भित्ति चित्र (पृ० ३२८)
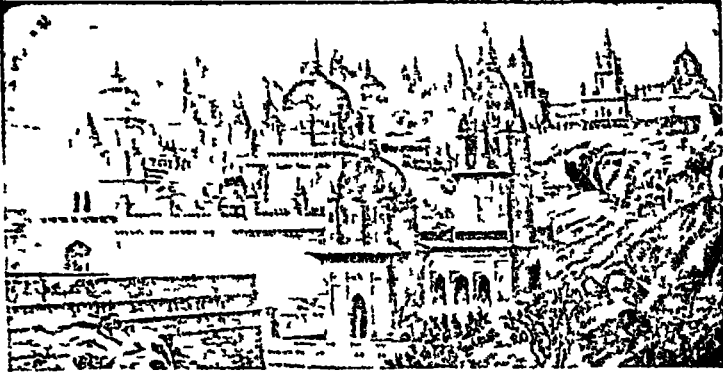
१४ सोनागिरि के जैन मदिरो का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३०)

१५ आबू जैन मदिर के छत की कारीगरी (पृ० ३३५)
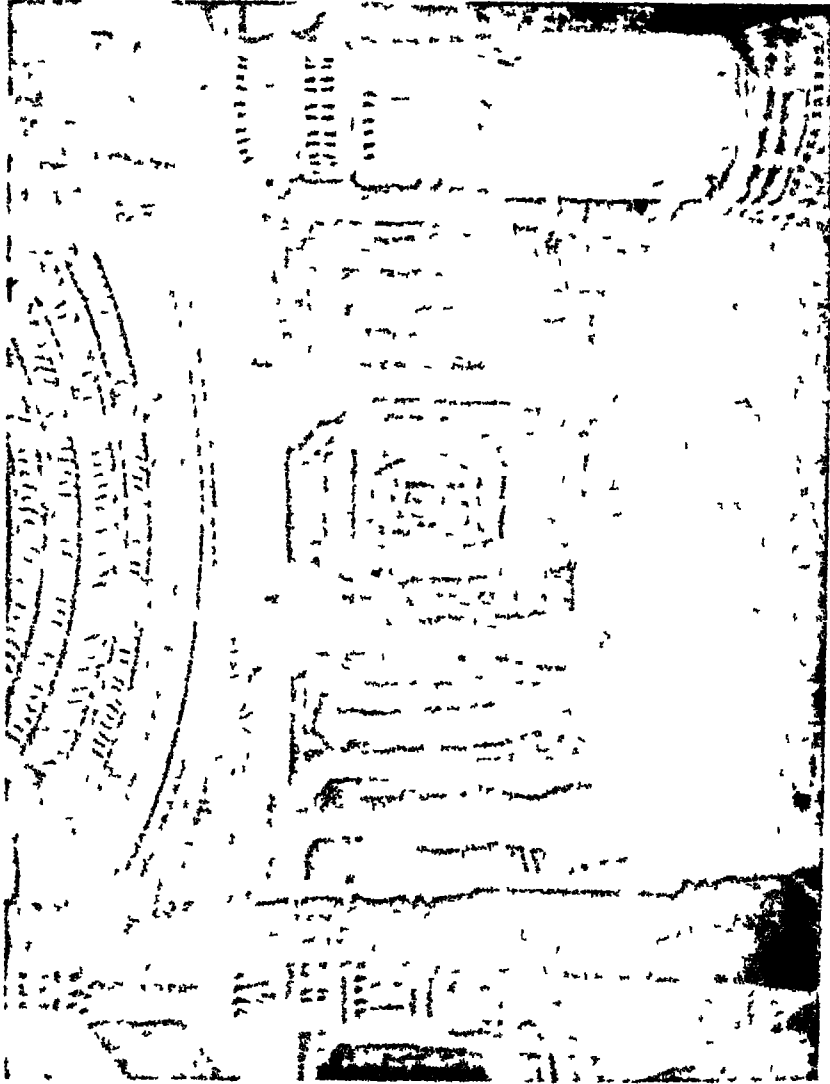
१६ राणपुर का जैन मंदिर (पृ० ३३७)

१७ चित्तौड का जैन कीर्तिस्तम्भ (पृ० ३३८)
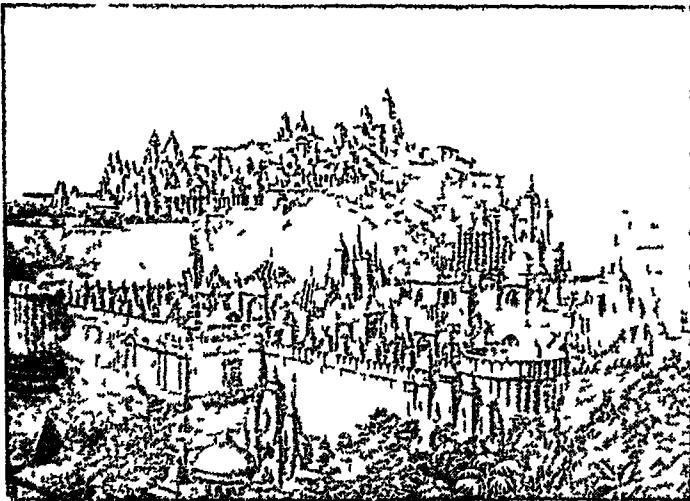
१८ शत्रुंजय के जैन मदिरो का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३८)
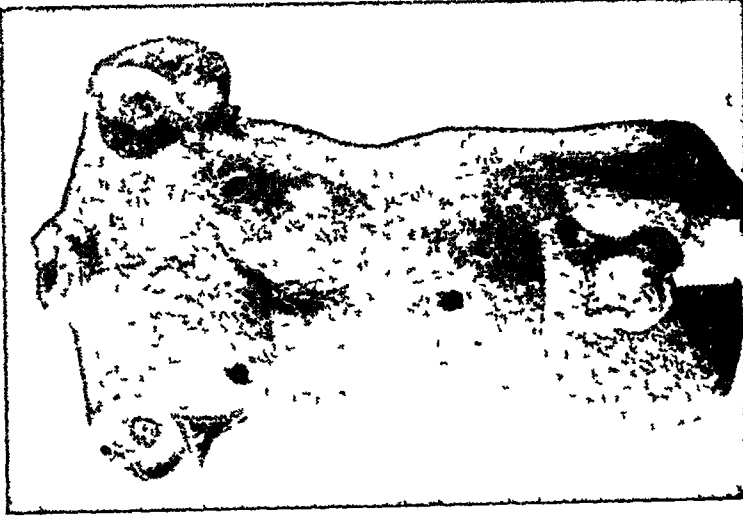
१९ लोहानीपुर की मस्तकहीन जिन मूर्ति (पृ० ३४२)

२० सिंघघाटी की मस्तकहीन मूर्ति (पृ०३४२)
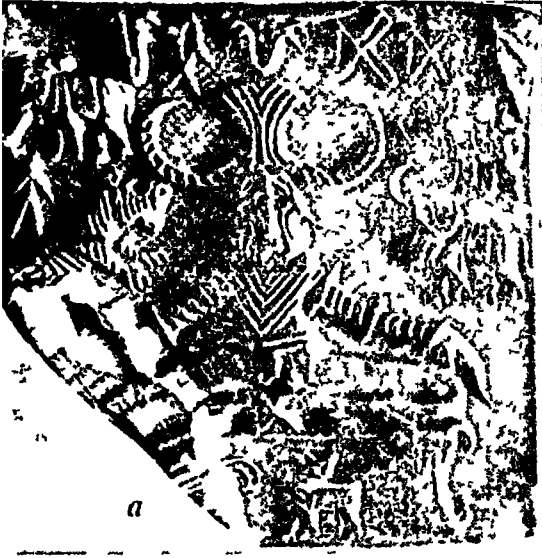
२१ सिंधघाटी की त्रिश्रृंगयुक्त ध्यानस्थ मूर्ति
(पृ० ३४२)

२२ ऋषभ की खड्गासन धातु
प्रतिमा, चौसा, बिहार (पृ० ३५१
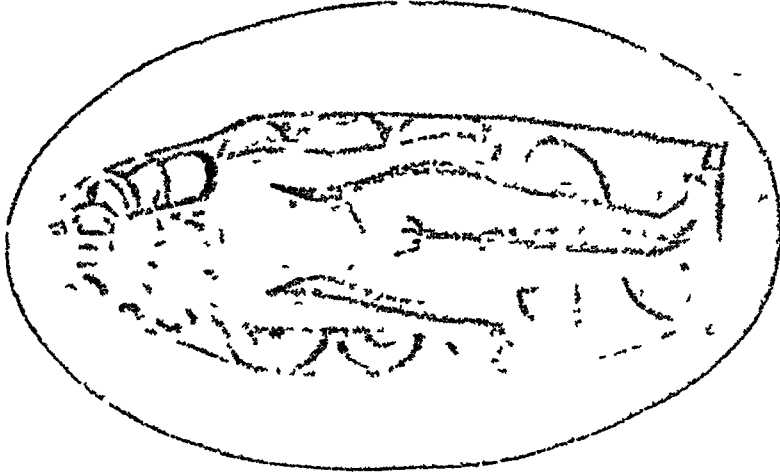
२३ तेरापुर गुफा के पद्मासन पार्श्वनाथ (पृ० ३१२)
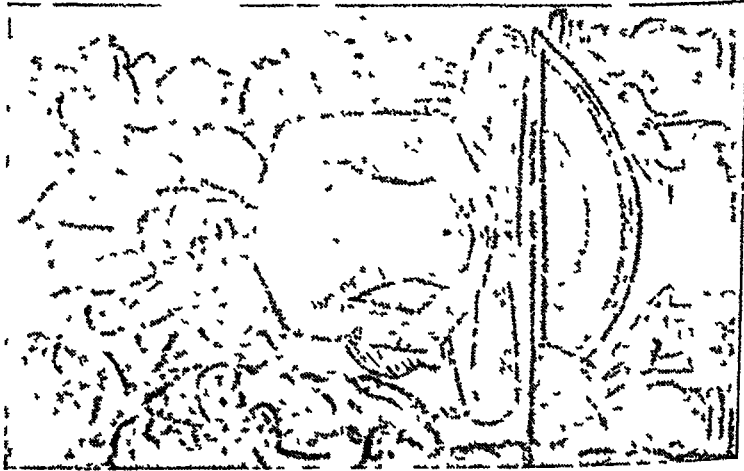
२४ तेरापुर गुफा के खड्गासन पार्श्वनाथ (पृ० ३१२)

२६ देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

२५ पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति, उदयगिरि विदिशा (पृ० ३११ व ३४७)
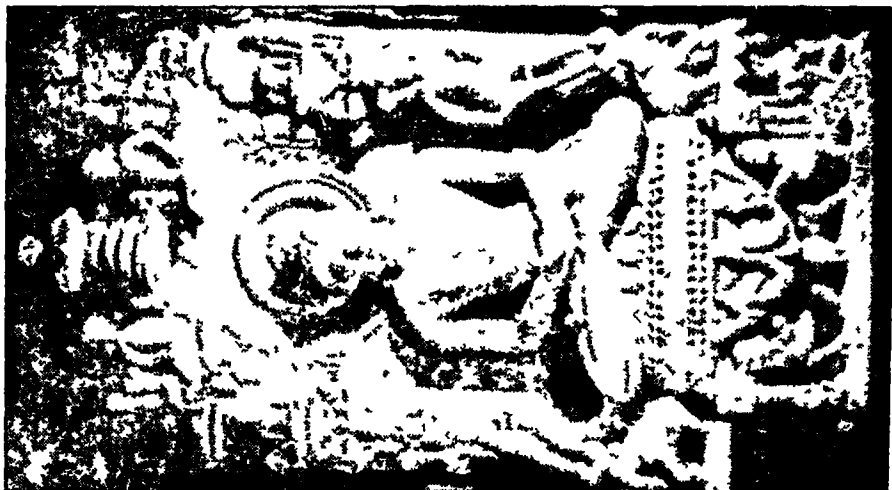
२८ देवगढ की पद्मासन जिन प्रतिमा
(पृ० ३२७ व ३४७)

२९ देवगढ की पद्मासन जिन प्रतिमा
(पृ० ३२७ व ३४७)

३० जीवन्त स्वामी की धातु प्रतिमा, अकोट (पृ० ३५२)
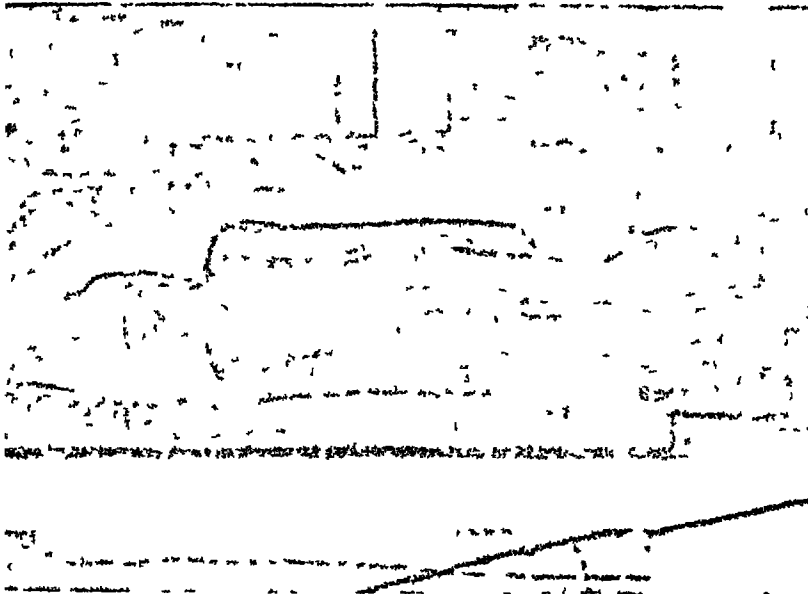
२९ देवगढ की खड्गासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

३१ श्रवण वेल्गोला के गोम्मटेश्वर बाहुबलि (पृ० ३५३)
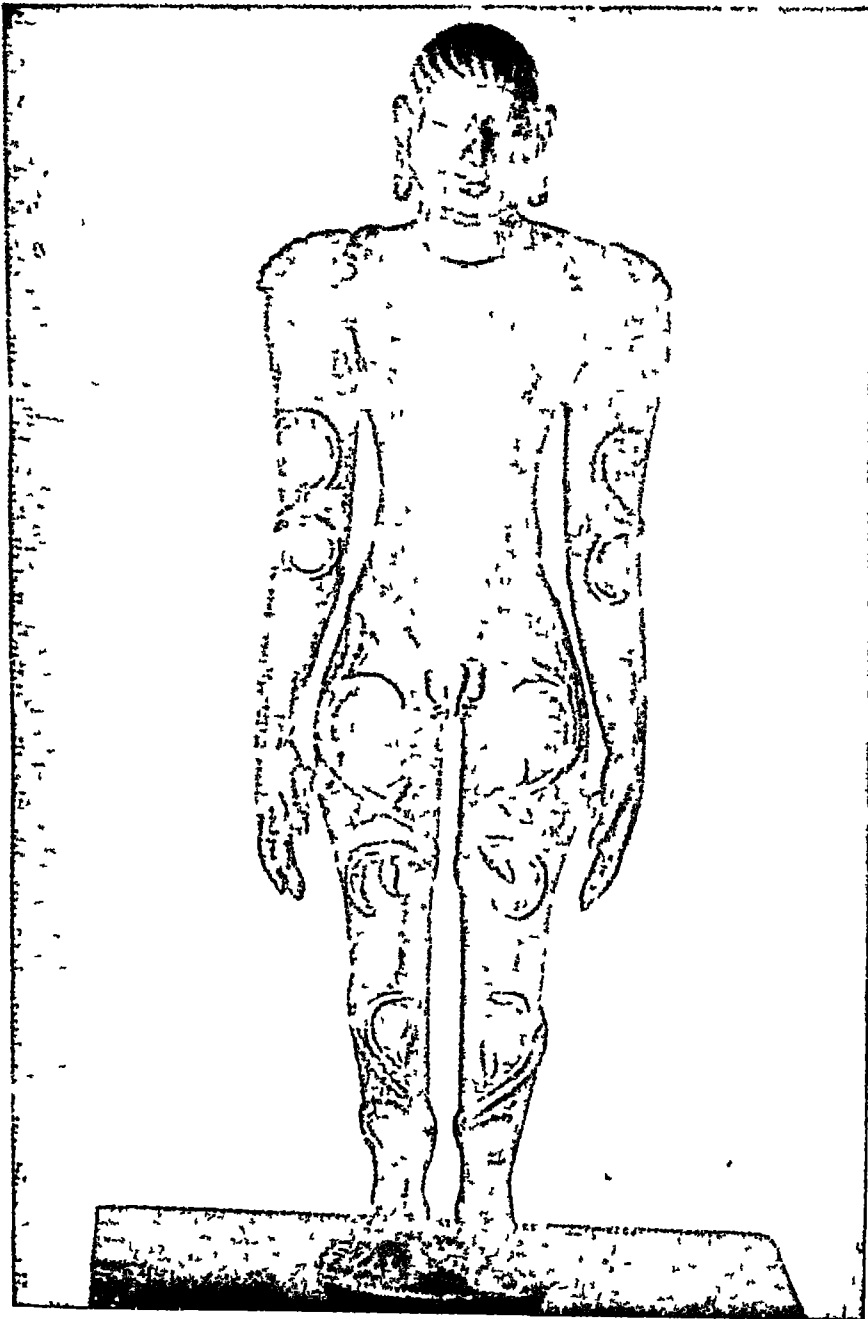
३२ बाहुबलि की धातु प्रतिमा (पृ० ३५३)

३४ चन्द्रपुर झाँसी, की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)

३३ देवगढ जैन मंदिर की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)
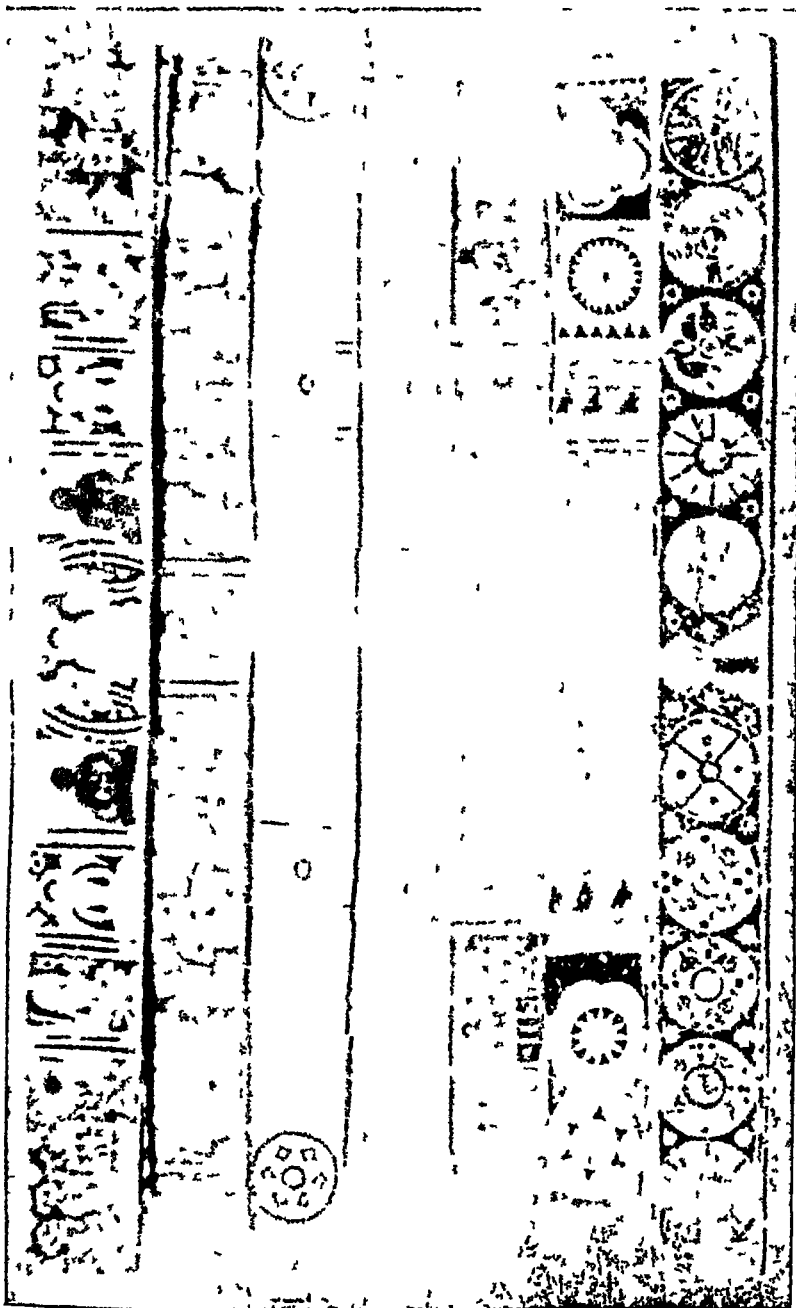
३५ मूड्बिद्री के सिद्धांत ग्रन्थों के ताडपत्रीय चित्र (पृ० ३६५)

३६ सुपासणाह चरिय का कागद चित्र (पृ० ३७०)

ग्रन्थ-सूची

सूचना —व्याख्यानो में प्राय आधारभूत ग्रथो का कुछ सकेत यथा-स्थान कर दिया गया है। विशेष परिचय व अध्ययन के लिये निम्न ग्रन्थ उपयोगी होगे —

व्याख्यान १
जैन इतिहास

1 History and Culture of the Indian People, Vol I—V (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay)

2 Mysore and Coorg from the Inscriptions, by B Rice (London, 1909)

3 Studies in South Indian Jainism, by M.S R Iyyangar & B Seshgiri Rao (Madras, 1922)

4 Rashtrakutas and their Times—A S Altekar (Poona, 1934)

5 Mediaval Jainism, by B A Saletore (Bombay, 1938)

6 Jainism and Karnataka Culture, by S R Sharma (Dharwar, 1940)

7 Traditional Chronology of the Jainas, by S Shah (Stuttgart, 1935)

8 Jainism in North India, by C J Shah (London, 1932)

9 Life in Ancient India as depicted in the Jaina Canons, by J C Jain (Bombay, 1947)

10 Jainism, the oldest living religion, by Jyotiprasad Jain (Banaras, 1951)

11 Jainism in South India, by P B Desai (Sholapur 1957)

12 Yasastilaka and Indian Culture, by K K Handiqui (Sholapur, 1949)

13 Jainism in Gujrat, By C B. Seth (Bombay, 1953)

14 Jaina System of Education, by B C Dasgupta (Calcutta, 1942)

15 Jain Community — A Social Survey by V A Sangave (Bambay, 1959)

16 History of Jaina Monachism, by S B Deo (Poona, 1956)

17 Repertoire di Epigraphie Jaina, by A Guerinot (Paris, 1908)

१८ श्रमण भगवान् महावीर—कल्याणविजय (जालोर, १९४१)
१९ वीर निर्वाण सवत् और जैनकाल गणना-कल्याण विजय, (नागरी प्रचारिणी पत्रिका १०–४ काशी, १९३०)
२० जैन लेख सग्रह (भा १–३) पू च नाहर (कलकत्ता, १९१८–२९
२१ पट्टावली समुच्चय–दर्शनविजय (वीरमगाम, गुजरात, १९३३)
२२ जैन शिलालेख सग्रह, भाग १–३ (मा दि जै ग्रथमाला, बम्बई)
२३ भट्टारक सम्प्रदाय–वि जोहरापुरकर (शोलापुर, १९५८)
२४ जैन सिद्धान्त भास्कर (पत्रिका) भा १–२२, सिद्धात भवन, आरा
२५ अनेकान्त (पत्रिका) भा १–१२ (वीर सेवामन्दिर, दिल्ली)

व्याख्यान २

जैन साहित्य

26 Outline of the Religious Literature of India, by J N Farquhar (Oxford, 1920)

27 A History of Indian Literature, Vol II (Jaina Lit), by M Winternitz (Calcutta, 1933)

28 History of the Jaina Canonical Literature, by H. R Kapadia (Bombay 1441)

29 Die Lehre Der Jainas, by W Schubring, (Berlin 1935)

30 Die Jaina Handschriften, by W Schubring, (Leifozing, 1944)

31 Essai De Bibliography Jaina, by A Guerinot (Paris, 1906)

32 Jaina Bibliography Chhotelal Jain (Calcutta, 1945)

33 Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C P & Berar (Nagpur, 1926)

34 Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture, by S K Katre (Bombay 1945)

35 Die Kosmographic der Inder by H Kierfel (Leipzig 1920)

३६ जैन ग्रथावलि – (जों श्वे कान्फरेस, बम्बई, १९०८)

३७ जिन रत्न कोश–ह् दा वेलणकर (पूना, १९४४)

३८ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ-सूची, भा १–४, कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (जयपुर)

३९ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास–(गुज)–मो द देसाई (बम्बई, १९३३)

४० प्राकृत साहित्य का इतिहास–जगदीशचन्द्र जैन (चौखभा विद्या भवन, वाराणसी, १९६१)

४१ प्राकृत और उसका साहित्य–हरदेव बाहरी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

४२ अपभ्र श साहित्य– हरिवश कोछड (दिल्ली, १९५६)

४३ जैन ग्रथ और ग्रन्थकार–फतेहचन्द वेलानी (जै० स स मण्डल, बनारस, १९५०)

४४ जैन ग्रथप्रशस्ति सग्रह–जु कि मुख्तार और परमानन्द शास्त्री, (दिल्ली, १९५४)

४५ पुरातन जैन वाक्य सूची (प्रस्तावना)–जु कि मुख्तार (सहारनपुर १९५०)

४६ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश–जु कि मुख्तार (कलकत्ता, १९५६)

४७ जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी (बम्बई, १९५६)

४८ प्रकाशित जैन साहित्य–जैन मित्र मडल, धर्मपुरा, दिल्ली १९५८

ग्रंथमालायें जिनमे महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं

१ आगमोदय समिति, सूरत व बम्बई
२ जीवराज जैन ग्रथमाला (जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर)
३ जैन आत्मानद सभा, भावनगर
४ जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर
५ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फड बम्बई व सूरत
६ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रथमाला, बम्बई
७ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
८ यशोविजय जैन ग्रथमाला, बनारस व भावनगर
९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई)
१० सिंघी जैन ग्रथमाला (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

अर्धमागधी जैनागम

पृ ५५ से ७५ तक जिन ४५ आगम ग्रथो का परिचय दिया गया है उनका मूलपाठ टीकाओ सहित दो तीन बार कलकत्ता, बम्बई व अहमदाबाद से सन् १८७५ और उसके पश्चात् प्रकाशित हो चुका है। ये प्रकाशन आलोचनात्मक रीति से नही हुए। इनमे का अन्तिम सस्करण आगमोदय समिति, द्वारा प्रकाशित है। किन्तु यह भी अब दुर्लभ हो गया है। स्थानकवासी सम्प्रदाय मे मान्य ३२ सूत्रो का पहले अमोलक ऋषि द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से (१९१८) व हाल ही मूलमात्र प्रकाशन सूत्रागम प्रकाशन समिति द्वारा किया गया हैं (गुडगाव, पजाब, १९५१) विशेष सावधानी से भूमिकादि सहित प्रकाशित कुछ ग्रंथ निम्न प्रकार हैं :—

४९ आचाराङ्ग—ह याकोबी (पा टै सो लदन, १८८२)
उन्ही का अग्रेजी अनुवाद (सै बु ई २२) प्रथम श्रुतस्कध (शब्दकोष व पाठ-भेदों सहित) —वा शुब्रिंग, लीपजिग १९१०, (अहमदाबाद, म १९८०)

५० सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति) सहित — प ल वैद्य (पूना, १९२८) शीलाङ्ककृत टीका व हिन्दी अनुवादादिसहित भा १—३—जवाहिरलाल महाराज (राजकोट वि स १९९३—९५

५१ भगवती, शतक १—२० हिन्दी विषयानुवाद, शब्दकोष आदि, मदनकुमार मेहता (कलकत्ता वि स २०११)

५२ ज्ञातृधर्म कथा (णायाधम्मकहाओ) पाठान्तरसहित पूर्ण तथा अध्ययन ४ और ८ एव ६ और १६ का अग्रेजी अनुवाद–एन व्ही वैद्य (पूना, १६४०)

५३ उपासक दशा-अग्रेजी अनुवाद, भूमिका व टिप्पण आदि सहित-हार्नले (कलकत्ता १८८५–८८) भूमिका वर्णकादिविस्तार व अग्रेजी टिप्पणी सहित प ल. वैद्य (पूना, १६३०)

५४ अन्तकृद्दशा
५५ अनुत्तरौपपातिक } अग्रेजी भूमिका, अनुवाद, टिप्पण व शब्दकोष सहित-एम सी मोदी (अहमदाबाद, १६३२) व अग्रेजी भूमिका, स्कदक कथानक व शब्दकोश सहित–प ल वैद्य (पूना, १६३२)

५६ विपाक सूत्र–अग्रेजी भूमिका, वर्णकादि विस्तार व शब्दकोष सहित–प ल वैद्य (पूना १६३३) व अनुवाद व टिप्पण सहित – चौकसी और मोदी (अहमदाबाद, १६३५)

५७ औपपातिक सूत्र–मूलपाठ व पाठान्तर – एन जी सुरू (पूना, १६३६)

५८ रायपसेणिय –अग्रेजी अनुवाद व टिप्पणी सहित भाग १–२ –एन व्ही वैद्य (अहमदाबाद, १६३८) व हीरालाल बी गाधी (सूरत, १६३८)

५६ निरयावलियाओ (अन्तिम ५ उपाग) अग्रेजी भूमिका व शब्दकोष सहित–पी एल वैद्य (पूना, १६३२)

६० जीतकल्प सूत्र–भाष्यसहित–पुण्यविजय (अहमदाबाद, वि स १६६४,) व्याख्या व चूर्ण सहित –जिनविजय (अहमदाबाद, वि स १६८३)

६१ कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्र पाठान्तर सहित–वाल्टर शुब्रिंग (लाइपजिग व अहमदाबाद)

६२ निशीथ–एक अध्ययन –दलसुख मालवणिया (आगरा, १६५६)

६३ स्टूडिएन इन महानिशीथ –हैम एण्ड शुब्रिंग हैमवर्ग, १६५१

६४ उत्तराध्ययन –अग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित–जार्ल चार्पेंटियर (उपसाला, १६१४)

६५ दशवैकालिक –अग्रेजी भूमिका, अनुवाद व टिप्पण सहित –ल्यूमन और वाल्टर शुब्रिंग (अहमदाबाद, १६३२)

६६ नन्दीसूत्र – हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोष आदि सहित –हस्तिमल्ल-मुनि (मूथा, सतारा, १६४२)

शौरसेनी जैनागम–द्रव्यानुयोग

६७ षट्खडागम (धवला टीका स.) भाग १–१६ भूमिका, हिन्दी अनुवाद, अनुक्रमणिका दि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)

६८ महावध–भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४७–१९५८)

६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन सघ मथुरा, १९४४ आदि)

७० कसाय पाहुड– सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन सघ, कलकत्ता, १९५५)

७१ गोम्मटसार–जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड–अग्रेजी अनुवाद सहित–जे एल जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स आरा ग्र ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई १९२७-१९२८)

७२ पञ्चसग्रह (प्राकृत)– सस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति, हिन्दी भूमिका अनवादादि सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९६०)

७३ पञ्चसग्रह (अमितगति स) (मा ग्र बम्बई, १९२७)

७४ पञ्चसग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)

७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) मलयगिरि और यशोवि टीकाओ सहित (जैनधर्म प्रसा सभा, भावनगर)

७६ कर्मविपाक (कर्मग्रथ १)–प सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा, १९३९)

७६ कर्मस्तव (कर्मग्रथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)

७८ बधस्वामित्व (कर्मग्रन्थ ३) हि अ सहित (आगरा, १९२७)

७९ षडशीति (कर्मग्रन्थ ४) प सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा, १९२२)

८० शतक (कर्मग्रन्थ ५) प कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)

८१ सप्ततिका प्रकरण (क ग्रन्थ ६) प फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)

८२ प्रवचनसार (कुन्दकुन्द)–अमृतचन्द्र व जयसेनकृत सस्कृत टीका, हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ उपाध्ये कृत अग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचन्द्र शा मा बम्बई, १९३५)

८३ समयसार (कुदकुद)-प्रो चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९५०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत सस्कृत टीक व जयचन्द्र कृत हिन्दी टीका सहित (अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, १९५९) ज जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०)

८४ पञ्चास्तिकाय (कुदकुद) -प्रो चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी भूमिका व अनुवाद सहित (आरा १९२०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत स टीका तथा मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु सहित (रायचन्द्र जै शा मा वम्बई, १९०४)

८५ नियमसार (कुन्दकुन्द)-उग्रसेन कृत अंग्रेजी अनु सहित (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३१) पद्मप्रभ कृत सस्कृत टीका व ब्रह्म शी प्र कृत हिन्दी व्याख्या स (वम्बई, १९१६)

८६ अष्टपाहुड (कुन्दकुन्द) जयचन्द्र कृत हिन्दी वचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्र मा वम्बई, १९२३)

८७ षट्प्राभृतादि सग्रह (कुन्दकुन्द) श्रुतसागर कृत सस्कृत टीका व लिंग और शील प्राभृत, रयणसार व द्वादशानुप्रेक्षा सस्कृत छाया मात्र स (मा दि जै ग्र वम्बई वि स १९७७)

८८ कुन्दकुदप्राभृत सग्रह प कैलाशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स. (जीवराज जैन ग्र शोलापुर, १९६०)

द्रव्यानुयोग सस्कृत

८९ तत्वार्थसूत्र (उमास्वाति) – जु जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद स (आरा, १९२०) भाष्य व हि अनु स (रा जै शा वम्बई, १९३२) पूज्यपादकृत सर्वार्थ सिद्धि टीका स (शोलापुर, १९३९) सर्वार्थ-सिद्धि टीका प फूलचन्द्र कृत भूमिका व अनुवाद स (ज्ञानपीठ, काशी, १९५५) अकलक कृत तत्वार्थ वार्तिक टीका व हिन्दी साराश स भा. १–२ (ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ व १९५७). विद्यानन्दि कृत श्लोकवार्तिक स (नाथारग जै ग्र वम्बई १९१८) श्रुतसागर कृत तत्त्वार्थवृत्ति स. (ज्ञानपीठ, काशी, १९४९) सुखलाल कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स (भारत जैन महामडल वर्धा, १९५२) प फूलचन्द्र कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स (ग वर्णी ग्र काशी, वी नि २४७६)

९० पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अमृतचन्द्र) अजितप्रसाद अंग्रेजी अनुवादादि स (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३३) हिन्दी अनु स (रायचन्द्र जै शा बम्बई १९०४)

जैन न्याय

९१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) अभयदेव टीका स मा १–५ गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, १९२१–३१) अंग्रेजी अनु व भूमिका स (जै श्वे. एज्यू बोर्ड बम्बई, १९३८)

९२ नयचक्रसग्रह (देवसेन) स छाया स (मा दि जै ग्र १६ बम्बई, १९२०) नयचक्र–हिन्दी अनु स (शोलापुर १९४९)

९३ आलाप पद्धति (देवसेन) –(सनातन जैन ग्र बम्बई १९२० व मा दि जैन ग्र बम्बई १९२०)

९४ अप्तिमीमासा (समन्तभद्र) –जयचन्दकृत हिन्दी अर्थ स (अनन्तकीर्ति ग्र मा ४ बम्बई, अकलक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन जै बनारस १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्त्री टीका (अकलोज, शोलापुर, १९१५)

९५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा दि जै ग्र १६ बम्बई) जु मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या स (वीरसेवा मन्दिर सरसावा १९५१)

९६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स (रायचन्द्र जै शा. बम्बई, १९३५)

९७ न्यायावतार (सिद्धसेन) –सतीशचन्द्र वि भू कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रभसूरि कृत विवृति के अवतरणो स (कलकत्ता १९०९) सिद्धर्षि कृत टीका व देवभद्रकृत टिप्पण व प ल वैद्यकृत अंग्रेजी प्रस्तावना स (श्वे जैन सभा बम्बई, १९२८)

९८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) –हेमचन्द्र टीका स (य जै ग्र बनारस नि स २४२७–४१) गुज अनु स (आगमोदय बम्बई, १९२४–२७)

९९ अकलक ग्रथत्रय (लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसग्रह) महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना व टिप्पणो स (सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदावाद–कलकत्ता, १९३९)

१०० न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स (मा. दि जै ग्र बम्बई, १९३३, १९४१)

१०१ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४९, १९५४)

१०२ सिद्धिविनिश्चय टीका (अनन्तवीर्य भा १-२ डॉ महेन्द्र कु कृत अग्रेजी व हिन्दी प्रस्तावना स (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६५९)

१०३ आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द) स्वोपज्ञ टीका व प दरबारीलाल कोठिया कृत हिन्दी प्रस्तावना व अनुवाद स (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १६४९) आप्त परीक्षा और पत्र परीक्षा (जैन धर्म प्रचारिणी सभा, बनारस, १६१३)

१०४ लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (अनन्तकीर्ति) (मा दि जै ग्र बम्बई, वि स १९७२)

१०५ परीक्षामुख (माणिक्यनन्दी) अनन्त वीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला टीका व टिप्पणो सहित (बनारस, १९२८) हिन्दी अनुवाद स (झासी, नि स २४६५) शरच्चन्द्र घोषालकृत अग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद स (अजिताश्रम, लखनऊ, १९४०) अनन्तवीर्य कृत टीका स सतीशचन्द्र वि भू द्वारा सम्पादित(बिब इडिका कलकत्ता, १९०९)

१०६ प्रमेयकमल मार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) -प महेन्द्र कु भूमिका स (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१)

१०७ न्यायदीपिका (धर्मभूषण) प दरबारीलाल कोठिया कृत टिप्पण, हिन्दी प्रस्तावना अनुवाद स (वीरसेवा, मन्दिर, सरसावा, १९४५)

१०८ सप्तभङ्गितरङ्गिणी (विमलदास)- प ठाकुरप्रसादकृत हिन्दी अनुवाद स (रायचन्द्र शा बम्बई, १९१६)

१०९ अनेकान्तजयपताका (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका सहित (य जै ग्र भावनगर नि स २४३६ आदि)

११० अनेकातवाद प्रवेश (हरिभद्र)-(हेमचन्द्र सभा, पाटन, १९१९)

१११ अष्टक प्रकरण (हरिभद्र) जिनेश्वर कृत स टीका सहित (मनसुख भा, अहमदाबाद वि स १९६८)

११२ विंशतिविंशिका (हरिभद्र) सस्कृत छाया व अग्रेजी टिप्पणों सहित (के. व्ही अभ्यकर, अहमदाबाद, १९३२)

११३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार (वादिदेव) स्वोपज्ञ टीका स. (मोतीचन्द लाढजी, पूना, नि स २४५३-५७) रत्नाकरावतारिका व अन्य टीकाओ स (य जै ग्र बनारस नि स २४३१-३७)

११४ प्रमाणमीमासा (हेमचन्द्र) प सुखलाल की प्रस्तावना एव भाषा टिप्पणों (सिंघी ग्र बम्बई अहमदाबाद-कलकत्ता, १९३९)

११५ जैनतर्कभाषा(यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स (सिंघी ग्र. १९३८)
११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) –प. सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणी स (सिंघी ग १९४२)

करणानुयोग

११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) भाषानुवाद स (जीवराज ग्र. शोलापुर, १९६२)
११८ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ)भा १–२ प्रस्ता व हिन्दी अनु स (जीवराज ग्रं शोलापुर १९४३, १९५२)
११९ त्रिलोकसार (नेमीचन्द्र) माधवचन्द्रकृत टीका स. (मा ग्र बम्बई, वि स २४४४)
१२० जम्बूद्वीपपण्णत्ति (पद्मनन्दि) प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज ग्र शोलापुर, १९५८)
१२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) –सचित्र, गुज व्याख्या स (मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, १९३४)
१२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स (जैनधर्म प्र स. भावनगर, स १९७७)
१२३ बृहत्संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज व्याख्या स (मुक्तिकमल जैन मो बड़ौदा १९३९)
१२४ विचारसार (प्रद्युम्नसूरि) –आगमोदय स. सूरत, १९२३)
१२५ ज्योतिष्करण्डक –सटीक (रतलाम, १९२८)

चरणानुयोग

१२६ मूलाचार (वट्टकेर) भा १–२ वसुनन्दी टीका स (मा. ग्र बम्बई, वि. स १९७७, १९८०) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु स (अनन्तकीर्ति ग बम्बई १९१९)
१२७ भगवती आराधना (शिवार्य) –सदासुखकी भाषावचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्र बम्बई वि स १९८९) मूलाराधना–अपराजित और आशाधर की स. टीकाओ व हिन्दी अनु स (शोलापुर, १९३५)
१२७ अनगार धर्मामृत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स (मा ग्र. बम्बई, १९१९)
१२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र) –स्वोपज्ञ टीका स (देवचन्द लालभाई ग्र बम्बई १९३२)
१३० सम्यक्त्वसप्तति (हरिभद) –सघतिलक टीका स (दे ला ग बम्बई, १९१३)
१३१ जीवानुशासन (देवसूरि) –हेमचन्द्र – ग्रथा पाटन, १९२८)

१३२ प्रवचन सारोद्धार (नेमिचन्द्र)-सिद्धसेन टीका स (ही. ह जामनगर, १९१४, दे ला ग्र बम्बई, १९२२)

१३३ द्वादशकुलक (जिनवल्लभ) -जिनपाल टीका स (जिनदत्त सूरि प्रा पु बम्बई, १९३४)

१३४ प्रशमरति (उमास्वाति) सटीक (जैन ध प्र स भावनगर, स १९६६) सटीक हिन्दी अनु स (रा जै. शा बम्बई, १९५०)

१३५ चारित्रसार (चामुण्डाराय) -(मा दि जै ग्रं बम्बई, नि स. २४४३)

१३६ आचारसार (वीरनन्दि) - (मा दि जै ग्र, बम्बई स १९७४)

१३७ सिन्दूरप्रकर (सोमप्रभ या सोमदेव) -हर्षकीर्ति टीका स (अहमदाबाद, १९२४)

१३८ श्रावकप्रज्ञप्ति (हरिभद्र) -सटीक गुज अनु स (जैन ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, १९०५)

१३९ पञ्चाशक सूत्र (हरिभद्र) -अभयदेव टीका स (जै ध प्र स भावनगर १९१२)

१४० धर्मरत्न (शान्तिसूरि) स्वोपज्ञ टीका स (जै आ स भावनगर स १९७०) देवेन्द्र टीका स. (जै ध प्रसारक, पालीताना, १९०५-६)

१४१ वसुनन्दि श्रावकाचार -प्रस्तावना व हिन्दी अनु स. (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५२)

१४२ सावयधम्मदोहा - डॉ ही ला जैन कृत प्रस्तावना हिंदी अनु आदि स (कारजा जैन ग्र १९३२)

१४३ रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र)-प्रभाचन्द्र टीका व जु मुख्तार कृत प्रस्तावना स (मा दि जै ग्र, बम्बई, वि १९८२) समीचीन धर्मशास्त्र नाम से हिन्दी व्याख्या स (वीर सेवा म दिल्ली, १९५५) चम्पतराय कृत अ अनु स (बिजनौर, १९३१)

१४४ यशस्तिलकम् (सोमदेव) भा १-२ पचम आश्वास के मध्य तक श्रुतसागर टीका स (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६)

१४५ श्रावकाचार (आमितगति) - भागचन्द्र कृत वचनिका स अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, वि १९७९)

१४६ सागारधर्मामृत (आशाधर) -स्वोपज्ञ टीका स (मा ग्र बम्बई वि १९७२)

१४७ श्रावकाचार (गुणभूषण) भा १-२ हिन्दी अनु स.(दि. जै. पु सूरत, १९२५)

१४८ लाटीसहिता (राजमल्ल) -मा ग्र वि १९८४)

ध्यान–योग

१४९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) शुभचन्द्र टीका प कैलाशचन्द्र कृत हि. अनु डॉ उपाध्ये कृत अ प्रस्तावनादि स. (रायचन्द्र शा अगास, १९६०)

१५० योगबिन्दु (हरिभद्र) –सटीक (जैन ध प्र स भावनगर, १९११)

१५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका म (दे. ला बम्बई, १९१३)

१५२ योगविंशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व प सुखलाल की भूमिका स (अ ग्र भावनगर, १९२२)

१५३ षोडशक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओ स (दे ला बम्बई, १९११)

१५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत स टीका व दौलतराम कृत हिन्दी, टीका डॉ उपाध्ये कृत अ प्रस्तावना व प जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनु स (रायचन्द्र शा, अगास, १९६०)

१५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) डॉ ही ला जैनकृत भूमिका, हिन्दी अनु आदि स (कारजा जैन सीरीज, १९३३)

१५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका, धन्यकुमार कृत हि अनु व चम्पतराय कृत अ अनु और टिप्पणी स (रायचन्द्र शा बम्बई, १९५४)

१५७ समाधितन्त्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका, परमानन्द कृत हि अनु व, जु मुख्तार कृत प्रस्तावना स (वीर सेवा मन्दिर सरसावा, १९३९)

१५८ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (यशोविजय) – सटीक (जै ध प्र स भावनगर स १९६६)

१५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र)–प्रभाचन्द्र टीका, अग्रेजी, हिन्दी प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज जै ग्र सोलापुर १९६१) जु जैनी कृत अंग्रेजी अनु स (अजिताश्रम, लखनऊ, १९२८) बशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्र र का बम्बई, १९१६)

१६० सुभाषितरत्नसदोह (अमितगति) – निर्णयसागर बम्बई, १९०९) हिं अनु स (हरि. दे कलकत्ता, १९१७)

१६१ योगसार (अमितगति)–सनातन जै ग्र कलकत्ता ११९८)

१६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) –हि अनु स (रायचन्द्र शा, बम्बई, १९०७)

१६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स (जै ध प्र स भावनगर १९२६)

१६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु मुख्तार कृत (वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५७)

स्तोत्र

१६५ जिन सहस्त्रनाम—आशाधर, जिनसेन, सकलकीर्ति, हेमचन्द्र कृत स्तोत्रो का पाठमात्र व आशाधर कृत स्वोपज्ञवृत्ति, प हीरालाल कृत अनुवाद व श्रुतसागर टीका स (भारतीय ज्ञा काशी १९५४)

१६६ जैनस्तोत्र सग्रह, भा १–२ (यशो. जै ग्र बनारस, नि. स २४३९)

१६७ जैन नित्यपाठ सग्रह—जिनसहस्त्रनाम, भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव विषापहार आदि स्तोत्रो स (निर्णय सा बम्बई, १९२५)

१६८ उपसर्गहर स्तोत्र (भद्रबाहु) पार्श्वदेव, जिनप्रभ, सिद्धिचन्द्र, हर्षकीर्ति टीकाओ स (दे ला बम्बई न ८०–८१ १९३२) पूर्णचन्द्र टीका स (शारदा ग्र मा भावनगर, १९२१, जैन स्तोत्र सग्रह के अन्तर्गत)

१६९ ऋषभपञ्जाशिका (धनपाल) –स व गुज टीका स (जै ध प्र स भावनगर, कापडिया द्वारा सम्पा दे भा बम्बई)

१७० अजित-शान्तिस्तव (नन्दिषेण) गोविन्द और जिनप्रभ टीकाओ स (दे ला बम्बई)

१७१ जयतिहुयण स्तोत्र (अभयदेव) मुनिसुन्दर टीका स (फूलकुवरबाई रतलाम, अहमदाबाद, १८९०)

१७२ ऋषिमण्डल स्तोत्र (धर्मघोष)—अवचूरी स (जिनस्तोत्र स १ पृ २७३ सा भा नवाब, अहमदाबाद १९३२)

१७३ समवसरण स्तोत्र (धर्मघोष) जै ध प्र स भावनगर, १९१७)

१७४ स्वयभूस्तोत्र (समन्तभद्र) जु मुख्तार कृत प्रस्तावना व अनु स (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १९५१)

१७५ स्तुतिविद्या (समन्तभद्र) -वसुनन्दी टीका, जु मुख्तारकृत प्रस्तावना व प पन्नालाल कृत अनु स (वी से म सरसावा, १९५०)

१७६ सिद्धप्रिय स्तोत्र (देवनन्दि) निर्णय सागर, बम्बई १९२६ (काव्यमाला ७ पृ ३०)

१७७ भक्तामरस्तोत्र (मानतुङ्ग) –गुणाकर, मेघविजय व कनककुशल टीकाओ स (दे ला बम्बई, १९३२)

१७८ भयहरस्तवन (मानतुङ्ग) अवचूरि स (दे ला बम्बई, १९३२)

१७९ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (कुमुदचन्द्र) कनककुशल व माणिक्यचन्द्र टीकाओ स (दे ला बम्बई, १९३२) चन्द्रकीर्ति टाका, बनारसीदास व गिरिधर शर्मा के पद्यानुवाद व प पन्नालाल गद्यानु. सं. (सन्मति कुटीर चन्दावाडी, बम्बई, १९५९)

१८० विषापहार स्तोत्र (धनञ्जय)–चन्द्रकीर्ति टीका, नाथूराम प्रेमी कृत पद्यानुवाद व प पन्नालाल कृत गद्यानुवाद स (सन्मति कुटीर चदावाडी, बम्बई १९५६)

१८१ *एकीभावस्तोत्र (वादिराज्य)–चन्द्रकीर्ति टीका व परमानन्द शास्त्री कृत* अनु स (वीरसेवा म, सरसावा, १९४०)

१८२ जिनचतुर्विशतिका (भूपाल) –आशाधर टीका, भूधरदास व धन्यकुमार कृत पद्यानु व प पन्नालाल कृत गद्यानु स (सन्मति कुटीर, चदा-वाडी, बम्बई, १९५८)

१८३ सरस्वती स्तोत्र (वप्पभट्टि) आगमो स बम्बई, १९२६, (चतुर्विंशिका पृ २९४)

१८४ वीतराग स्तोत्र (हेमचन्द्र)–प्रभानद और सोमोदय गणि, टीकाओ स (दे ला बम्बई, १९११)

१८५ यमकमय चतुर्विशति जिनस्तुति (जिनप्रभ) – भीमसी माणक, बम्बई, प्रकरण रत्नाकर–४

१८६ जिनस्तोत्ररत्नकोश (मुनिसुन्दर) – यशो. बनारस १९०६

१८७ साधारण जिनस्तवन (कुमारपाल) – बम्बई, १९३६ (सोमतिलक) आगमो बम्बई, १९२९

१८८ नेमिभक्तामर स्तोत्र (भावरत्न) आगमो बम्बई, १९२६

१८९ सरस्वती भक्तामरस्तोत्र (धर्मसिंह) आगमो बम्बई, १९२७

प्रथमानुयोग प्राकृत

१९० पउमचरिय (विमलसूरि) –मूलमात्र याकोबी सम्पा (जै ध प्र स भावनगर, १९१४)

१९१ चउपन्नमहापुरिसचरिय (शीलाङ्क)-प्राकृत ग्रथ परिषद्, वाराणसी, १९६१)

१९२ पासनाहचरिय, (गुणचन्द्र) अहमदाबाद, १९४५, गुज अनु आत्मा. भावनगर, स २००५

१९३ सुपासनाहचरिय (लक्ष्मण गणि) –प हरगो सेठ सम्पा (जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला बनारस, १९१९)

९४ महावीरचरिय (गुणचन्द्र) दे ला बम्बई, १९२९, गुज अनु आत्मा स १९९४)

१९५ महावीरचरित (नेमिचन्द्र–देवेन्द्रगणि) जैन आत्मा. भावनगर स १९७३

१९६ *तरङ्गलोला –(नेमिविज्ञान ग्र स २०००)* गुज अनु (पालीताना, स १९८९)

१९७ धूर्ताख्यान (हरिभद्र) डॉ उपाध्ये कृत अ प्रस्तावना स (भारतीय वि भ. बम्बई, १९४४)

१९८ धर्मपरीक्षा (अमितगति) हि अनु स (जैन ग र बम्बई, १९०१)

१९९ सुरसुन्दरी चरिअ (धनेश्वर)—हरगो सेठ बनारस, १९१६

२०० णाणपचमीकहा (महेश्वर)अ गोपनीकृत अ प्रस्ता स (सिंघी जै ग्र बम्बई, १९४९)

२०१ कुमारपालचरित (हेमचद्र) डॉ प ल वैद्य कृत अ. प्रस्ता स (भडारकर ओ, पूना, १९३६)

२०२ महीवाल कथा (वीरदेव) —अहमदाबाद, स १९९८

२०३ सुदसणाचरिय-शकुनिका विहार (देवेन्द्र) आत्मवल्लभ ग्र वलाद, अहमदावाद, १९३२

२०४ कृष्णचरित (देवेन्द्र) रतनपुर, १९३८

२०५ श्रीपालचरित (रत्नशेखर)दे ला बम्बई, १९२३) भा १-वाडीलाल जीवाभाई चौकसी कृत अ अनु भूमिकादि स. अहमदावाद, १९३२)

२०६ कुम्मापुत्तचरिय (जिनमाणिक्य) डॉ प ल वैद्य की अ भूमिका स पूना १९३० अभ्यकर सम्पा अहमदाबाद, १९३२

२०७ वसुदेव हिंडी (सघदास-धर्मसेन) प्रथम खण्ड जै आत्मा सभा भावनगर, १९३०

२०८ समरादित्यकथा (हरिभद्र)—याकोबी की अ प्रस्ता) स (बिब इडिका कलकत्ता, १९२६) भव १, २, ६ म मोदी के अ अनु भूमिका स (अहमदाबाद १९३३, ३६) भव २ गोरेकृत अ भू अनु स (पूना, १९५५)

२०९ कुवलयमाला (उद्योतन) डॉ उपाध्ये द्वारा पाठान्तर स (सिंघी ग्र बम्बई, १९५९)

२१० रयणचूडरायचरिय (देवेन्द्र) —प मणिविजय ग्र अहमदाबाद, १९४९

२११ कालकाचार्यकथा —प्रो एन डब्ल्यू ब्राउन कृत स्टोरी ऑफ कालक के अन्तर्गत (वाशिंगटन, १९३३) सस्कृत (दे ला बम्बई, १९१४ कल्पसूत्र के अन्त मे) प्रभावक चरित का स पाठ (निर्णय सा बबई) पृ ३६-४६ कथा सग्रह (३० कथाए) अ प्रे शाह अहमदावाद, १९४९

२१२ जिनदत्ताख्यान (सुमति) दो आख्यान (सिंघी बम्बई, १९५३)

२१३ रयणसेहरीकहा (जिनहर्ष) जै आत्मा बम्बई, स १९७४

२१४ जम्बूचरिय—सिंघी जै ग्र बम्बई, १९६०

२१५ णरविक्कमचरिय (गुणचन्द्र) —नेमिविज्ञान ग्र स २००८

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाए (हीरालाल हन्स-राज, जामनगर स १९३४) ऋषभदेवजी केशरीमल सस्था इन्दौर, १९३६)

२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) –मुनिचन्द्र टीका स जैनधर्म प्र व, पालीताना, १९०९, मक्तिकमल जै मो बडौदा, १९२३-२५)

२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) –सिंघी बम्बई, १९४९

२१९ शीलापदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स (हीरालाल हन्सराज, जामनगर १९०९)

२२० आख्यानमणिकोश (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)

२२१ भवभावना (मल-हेमचन्द्र) सोपज्ञ वृत्ति स ऋषभदेव के. जै श्वे सस्था, रतलाम, स १९९२

२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) गा ओ. सी बडौदा, १९२०, गुज अनु आत्मासभा, स १९८३, डॉ आल्सडर्फ कृत अपभ्र श सकलन जर्मन प्रस्ता अनु स हेमवर्ग, १९२८

२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) –पन्यास मणिवि ग्र अहमदावाद, स २००६

२२४ कथारत्नकोप (गुणचन्द्र) –जैनआत्मा. ग्र भावनगर, १९४४

२२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै. ध. प्र स भावनगर, १९०६, गुज अनुवाद वही स १९६२

२२६ सवेगरगशाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, वम्वई १९२४

२२७ विवेकमजरी (आसाढ) –वालचन्द्र टीका स. विविध सा शा मा वना-रस, स १९७५

२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै ध वि प्र. वर्ग, पालीताना. स १९६४, दे. ला वम्वई, १९२२

२२९ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स ही ह. जामनगर, १९१६

२३० वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै ध प्र सभा भावनगर, बालाभाई छगन-लाल, अहमदावाद, स. १९६०

प्रथमानुयोग अपभ्रंश :

२३१ पउमचरिय (स्वयंभू) भाग १-३ ह. चू भायाणी कृत प्रस्ता स. (सिंघी भा. वि भ. वम्वई, १९५३, १९६०) देवेन्द्रकुमार कृत हि अनु स॰ १–५६ सधि भा १–३ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७–५८

२३२ महापुराण (पुष्पदन्त) भा १–३ डॉ प ल वैद्य सम्पा (मा दि ग्र वम्बई १९३७-४७), परि ८१–९२ हरिवशपुराण डॉ आल्सडर्फ कृत जर्मन प्रस्ता अनु स हेमवर्ग, १९३६

२३३ सनत्कुमार चरित (हरिभद्र) याकोवी सम्पा मु चेन, जर्मनी, १९२१

२३४ पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) प्राकृत टैक्स्ट सोसा मुद्रणाधीन)

२३५ जसहरचरिउ (पुष्पदन्त) प ल वैद्य सम्पा (कारजा सीरीज, १९३१)

२३६ णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त) ही ला जैन सम्पा (कारजा सीरीज १९३२)

२३७ भविसयत्तकहा (धनपाल) याकोवी सम्पा जर्मनी १९१८, दलाल व देसाई सम्पा गा ओ सी वडौदा, १९२३

२३८ करकडचरिउ (कनकामर) ही ला जैन सम्पा (कारजा सी १९१४)

२३९ पउमसिरिचरिउ (धाहिल) मोदी और भायाणी सम्पा सिंघी भारतीय वि भ वम्वई, स २००५

२४० सुगधदशमीकथा (वालचन्द्र) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (मुद्रणाधीन)

प्रथमानुयोग सस्कृत

२४१ पद्मचरित (रविषेण) –मूलमात्र भाग १-३ (मा दि जै ग्र वम्बई, स १९८५) हि अनु स भा १–३ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८-५९)

२४२ हरिवशपुराण (जिनसेन) मूलमात्र भा १-२ (भा दि जै ग्र वम्बई,) हि अनु स (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२)

२४३ पाण्डवपुराण (शुभचन्द्र) हि अनु स (जीवराज जै ग्रन्थ शोलापुर १९५४) घनश्यामदास कृत हि अनु स (जैन सा प्र कार्या, वम्वई, १९१९, जिनवाणी प्र का, कलकत्ता १९३९)

२४४ पाण्डवचरित्र (देवप्रभ) निर्णय सागर, वम्वई, १९११

२४५ महापुराण (जिनसेन गुणभद्र) स्याद्वाद ग्रथमाला, इन्दौर स १९७३-७५ हि अनु स (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भा १–३ १९५१–५४)

२४६ त्रिषष्ठिशलाका पु च (हेमचन्द्र) जै ध प्र स भावनगर, १९०६-१३, पर्व १ का अ अनु जानसन कृत गा ओ सी वडौदा १९३१, पर्व २१–परिशिष्ट पर्व याकोवी सम्पा विव इ कलकत्ता, १८९१ द्वि स १९३२

२४७ त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र (आशाधर) मराठी अनु स मा दि जै ग्रन्थ वम्बई १९३७

२४८ चतुर्विशति जिनचरित या पद्मानन्द काव्य (अमरचन्द्र) –गा ओ सी वडौदा १९३२

२४९ वालभारत (अमरचन्द्र) निर्णयसागर, वम्वई, १८९४, १९२६)

२५० पुराणसार सग्रह (दामनन्दि) –हि अनु स (भा ज्ञा काशी भा १-२, १९५४-५५)

२५१ चन्द्रप्रभचरित्र (वीरनन्दि) नि सा वम्वई १९१२, १९२६

२५२ वासुपूज्यचरित्र (वर्धमान) जै ध प्र स भावनगर, स १९६६) हीरालाल हन्सराज जामनगर, १९२८–३०

२५३ धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) नि सा वम्वई, १८८८

२५४ शान्तिनाथ चरित (अजितप्रभ) जै ध प्र स भावनगर, स १९७३

२५५ शान्तिनाथ पुराण (सकलकीर्ति) हि अनु जिनवाणी प्र कलकत्ता, १९३९ दुलाचन्द पन्नालाल देवरी, १९२३

२५६ मल्लिनाथ चरित्र (विनयचन्द्र) यशो जै ग्र भावनगर, नि स २४३८

२५७ नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट) नि सा वम्वई, १८९६

२५८ नेमिदूत काव्य (विक्रम) नि सा वम्वई, काव्यमाला न २

२५९ पार्श्वाभ्युदय (जिनसेन) –योगिराज टीका स नि सा वम्वई १९०९, इसमे ग्रथित मेघदूत, पाठक कृत अ अनु स पूना, १८९४, १९१६

२६० पार्श्वनाथ चरित्र (वादिराज) –मा दि जै ग्र वम्वई, १९१६, हि अ प श्रीलाल कृत, जयचन्द्र जैन, कलकत्ता १९२२

२६१ पार्श्वनाथ चरित्र (भावदेव) –य जै ग्र बनारस, १९१२ अ भावार्थ ब्लूमफील्ड कृत वाल्टीमोर, १९१९

२६२ वर्धमान (महावीर) चरित्र (असग) प खूबचन्द्र कृत हि अनु स (मूलचन्द) किसनदास कापडिया, सूरत, १९१८, मराठी अनु स शोलापुर, १९३१

२६३ यशास्तिलकचम्पू (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स, नि सा वम्वई १९०१

२६४ यशोधर चरित्र (वादिराज) सरस्वती विलास सी तजोर, १९१२ हि अनु उदयलाल कृत, हिन्दी जै सा प्रसा कार्या वम्वई १९१४

२६५ जीवधर चम्पू (हरिचन्द्र) सर वि तजोर १९०५ हि अनु स भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८

२६६ गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) टी एस कुप्पूस्वामी शास्त्री सम्पा नाटेसन क, मद्रास, १९०२

२६७ क्षत्रचूडामणि (वादीभसिंह) स वि तजोर, १९०३ हि अनु स जै ग्र र कार्या वम्वई १९१०, सरल प्रज्ञा पुस्तकमाला, मडावरा, पूर्वार्ध. १९३२ उत्तरार्ध १९४०

२९२ चम्पकश्रेष्ठिकथानक (जिनकीर्ति) हर्टलकृत अ व जर्मन अनु स. लीपजिग १६२२
२६३ पालगोपाल कथानक (जिनकीर्ति) हर्टल, लीपजिग १६१७
२६४ मलयसुन्दरी कथा (माणिक्यसुन्दर) वम्बई, १६१८
२६५ पापबुद्धिधर्मबुद्धि कथा (कामघटकथा) ही ह जामनगर १६०६
२६६ शत्रुञ्यमाहात्म्य (धनेश्वर) ही ह जामनगर, १६०८
२६७ प्रभावकचरित्र (प्रभाचन्द्र) नि सा वम्बई, १६०६
२६८ प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग) सिंघी जै सी शान्तिनिकेतन, १६३३, टानीकृत अ अनु विब इ डी कलकत्ता, १८६६-१६०१ गुज अनु स रामचन्द्र दीनानाथ, वम्बई, १८८८
२६६ प्रवन्धकोश (राजशेखर) सिंघी जै सी शान्तिनिकेतन, १६३५, ही ह जामनगर १६१३, हेमचन्द्र सभा पाटन, १६२१
३०० वृहत्कथाकोश (हरिषेण) डॉ उपाध्ये कृत अ प्रस्ता स भारतीय विद्याभवन वम्बई, १६४३
३०१ धर्मपरीक्षा (अमितगति) –हि अनु स जै ग्र र वम्बई, १६०८ जी सि प्र कलकत्ता, १६०८
३०२ आराधना कथाकोष (नेमिदत्त) (हि अनु स) जै हीरावाग, वम्बई, १६१५
३०३ अन्तरकथासग्रह (राजशेखर) वम्बई १६७८ गुज अनु जै ध प्र स भावनगर स १६७८ इटेलियन अनु ७–१४ कथाओ का, वेनेजिया, १८८८
३०४ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति (कथाकोश-शुभशील) दे ला वम्बई १६३२ गुज अनु मगनलाल हाथीसिंह, अहमदावाद १६०६
३०५ दानकल्पद्रुम (जिनकीर्ति) दे ला वम्बई १६०६
३०६ धर्मकल्पद्रुम (उदयधर्म) दे ला वम्बई, स १६७३
३०७ सम्यक्त्वकौमुदी (जिनहर्ष) जै आ स भावनगर, स १६७०
३०८ कथारत्नाकर (हेमविजय) ही ह जामनगर, १६११ हर्टल कृत जर्मन अनु मुनचेन, १६२०

सस्कृत नाटक

३०६ निर्भयभीमव्यायोग (रामचन्द्र) यशो जै ग्र न. १६ भावनगर
३१० नलविलास (रामचन्द्र) गा ओ सी वडोदा, १६२६
३११ कौमुदी नाटक (रामचन्द्र) जै आ स न ५६, भावनगर स. १६७३

३१२ विक्रान्त कौरव (हस्तिमल्ल) मा दि जै वम्वई, स १९७२
३१३ मैथिली कल्याण मा दि जै बम्बई, १९७३
३१४ अञ्जनापवनञ्जय (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत अ प्रस्ता बम्बई, स २००६
३१५ सुभद्रा (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत अ प्रस्ता स स २००६
३१६ प्रबुद्ध रौहिणेय (रामभद्र) जै आ स न ५०, भावनगर, १९१७
३१७ मोहराज पराजय (यश पाल) दलाल कृत अ प्रस्ता स गा ओ बडोदा, १९१८
३१८ हम्मीरमदमर्दन (जयसिंह) गा ओ सी न १०, वडौदा, १९२०
(नयचन्द्र) वम्वई, १८७९
३१९ मुद्रित कुमुदचन्द्र (यशश्चन्द्र) यशो जे ग्र न ८ बनरस १९०५
३२० धर्माभ्युदय-छाया नाट्य प्रबध (मेघप्रभ) जै आ स भावनगर १९१८
३२१ करुणवज्रायुध (वालचन्द्र) जै आ स भावनगर, १९१६, गुज अनु अहमदावाद १८८६

व्याकरण

३२२ प्राकृतलक्षण (चण्ड) हार्नले सम्पा बिव इडी कलकत्ता, १८८३
३२३ प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र) प ल वैद्य सम्पा मोतीलाल लाढजी, पूना, १९२८, पिशेल कृत जर्मन अनु स हल्ले, १८७७-८० ढूढिका टीका स भावनगर स १९६०
३२४ प्राकृत व्याकरण (त्रिविक्रम) प ल वैद्य सम्पा जैन स स स शोलापुर १९५४
३२५ जैनेन्द्रव्याकरण (देवनन्दि) अभयनन्दि टीका स भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५६ सनातन जै ग्र बनारस, १९१५
३२६ जैनेन्द्र प्रक्रिया (गुणनन्दि) सनातन जै ग्र बनारस, १९१४
३२७ शब्दानुशासन (शाकटायन) अभयचन्द्र टीका स जेठाराम मुकुन्दजी बबई, १९०७
३२८ कातत्र व्या सूत्र (सर्ववर्मा) रूपमालावृत्ति स हीराचन्द्र नेमिचन्द बम्बई, स १९५२ बिहारीलाल कठनेरा बम्बई, १९२७
३२९ शब्दानुशासन (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञलघु वृति स यशो जै. ग्र बनारस १९०५, स्वोपज्ञ वृत्ति और न्यास तथा कनकप्रभ न्यायसारमुद्धार स राज नगर विजयनेभिसूरि ग्र ३३ व ५०, जैन ग्र प्रका सभा, नि स २४७७, २४८३

छन्द

३३० गाथालक्षण (नन्दिनाढ्य छन्द सूत्र)वेलणकर सम्पा भ ओ. रि इ एनल्स १४ १-२, पृ १ आदि, पूना १९३३
३३१ स्वयभूछन्दस् (स्वयभू) १-३ वेलणकर सम्पा बम्बई, रा ए सो जर्नल १९३५ ४-८ वम्बई, यूनि जर्नल, नव १९३६
३३२ कविदर्पण—वेलणकर सम्पा भ ओ रि इ जर्नल पूना, १९३५
३३३ छन्द कोश (रत्नशेखर) वेलणकर सम्पा वम्बई यूनी ज १९१२
३३४ छन्दोनुशासन (हेमचन्द्र) देवकरन मूलजी, वम्बई १९१२
३३५ रत्नमञ्जूषा (छन्दोविचिति) सभाप्य वेलणकर सम्पा भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९४९

कोश

३३६ पाइयलच्छीनाममाला (धनपाल) भावनगर स १९७३
३३७ देशीनाममाला (हेमचन्द्र) पिशेल और ब्हूलर सम्पा वम्बई स सी १८८०, मु वनर्जी सम्पा कलकत्ता, १९३१
३३८ नाममाला व अनेकार्थनिघण्टु (धनञ्जय) अमरकीर्ति भाष्य स भारतीय ज्ञा काशी, १९५०
३३९ अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र स्वोपज्ञ टीका स यशो० जै ग्र ४१-४२ भावनगर नि सा २४४१, २४४६ मूलमात्र, जसवन्तलाल गिरधरलाल शाह, अहमदावाद स २०१३

व्याख्यान ३
जैन दर्शन

•340 The Heart of Jainism by S Sinclair (Ox Uni Press, 1915)

•341 Outlines of Jainism—J L Jaini (Cambridge, 1916)

342 Der Jainismus, by H Glasenapp (Berlin, 1926) (Gujrati Translation—Bhavnagar, 1940)

343 Doctrine of Karma in Jaina Philosophy, by H Glassenapp Bombay, 1942)

•344 Jaina Philosophy of Non-Absolutism by S Mookerjee (Calcutta 1944)

•345 Studies in Jaina Philosophy, by N Tatia (Benaras 1951).

•346 Outlines of Jaina Philosophy, by M L Mehta (Jaina Mission Society, Bangalore, 1954)

347 Jaina Psychology, by M L Mehta (S J P Samiti Amritsar, 1955)

•348 Some Problems in Jaina Psychology, by T G Kalghatgi (Karnataka University Dharwar 1961)

•349 Jaina Philosophy and Modern Science, by Nagraj (Kanpur, 1959)

Chapters on Jainism from the following works (350-353)

350 History of Indian Philosophy, by Dasgupta,
351 Indian Philosophy, by Radhakrishnan
•352 Outlines of Indian Philosophy, by M Hirayanna
•353 Encyclopaedia of Religion and Ethics
•354 Jaina Monistic Jurisprudence—S B Deo (Poona 1956).
355 Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, by Sukhlalji Singhvi (Calcutta, 1961)

३५६ जैन धर्म —कैलाशचन्द्र शास्त्री (मथुरा, भा दि जैन सघ, नि स २४७५)

३५७ जैन दर्शन —महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (काशी १९५५ २४७५)

३५८ जैन शासन—सुमेरुचन्द्र दिवाकर (काशी १९५०)

३५९ जैन दर्शन —न्याय विजय (पाटन गुजराती १९५२, हिन्दी १९५६)

३६० दर्शन अने चिन्तन (गुज) सुखलाल (गु वि अहमदाबाद १९५७)

३६१ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी) सुखलाल (गु वि अहमदाबाद १९५७)

३६२ भारतीय तत्वविद्या —सुखलाल (ज्ञानोदय ट्रस्ट अहमदाबाद १९६०)

व्याख्यान ४

जैन कला

363 Origin and Early History of Caityas V R R Dikshitar (Ind Hist Q XIV 1938)

364 Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura V Smith (Allahabad, 1901)

365 Mohenjodaro and the Indus Valley Civilization, Vol I-III, J Marshall (London, 1931)

366 Note on Pre-Historic Antiquities, from Mohenjodaro—R P Chanda (Modern Review, 1924)-

367 History of Fine Art in India and Ceylon—V Smith (Oxford, 1930)

368 Indian Architecture--Percy Brown (Bombay)

369 Paharpur Copperplate Grant of Gupta Year 159 (Ep Ind XX p 61 ff)

370 Yakshas—Part III—A K Coomarswamy (Washington, 1928-31)

371 Yaksha Worship in Early Jain Literature--U P Shah (J O Instt III 1953),

372 Muni Vairadeva of Sona Bhandnr Cave Inscription—U. P Shah (J Bihar R S Patna, 1953)

373 Studies in Jaina Art --U P Shah (J C S Banaras, 1955)

374 History of Indian and Eastern Architecture–J Fergusson (London, 1910)

375 Jaina Temples from Devagadh Fort — H D Sankalia (J I S O A IX 1951)

376 Khandagiri — Udayagiri—Caves —T N Ramchandran & Chhotclal Jain (Calcutta, 1951)

377 The Mancapuri Cave — T N Ramchandran (I H Q XXVII, 1951)

378 Holy Abu—Jaina Vijay (Bhavnagar, 1954).

379 A Guide to Rajgir —Kuraishi & Ghose (Delhi, 1939)

380 Archaeology in Gwalior State — M B Garde (Gwaliar, 1934)

381 Cave Temples of India — Fergusson & Burgess (London, 1880)

382 List of Antiquarian Remains in the Central Provinces & Berar — H. Cousens (Arch S I XIX, 1897)

383 Architectural Antiquities of Western India—H Cousens (London, 1926)

384 Somnath and other Mediaeval Temples in Kathiawad—H Cousens (A S of Ind XLX, 1931)

385 Antiquities of Kathiawad and Kachh —J Burgess (A S of Ind II, 1876)

386 Architectural Antiquities of Northern Gujrat — Burgess Cousens (A S of Western India, IX 1903)

*387 Indian Sculpture — Stella Kramrisch (Calcutta, 1933)

*388 Development of Hindu Iconography — J N Banerjee (Calcutta, 1941)

*389 Jaina Iconography—B C Bhattacharya (Lahore, 1930)

*390 Jaina Images of The Mauryan Period — K P Jayaswal (J B O R S XXIII, 1937)

391 Specimens of Jaina Sculpture from Mathura—G Buhler (Ep Ind II, 1894)

392 An Early Bronze of Parshwanath in the Prince of Wales Museum —U P Shah (Bulletin of P.W M Bombay 1954)

*393 Age of Differentiation of Svetambara and Digambara Images and a few Early Bronzes from Akota— U P Shah (Bulletin P W M Bombay, 1951)

394 The Earliest Jain Sculptures in Kathiawad—H D Sankalia (J R A S, London, 1938)

*395 Iconography of the Jaina Goddess Saraswati—U P Shah (J U of Bombay, X 1941)

396 Iconography of the Jaina Goddess Ambika—U P Shah (J U of Bombay, 1940)

397 A Note on Akota Hoard of Jaina Bronzes —U P Shah (Baroda Through Ages, App, IV, p 97 ff)

*398 Catalogue of Jaina Paintings and Manuscripts—A K Coomarswamy (Boston, 1924)

399 Jaina Miniature Paintings from Western India — Motichandra (Ahmedab, 1914)

400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W N Brown (Washington, 1934)

401 Conqueror's Life in Jaina Paintings — A.K Coomarswamy(J I S of Or Art, III, 1935)

402 The Story of Kalaka—W N Brown (Washington, 1933)

४०३ तीर्थराज आबू (गुज.) जिनविजय (भावनगर १९५४)

४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम – न साराभाई (अहमदाबाद १९३६)

४०५ जैसलमेर चित्रावली –पुण्य विजय (अहमदाबाद, १९५१)

शब्द-सूची

सूचना—यहाँ नामो और पारिभाषिक शब्दो का सकलन किया गया है ।

माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–५२

जैन शिलालेख संग्रह

[भाग पांच]

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ